दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045

वर्ष : 10 **अंक** : 4 ❑ जुलाई–अगस्त, 2018

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड
डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन
डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो
डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग
डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची
डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका
डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना
डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा
डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्क:
448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091
फोन : 011–22753916
e-mail : editorialindia@yahoo.com; editorialindia@gmail.com; delhijournals@gmail.com
©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

ISSN 0975-119X

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

नरेंद्र मोदी सरकार ने विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) से कहा है कि, वह डब्ल्यूटीओ में व्यापार सुविधा समझौते (टीएफए) की पुष्टि तब तक नहीं करेगी जब तक खाद्य सुरक्षा पर उसकी चिंताओं का समाधान नहीं हो जाता। भारत ने डब्ल्यूटीओ को स्पष्ट कर दिया है कि षनियमों में महज विसंगति की वेदी पर लाखों लोगों की खाद्य सुरक्षा को खघ्तरे में डालना अस्वीकार्य है। सरकार के इस रुख से अमेरिका और भारत के बीच एक असहज स्थिति पैदा हो गई है। इस पूरे मुद्दे पर सरकार की चिंता को समझने और उनकी सराहना करने के लिए हमें इस मुद्दे के इतिहास को देखना होगा। डब्ल्यूटीओ में खाद्य सुरक्षा चिंताओं का पूरा मुद्दा विकसित देशों ने भारत द्वारा खाद्य उत्पादन के कुल मूल्य की 10 प्रतिशत की सीमा सीमा से अधिक का मुद्दा उठाने के साथ हुआ, जिसे सब्सिडी के रूप में दिया जा सकता है।

भारत द्वारा खाद्य सुरक्षा कानून पारित करने के बाद इस मामले को महत्व मिला, जिससे लगभग 67 प्रतिशत आबादी को गेहूं के लिए 3 रुपये प्रति किलोग्राम और चावल के लिए 2 रुपये प्रति किलोग्राम की न्यूनतम कीमत पर खाद्यान्न की व्यवस्था सुनिश्चित की गई। तथ्य यह है कि भारत ने कभी भी 10 प्रतिशत की सीमा सीमा से अधिक नहीं किया है, और न ही खाद्य सुरक्षा अधिनियम के पूर्ण कार्यान्वयन के बाद भी इस सीमा से अधिक होने की उम्मीद है। यह मुद्दा इसलिए पैदा हुआ है कि डब्ल्यूटीओ ने वर्तमान खाद्यानों की कीमत 1986-88 में प्रचलित कीमतों पर आधार पर आंकी है, जिस समय डब्ल्यूटीओ समझौते पर हस्ताक्षर किये गए थे। इसका मतलब यह होगा कि अगर सरकार आज 1400 रुपये प्रति क्विंटल का समर्थन मूल्य देती है और 1986 और 1988 के बीच समर्थन मूल्य 380 रुपये प्रति क्विंटल था तो सब्सिडी वाले हिस्से की गणना 1020 रुपये के रूप में की जाएगी, जो बेहद अनुचित है।

यदि यही नियम जारी रहता है तो कुल उत्पादन की 10 प्रतिशत की सीमा सीमा में वृद्धि होना स्वाभाविक है। डब्ल्यूटीओ में भारतीय पक्ष जो चाहता है वह इस नियम में यह सरल सुधार है कि इस विसंगति को सुधारा जाए और आधार वर्ष में संशोधन किया जाए । डब्ल्यूटीओ के 9वें मंत्रिस्तरीय सम्मेलन के अवसर पर इंडोनेशिया के बाली में 5 दिसंबर, 2013 को एक संवाददाता सम्मेलन को संबोधित करते हुए वाणिज्य मंत्री ने कहा था- "मैं यह बिल्कुल स्पष्ट करना चाहूंगा कि हम यहां भीख मांगने के लिए याचिकाकर्ताओं के रूप में नहीं आए हैं। वर्तमान 1983 से 1988 कीमतों को स्वीकार करना राष्ट्रहित में नहीं है। हमारा यह एक मूलभूत मुद्दा है, जिस पर हम कभी समझौता नहीं करेंगे।" इंडोनेशिया के बाली में डब्ल्यूटीओ के नौवें मंत्रिस्तरीय सम्मेलन में इस सम्मेलन को एक दिन और बढ़ाने के बाद हुए समझौते में कहा गया है कि, "अंतरिम में, जब तक स्थायी समाधान नहीं मिल जाता, तब तक निर्णय की तारीख के रूप में मौजूद खाद्य सुरक्षा प्रयोजनों के लिए सार्वजनिक स्टॉकहोल्डिंग कार्यक्रमों के अनुसरण में पारंपरिक मुख्य खाद्य फसलों के लिए प्रदान की गई सहायता के संबंध में कृषि समझौते (एओए) के अनुच्छेद 6.3 और 7.2 (ख) के तहत अपने दायित्व पूरे किये जाएँ।

दृष्टिकोण

अमेरिका के भारत के पक्ष में आ जाने के बाद अब स्थधितियां तेजी से बदल रही हैं। विश्व व्यापार संगठन में व्यापार सुविधा समझौते (टीएफए) को लागू करने का रास्ता साफ हो गया है। लेकिन इस शर्त पर कि भारत की खाद्य सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण पीस क्लॉज को तब तक जारी रखा जाएगा जब तक इस दिशा में स्थायी समाधान नहीं मिल जाता। हमारे लिए अच्छा यह है कि इसके लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है। बदली हुई परिस्थिधतियों में पीस क्लॉज के के अंतर्गत खाद्य सब्सिडी की सीमा पार कर जाने पर भी डब्ल्यूटीओ के सदस्य को जुर्माने से छुटकारा मिलेगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि फिलहाल भारत पर दस फीसद की मौजूदा सीमा लागू नहीं होगी। जबकि डब्ल्यूटीओ का बाली अनुबंध के अनुसार पीस क्लॉज 2017 तक लागू रह सकता था।

संपादक

इस अंक में

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में छोटानागपुर प्रमण्डल के आदिवासियों द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ 1857 के विद्रोह में योगदान: एक संक्षिप्त अवलोकन–डॉ० रवि शंकर 1

भारत में निगमित अभिशासन: विकास, चुनौतियाँ एवं सुझाव–डॉ० अमरनाथ पासवान; मनीष चन्द्रा 7

वर्तमान परिवेश में वृद्धजनों की समस्याएं: एक विश्लेषण–डॉ० कंचन; डॉ० सतीश चन्द्र जैसल 13

युवकों को स्वामी विवेकानन्द का सन्देश–डॉ० जय प्रकाश यादव 17

कन्या भ्रूण हत्या: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–डॉ० सतीश चन्द्र जैसल; डॉ० कंचन 21

भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकारों की भूमिका–डॉ० अमिय कुमार 24

भूदान-आन्दोलन का राजनीतिक यथार्थ: 'विश्रामपुर का संत'–डॉ० शिप्रा शर्मा 27

मिथिलेश्वर के उपन्यास 'माटी कहे कुम्हार से' में नारी संघर्ष–डॉ० बृजेन्द्र पाण्डेय 32

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में चंपारण सत्याग्रह की भूमिका–राकेश कुमार बैठा; मो. असलम 37

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों के सामाजिक आयाम की ऐतिहासिकता–डॉ० उदय कुमार पासवान 41

भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की समस्या–डॉ० चन्द्रशेखर आजाद 45

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा का प्रावधान–डॉ० आरती कुमारी सिंह 49

भारत में पंचायती राज और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण–आशुतोष सिंह जेलियाँग 54

भारतीय संविधान की विशेषताएँ–डॉ० अशोक कुमार 59

मातृ स्वास्थ्य में थायरॉयड की समस्या–डॉ० कुमारी सुनीता 67

भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ–डॉ० नमिता कुमारी 73

भारतीय दृष्टिकोण और प्रथम विश्वयुद्ध–डॉ० पूर्णनाथ कुमार 78

भारत में जनजातियों का भौगोलिक वितरण: एक अवलोकन–डॉ० राघवेन्द्र प्रसाद सिन्हा 84

बिहार का निर्माण एवं राष्ट्रवादी भावना का विकास–डॉ० राज भूषण उपाध्याय 89

भारत की परमाणु नीति–राजीव रंजन कुमार 95

समाजशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा और हिन्दी साहित्य–डॉ० संजय कुमार सिंह 100

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता–डॉ० संजय कुमार 104

राष्ट्रीय सुरक्षा और भारत–डॉ० श्रीनिवास पांडेय 109

भारत में प्रजातियों का वर्गीकरण विशेषत: बी० एस० गुहा के विचारों का अवलोकन–डॉ० विजय मिस्त्री 114

मानवाधिकार की अवधारणा-एक अध्ययन–डॉ० दिलीप कुमार 119

एक आदर्श शासक के रुप में मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम–डॉ० बिपिन दूबे 122

भारत के उत्तरपूर्वी राज्यों के अलगाववाद को कम करने में म्यांमार की भूमिका–डॉ० पप्पु कुमार 128

सूरदास की रचना में वात्सल्य–चन्द्रकान्त 134

सूर का भ्रमरगीत: एक उपालम्भ काव्य–लालबाबू 139
समावेशी विकाश में मनरेगा की भूमिका: गोपालगंज जिले के संदर्भ में–डॉ० नरेश कुमार 144
वित्तसहित तथा वित्तरहित डिग्री महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के कार्य-संतोष का तुलनात्मक अध्ययन –डॉ० बैरिस्टर यादव 148
शुक्रनीति एक संक्षिप्त अध्ययन–प्रो० जितेन्द्र कुमार द्विवेदी 151
स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता में सहसम्बन्ध का अध्ययन–सर्जुन कुमार; डॉ० आशाराम 155
बिहार में नक्सलवाद "एक चुनौती एवं समाधान"–डॉ० अंशु कुमार मल्लिक 166
महामारी के दौर में आत्मालोचन करती कविताएँ–शीतांशु 170
यूरेशियन समुदाय का पृथकीकरण और उनकी औपनिवेशिक समाज में परिस्थिति: अठारहवीं सती के अंत में ब्रिटिश नस्लवादी नीति के विशेष सन्दर्भ में–विवेक मोहन 174
जातिगत चेतना और दलित आंदोलन पर गांधी व अम्बेदकर के विचारों का मूल्यांकन–डॉ० राजकिशोर राम 178
अति-पिछड़ों और निजी क्षेत्र में आरक्षण का सवाल: एक अध्ययन–डॉ० गणेश सहनी 182
व्यापक और गहन होता हुआ भारतीय लोकतंत्र: एक अवलोकन–डॉ० मो० आले नबी 187
महात्मा गाँधी के 'अहिंसा'–डॉ० मधु सिंह 191
डॉ. भीमराव अम्बेडकर के हिन्दू कोड बिल का विश्लेषणात्मक अध्ययन–डॉ० शादाब नवाज 194
'स्वामी विवेकानंद का सामाजिक विचारधारा'–डॉ० मनोज कुमार सिंह 200
मनमोहन सहगल के उपन्यास 'समझौते से पहले' में राजनीतिक यथार्थ बोध–ब्रह्मलता 203
भारत में बाल अपराध की समस्या और सुझाव–माला मेश्राम; मनीष चन्द्रा 207
वाणिज्य प्रबन्धन और वस्त्र उद्योग: बौद्धसाहित्य के परिप्रेक्ष्य में–डॉ० अजय कुमार सिंह 213
स्वातंत्र्यवीर वि.दा. सावरकर का अन्दमान से किया क्रांतिकारी संगठन एवं हिंदी भाषा प्रचार एवं आदि कार्य –प्रा० एस.एस. माने 217
भारत में प्रशासनिक सुधार: ऐतिहासिक समीक्षा, चुनौतियाँ एवं सुधारात्मक मॉडल–दिनेश 221
भारतीय पुरातत्व एक परिचय–नवीन 230

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में छोटानागपुर प्रमण्डल के आदिवासियों द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ 1857 के विद्रोह में योगदान: एक संक्षिप्त अवलोकन

डॉ० रवि शंकर

जवाहर नवोदय विद्यालय, बेगुसराय

सामान्य सारांश

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में छोटानागपुर प्रमंडल के आदिवासियों द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ 1857 के विद्रोह में किये गए संघर्षों का एक अपना अलग हीं स्थान रहा है। छोटानागपुर प्रमंडल (बिहार अब झारखंड) का बरा हीं महत्व है जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता है। 1835 व 1919 का जंगल कानून किस तरह आफिवासियोंके जीवन को तहस-नहस कर के रख दिया यहविचार करने का विषय हैं। किस प्रकार जंगल कानून तथा आदिवासियों के जीवन में अनावश्यक कम्पनी शासन के छेर-छार ने निर्दोष आदिवसियों को अपने समाज, संस्कृति, राजनीतिक, आर्थिक तथा पूर्वजों के धन सम्पदा को बचाने के लिए उद्वेलित किया तथा उन्हें विद्रोह के लिए उठ खरे होने के लिए मजबूर किया। यद्यपि ये भोले-भाले आदिवासी सामाजिक, आर्थिक, राजनितिक रूप से पिछरे हुए थे। किन्तु, अपनी मातृभूमि को अंग्रेजी शासन से मुक्त करने की चाह उनके अन्दर कूट-कूटकर भरी हुई थी जो अंग्रेजी शासन के लिए कांटे की किलसिद्ध हुई, जो 1857 के आदिवासियों के विद्रोह का कारण बनी तथा सम्पूर्ण बिदेशी ताकत को अन्दर से हिला के रख दिया। प्रस्तुत लेख में छोटानागपुर परमंडल (झारखण्ड) के आदिवासियों द्वारा किया गए अतुलनीय कार्यों को दर्शाने का भरसक प्रयास किया गया है जिसे अभी तक किसी भी शोध पत्रिका में प्रकाशित नहीं किया गया। आदिवसियों द्वारा अपनी मातृभूमि को आजाद करने की चाहत था औपनिवेशिक शासन से मुक्ति ऐसे ज्वलंत मुद्दे थे जिसने उन्हें आगे बढ़ने तथा घोर आन्दोलन पे उतारू होने को विवश किया जिसकी चर्चा मुख्य रूप से यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

परिप्रेक्ष्य

जैसा की सर्वविदित है कि 1857 के विद्रोह में आदिवासियों द्वारा अंग्रेजी शासन से मुक्ति के लिए छोटानागपुरप्रमंडल (झारखण्ड) में किये गए आन्दोलन का भारतीय इतिहास में अपना अलग ही महत्व रहा है। आदिवासीयों द्वारा किये गए आन्दोलन को जानने के लिए हमें उनके जीवन का ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विश्लेषण करना आवश्यक है। यूं तो ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन से हीं प्रारम्भ होता है, भारत (मुख्यत: छोटानागपुर प्रमंडल का आदिवासी क्षेत्र) का आर्थिक दोहन जिसने कृषि तथा उद्योग को अपने फायेदे के लिए बर्बाद कर दिया तथा भारतीय श्रमिकोंका सामान्य जीवन छिन्न–भिन्न करके रख दिया। नये कृषि कानून दमनकारी प्रभाव के तहद सभी किसान तथा श्रमिक अपने-अपने जमीन से मालिकाना हक खो बैठे।

जमीन का भूराजस्व दर इतना बढा दिया गया कि आम आदमी उसे भुगतान करने में समर्थ नहीं था। अगर कोई भी व्यक्ति लगान देने में चूक जाता तो उसे अपने जमीन से मालिकाना हक खोना परता था इस तरह औपनिवेशिक शासन ने अपना बाजार तैयार करने तथा सामान बेचने के लिए भारतीय बाणिज्य व व्यापर को ध्वस्त करना शूरू कर दिया।

इतना ही नहीं अंग्रेजो ने भोले-भाले आदिवासियों को क्रिस्चन धर्म, भाषा तथा संस्कृति अपनाने के लिए मजबूर करना शुरू कर दिया ताकि औपनिवेशिक व्यापार का विस्तार किया जा सके। इस तरह की दखल अंदाजी भलाये आदिवासी कैसे और कब तक बर्दास्त कर पाते? यही वो ज्वाला थी जो 1857 के विद्रोह में आदिवासियों के रगों में परिलक्षित हुई। यद्यपि आदिवासियों के द्वारा शुरु किये गए 1857 का विद्रोह बरेही निर्ममता से कुचल दिया गयातथा 1858 में सम्पूर्ण भारत ब्रिटिश प्रशासन के अधीन सम्मिलितकर दिया गया और भारत का नाम 'ब्रिटिश भारत' रख दिया गया। परन्तु, आदिवासियों को अपनी मातृभूमि को आजाद करने की चाह और अंग्रेजोंको दूर देश भगाने की उत्कट अभिलाषा को कोई दबा नहीं पाया।

जहां तक 1857 के छोटानागपुर प्रमण्डल में विद्रोह का प्रश्न है तो हमें सर्वप्रथम वहाँके सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा आर्थिक स्वरूपों का अध्यन करना आवश्यक है। दक्षिणी बिहार का छोटानागपुर क्षेत्र जंगलों एवं पहरियों से भरा परा है। यह मूलत: आदिवासी बहुल क्षेत्र रहा है तथा सन् 2000 ई0 में इसे झारखण्ड के नाम से अलग राज्य बनाया गया है। यहाँ के जनजाति लोग सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक रूप से अन्य क्षेत्रों के लोगो से काफी भिन्नता रखते थे और इनकी आबादी बिहार की कुल अवादी का लगभग 7.66%थी। ये अवादी कृषि के अलावा आखेट कर या जंगल के उत्पादों की बिक्री से अपना जीवन यापन करते थे।

ऐतिहासिक तौर पे अविभाजित बिहार के इस जनजातीय क्षेत्र पर अंग्रेजों द्वारा 1793 ई0 में प्रथम बंगाल रेगुलेशन एक्ट के माध्यम से नियंत्रण स्थापित किया। सिर्फ दमिन"कोह के क्षेत्र को इससे अलग रखा गया। अंग्रेजों द्वारा यह व्यवस्था की गयी की इन आदिवासी क्षेत्रों के लगान में वृद्धि नहीं की जाएगी और कोई नविन पद्धतियों को इस क्षेत्र में लागू नहीं की जाएगी प्वहांप्रत्येक गाँवकेलिए एक पटवारी की व्यवस्था की गयीपसिर्फ रामगढ़ के जंगली महालों को इससे पृथक्क रखा गया और पूर्व की तरह उन्हें अपने समाज के प्रधानों के साथ समंध बनायेरखने का अधिकार प्रदान किया गया। लेकिन, 1835 ई0 के जंगल कानून के बाद जंगलों की बंदोबस्ती प्रारम्भ हुई और 1919 ई0 में समस्त जमीनी अधिकार सरकार के अधीन चला गया। इसप्रकार, जंगल और जंगल के उत्पादों का स्वेच्छापूर्वक उपयोग करने से ये आदिवासी वंचित हो गयेप्इसके अलावा समय-समय पर कई प्रकार के कानून बनाकर अंग्रेजों द्वारा उनपर नियंत्रण स्थापित किया गया।

इन आदिवासियों की सामाजिक संरचना अन्य क्षेत्रों की सामाजिक संरचना से भिन्न होती है। इनका परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संगठन होता है प्परिवार के ऊपर गाँव और कई गावों को मिलकर एक पाहन होता है। पाहनका एक प्रधान भी होता है। इस तरह उनके धार्मिक मान्यताएं, रीति-रिवाज, सांस्कृतिक पहचान आदि अन्यलोगों से भिन्न होता है, वल्कि बिभिन्न जनजातियों में भी अलग-अलग रूप में पाई जाती है।

जिस समय अंग्रेजों द्वारा इस क्षेत्र पर नियंत्रण किया गया, वहाँ सुदृढ़ प्रशासनिक व्यस्था का सर्वथा अभाव था। छोटानागपुर और रामगढ़ में राजतन्त्र कायम था। इन राजाओं का भी इन क्षेत्र के लोगों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं था। इस तरह ये आदिवासी न सिर्फ राजनीतिक दृष्टि से वल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक या अन्य दृष्टियों से भी स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते थे। प्रारंभ से भी सिर्फ पूर्वजों या प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थेपकिन्तु, हिन्दू धर्म के प्रभाव के अंतर्गत वे ईश्वर एवं अन्य देवी देवताओं की पूजा करने लगे। इसीतरह, इनकी शैक्षनिक मान्यताएं भी सामान्यमान्यता से भिन्न है।

जनजातियों में शिक्षा का मूल उद्देश्य नविन पीढ़ी को सामाजिक जीवन एवं व्यवहारों से अवगत करना था ताकि वे सामुदायिक जीवन में अपना योगदान दे सके।

आदिवासियों का मुख्य पेशा कृषि रहा है और ये जंगलों को साफ कर उस पर खेती करते थे। ऐसे आदिवासी जो पहली बार जंगल साफ कर खेती प्रारम्भ करते थे मुइंहर कहलाते थे। उस भूमि पर उनका नियंत्रण माना जाता था और वंशानुगत आधार पर उनका उत्तराधिकार कायम रहता था। जब अंग्रेजो का नियंत्रण बिहार और बंगाल पर हुआ तो उन्होंने इस आदिवासी बहुल क्षेत्र पर हीं धीरे-धीरे अपना नियंत्रण स्थापित करना प्रारंभ कर दिया। उन क्षेत्रों पर राजा का नियंत्रण नाम मात्र के बराबर था जिसे अंग्रेज प्रशासनिक दृष्टि से सही नहीं मानते थे। अत: इस क्षेत्र पे न सिर्फ भूमि की लगानबढ़ानी प्रारंभ की गयी, बल्कि कई प्रकार के नए कर लगाये गए जिससे कंपनी शासन को कालांतरमें काफी लाभ प्राप्त हुआ। अंग्रेजों के द्वारा इस क्षेत्र में नविन प्रशासनिक व्यवस्था की भी शरुआत की गयी जिससे इन आदिवासियों का अपने समाज के प्रधानों के परम्परागत संबंधों में भी व्यवधान प्रारंभ हुआ प्अंग्रेजों को इतने से ही संतोष नहीं मिला। बरी संख्या में ईसाई मिशनरियों के लोग इस क्षेत्र में आकर आदिवासियों को ईसाई धर्मावलम्बी बनाने लगे, ताकिये अंग्रेजी हुकूमत के प्रति निष्ठां रख सके। इस तरह अंग्रेजी शासन द्वारा इन आदिवासी क्षेत्र में न केवल आर्थिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में बल्कि उनके सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी हस्तछेप प्रारंभ हुआ जिसके फलस्वरूप ये आदिवासी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह पे उतारू हो गए।

भारतीय इतिहास में इस तरह के विद्रोह का विशेष महत्व इतिहासकारों द्वारा नहीं दिया गया है। उन्होंने 1857 ई0के विद्रोह को हीं स्वतंत्रताके लिए किये गए प्रथम संघर्ष के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। लेकिन 1857 से पूर्व और उसके बाद भी समय-समय पर इस आदिवासी बहुल क्षेत्र के लोगों द्वारा अपनी संस्कृति एवं स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संघर्ष कियेगयेहैंप्इस प्रकार के विद्रोहों का मूल कारण अंग्रेजों की दमनकारी व अत्याचारी नीतिका बिरोध तथाआदिवासियों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में हस्तछेप माना जा सकता है।

1857 ई. से पहले अपनी स्वतंत्रता और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए जो कुछ विरोध हुए उनमे कोल विद्रोह और पोटपविद्रोह का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ये दोनों ही विद्रोह इस क्षेत्र में कंपनी शासन की शोषण वादी नीतियों एवं कार्यक्रम के विरुद्ध हुआ था, ताकि आदिवासियों की स्वतंत्रता एवं संस्कृति की रक्षा की जा सके। इन विद्रोहों का सामना कंपनी शासन द्वारा बरी निर्दयतापूर्वक किया गया और उसे कुचल भी दिया गया, लेकिन इस क्षेत्र के लिए कतिपय प्रशासनिक सुधार करने के लिए अंग्रेजों को बाध्य होना परा जिसमे सांस्कृतिक क्षेत्र में हस्तछेप की समाप्ति, भभूसर्वेछन, लगान की व्यवस्था में परिवर्तन आदि महत्वपूर्ण थे।

1857 ई. के विद्रोह के बाद ब्रिटिश संसद ने भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया और भारत के लिए कई प्रशासनिक व्यवस्था की शुरुआत की। राजाओं एवं महाराजाओं के राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की नीति बदल गयी और उसके स्थान पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण की व्यवस्था की गयी प्लेकिन आदिवासी जनजाति क्षेत्र में विद्रोह की ज्वाला शांत नहीं हो सकी पहिन्दू धर्म में फैलाये गए पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार आन्दोलन का प्रभाव भी इनपर परा और बीरसामुंडा आन्दोलन तथा टाना भगत आन्दोलन इसी का परिणाम माना जाता है। बीरसा मुंडा द्वारा यह आन्दोलन मूलत: पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार के लिए संचालित आन्दोलन था। मुंडा जनजाति की आत्म् शुद्धि के लिए इस आन्दोलन की शुरुआत बीरसा मुंडा द्वारा की गयी जिसके अंतर्गत एक ही देवता की पूजा, बलिप्रदान प्रथा का विरोध, मांस-मछली का परित्याग, मदिरापान का परित्याग आदि परबल दिया गया था। बरी संख्या में लोग बीरसा की तरफ आकर्षित हुएप्उनकी लोकप्रियता से घबराकर उसे कैद कर लिया गया। कालांतर में उसे मुक्त किया गया तो उसने पूर्ण निष्ठां के साथ इस आन्दोलन को आगे बढाया। उसे यह विश्वास हो गया था की मुंडा जनजाति की दयनीय स्थिति के लिए मूलत: अंग्रेजहीं उत्तरदायी हैप्अत: उसने विद्रोह का नेतृत्व किया। बलपूर्वक अंग्रेजों द्वारा इस आन्दोलन को कुचल दिया गया। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम हुए। जैसे कूट कुटी जमीन पर आदिवसियों के वंशानुगत अधिकार की स्वीकृति दे दी गयी। उनके जमीन के खरीद-बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाया दिया गया।

इसी क्रम में विदेशी प्रशासन के विरुद्ध संचालित संथालों का सिद्धू-कान्हू के नेतृत्व में चलाया गया आन्दोलन भी उल्लेखनीय है प्इस आन्दोलन को भी कुचल दिया गया और पुरे क्षेत्र पे सेना का नियंत्रण कायम रखा गयाप्इसी तरह का विद्रोह भागलपुर में सिमित क्षेत्र में तिलका मांझी द्वारा चलाया गया प्परन्तु, इन सबों से भिन्न टपना भगत आन्दोलन था, जिसनेउराँव जनजाति में पुनर्जागरण के लिए आन्दोलन का संचालन किया। यह आन्दोलन भी काफी तेजी से फैला और अंग्रेजों द्वारा इस पर भी नियंत्रण के कई उपाय किये गए, लेकिन 1919 ई. के आते आते यह टपना भगत आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया।

इस तरह इन आदिवासी क्षेत्र में विभिन्न जनजतियों द्वारा अपनी मातृभूमि की स्वत्रंत्रता और सांस्कृतिक विरासत के लिए समय-समय पर आन्दोलन किये गए जिसका दूरगामी प्रभाव ब्रिटिश प्रशासन परपरा। इस प्रकार के आन्दोलन का मूल कारण ब्रिटिश उपनिवेशवादी शक्ति की दमनकारीनीति, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में अंग्रेजों का हस्तछेप मन जाता है। इसप्रकार के आन्दोलन का महत्व इसलिय और बढ़ जाता है क्योकि उस समय तक भारतवर्ष में सुदृढ़ राष्ट्रीय नेतृत्व और राष्ट्रीयता का आभाव था। उस समय अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए असभ्य माने जानेवाले इन आदिवासियों के द्वारा विदेशी हुकूमत के विरुद्ध ये विद्रोह किये गए थे। मूलत:वेआदिवासी विद्रोह जिसने 1857 के विद्रोह के लिए एक भूमिका तैयार किया उसमे मुख्य रूप से हम सन्यासी विद्रोह, तिलका मांझी विद्रोह, संभलपुर विद्रोह, खेरवार विद्रोह संथाल विद्रोह मुंडा विद्रोह टपना भगतविद्रोह, कोल विद्रोह को मान सकते है जिनके अथक प्रयास से यह विद्रोह अंग्रेजों को सोचने व स्वदेश लौटने के लिए मजबूर किया। क्रमश: सन्यासी विद्रोह जो 1757 ई. में बंगाल में कर बढ़ोतरी तथा किसानों के निरंतर शोषण केकारण हुआ था। फकीर तथा सन्यासियों ने बंगाल में 1770 के अकाल के लिए मुख्य रूप से अंग्रेजों को ही उत्तरदायी माना व विद्रोह किया। तिलका मांझी निहायत हीं एक ऐसे जुझारू क्रन्तिकारी थे जिन्होंने शाशस्त्र दलका गठन किया तथा अँगरेज कमिश्नर पे हमला बोल के अंग्रेजी शासन की नीव हिला दी थी प्अंतत: ओ भागलपुर में पकरे गए व फंसी पे लटका दिए गए प्सी तरह का एक बिद्रोह उड़ीसा मेंसूर्यसेनराय के नेतृत्व में संभलपुर विद्रोह के रूप में जाना जाता हैजो अपने साथियों के साथ अंग्रेजों का मुकाबला करते हुए शहीद हो गएप्

1874 में खेरवार विद्रोह आदिवासिओं का एक अलग तरह का विद्रोह था जिसे संथाल जनजाति का बिहार में पूर्ण सहयोग मिला तथा हजारों की संख्या में गाँव-गाँव जाकर लोगो को अंग्रेजों के खिलाफ अपने अधिकार के लिए उठ खरे होने के लिए प्रेरित किया प्संथाल विद्रोह जो मुख्यत: औपनिवेशिक शासन एवं जमींदारो के खिलाफ आन्दोलन था जिनसे जबरदस्ती उनकी जमीन छीन ली गयी थी जो वर्षों से उनकी थीप्न चार मोरमु भाइयों-सिद्धू, कान्हू, चाँद व भैरव संथाल जनजाति के खिलाफ गुर्रिल्ला युद्ध तथा तीर-धनुष, भाले, ग्रासेसे अंग्रेजों का मुकाबला किया। यद्द्"पीअंग्रेजों ने गोला बारूद का प्रयोग किया, 1500 लोग मारे गए, 10 गाँव बर्बाद कर दिए गए, परन्तुसिद्धू-कान्हू ने हिम्मत नहीं हारी व लरते-लरते युद्ध भूमि में शहीद हो गये।

बीरसा मुंडाएक धीर-बीर व्यक्ति थे जिन्होंने आदिवसियों के मुक्ति के लिए ही मुंडा परिवार में जन्म लिया था तभी तो अपने जीवन की परवाह किये बिनास्वतंत्रता की बलि बेदी पे अपने प्राण अंग्रेजों से लरते-लरते न्योछावर कर दियाप्सामंती व्यवस्था के खिलाफ उन्होंने लोगों को इकठ्ठा किया। बीरसा के नेतृत्व में जनसैलाब देख करघबराहट में अंग्रेजों ने उन्हें हिरासत में ले लिया जहाँ 19000ई0 में जेल में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

टपना भगत आन्दोलन एक छोटे से आदिवासी समुदाय के ओराँवसंत-जात्रा भगत तथा तुरिया भगत के नेतृत्व में झारखण्ड में चलाया गया था प्अंग्रेजों द्वारा अत्यधिक लगानबढ़ाने के कारण 1914 में एक सविनय अवज्ञा आन्दोलन अंग्रेजो, जमींदारों तथामिशनरियों के खिलाफ चलाया गया था। इसी तरह 1831-32 के कोल विद्रोह छोटानागपुर प्रमंडल में लार्ड कोर्नवालिस के द्वारा चलाये गए भूमि सुधारो जो छोटानागपुर और पलामू क्षेत्र पे चलाये गए, के कारण हुआ था। मुख्यत: नील की खेती अनिवार्य करने

के कारण ये विद्रोह तेजी से पुरे जनजातिय क्षेत्रों में फैल गयाप्यद्यपि विद्रोह को दवा दिया गया लेकिन उनके आक्रोश को रोकने के लिए कई प्रशासनिक सुधार किये गए जैसे शोषण पे रोक, मुंडा और मानकी जनजातियों को जमीनी मालिकाना हक देना, नील की खेती समाप्त करना, कर अदा न करने परदास बनाने की प्रथा पे रोक आदि।

पोटो विद्रोह विद्रोह का मूल कारण अंग्रेजों का 'फुट डालो और राज करो' की नीति इस क्षेत्र पे1857 में होने का थाप्अंग्रेजों द्वारा हो जनजाति के प्रधानों को लाभ का दर्जा देने व उन्हें लाभ प्रदान करने की योजना बनायीं गयी, ताकि उनके माध्यम से इन जनजातियों पे शासन किया जा सके। लेकिन 'हो' जनजाति के लोग अंग्रेजों के इस चाल में नहीं आ सके और कोल्हान के जनजातियों ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दियाप्पोटो विद्रोह को कुचल दिया गया, परन्तु आदिवासिओं के मन में बदले की ज्वाला घर कर गयीऔर 1857 ई0 की क्रांति के समय एक बार पुनः दिखाई पराप्परिणाम यह हुआ की कंपनी शासन भारत में समाप्त हो गयाप्नए भूमिसर्वेक्षणकराये गएप्आदिवासियों के जमीनकी खरीद विक्री पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए गएप्कई कानून अलग से बनाये गएप्इस प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँचाने के लिए इससे जुरे अनेक प्रश्नों का उत्तर ढूढने की कोशिश की गयी है। जैसे भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के समय छोटानागपुर क्षेत्र की ऐतिहासिक स्थिति कैसी थी? उस क्षेत्र में निवास करनेवाले आदिवासियों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएं किस प्रकार की थी? क्या इन आंदोलनों के लिए अंग्रेजों के शोषण वादी नीति मूलतः उत्तरदाई थी?क्या अंग्रेजों द्वारा उनके धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में हस्तछेप इसके लिए उत्तरदाई थे?इस आन्दोलन का भारतीय समाज पे क्या प्रभाव परा? आदि। इन प्रश्नों के उत्तर ढूढ़ने के क्रम में प्रस्तुत आलेख इस परिकल्पना के साथ प्रारंभ होता है कि-भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का क्रमबद्ध इतिहास यद्दपि 1885 से प्रारंभ होता, लेकिनछोटानागपुर क्षेत्र में यह आन्दोलन मूलतः उससे पूर्व ही प्रारंभ हो चूका था और उसका मुलभुत कारण छोटानागपुर क्षेत्र में ब्रिटिश उपनिवेशवादी काल की शोषणकारी वदमनकारी नीति हीमानी जा सकती है।

सन्दर्भ

1. झा.जे.सी., "द कोल इन्सरेक्तनआफ छोटानागपुर"।
2. मजुमदार, आर. सी., "द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ इंडिया"।
3. मेहता पी.सी., "दट्राइबल ऑफ बिहार"।
4. दत्ताके.के., ''द हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम स्ट्रगल इन बिहार"।
5. जगदीश टी, "मुन्द्लोककथये"।
6. सिंह के. स., "बिरसा मुंडा एंड हिज मूवमेंट"
7. अहमद जे., "द ट्राइबल ऑफ बिहार"
8. चक्रवर्ती वी.वी., "छोटानागपुर अ ब्रीफ स्कोप"
9. दिवाकर आर. आर., "बिहारथ्रो द एजेस"
10. जहानाबदी, येन, "आदिवासी लाइफ एंड लिटरेचर"।
11. किट्ट्स एच ., "रिपोर्टओंन छोटानागपुर 1854"।
12. महतों, एस., "ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ छोटानागपुर"।
13. पल एस. सी., "दैमेंसन ऑफ ट्राइबल बिहार"।
14. विधारती एल.पी., "कल्चरलटाइम्स इन ट्राइबल बिहार"।

15. वर्मा ऊ. के., "ट्राइबल लाइफ स्टाइल ऑफ बिहार"।
16. क्लास आठ एन सी इ आर टी बुक हिस्ट्री चौप्टर, "ट्राइबल दिकुस एंड द विजन ऑफ ए गोल्डन एज"।
17. मुखर्जी रुद्रन्सू एंड कपूर परमोद, "डेटलाइन-1857 रूरिवोल्ट अगेंस्ट थे राज"।
18. झा सशी प्रभा एंड रॉय श्रबोनी, "फारेस्ट सोसाइटी एंड कोलोनिअलिस्म"।
19. तिजाना एंड बल्दिज्जोने गिंनी, "हिडन ट्राइब्स ऑफ इंडिया ''I (चेप्टर 4, फिग्स 1, 2, 3, 5, 6, 7)
20. बार्ले सी. ए., एड., "येन इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री ऑफ मॉडर्नइंडिया", 1600-1947 I (चेप्टर 1. फिग्स. 1., चेप्टर 2. फिग्स 5, 12 य चेप्टर 3.फिग्स 1.)

भारत में निगमित अभिशासन: विकास, चुनौतियाँ एवं सुझाव

डॉ० अमरनाथ पासवान

असिस्टेंट प्रोफेसर सह-असिस्टेंट डायरेक्टर सामाजिक बहिष्करण एवं समावेशी नीति अध्ययन केंद्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मनीष चन्द्रा

सामाजिक बहिष्करण एवं समावेशी नीति अध्ययन केंद्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावना

निगमित अभिशासन नैगम प्रशासन के क्षेत्र में अनुशासन, भागीदारी तथा पारदर्शिता को बढ़ावा देने की पहल है। भारत में निगमित अभिशासन की दिशा में प्रयास की शुरूआत 1990 के दशक के आखिर में भारतीय उद्योग परिसंघ द्वारा प्रकाशित स्वैच्छिक संहिता के साथ हुई जिसका समय के साथ-साथ विकास होता गया। तीसरी दुनिया का देश होने के बावजूद हमारे देश में निगमित अभिशासन के विकसित कानूनी ढ़ाँचे की उपस्थिति इस दिशा में हमारी प्रतिबद्धता का स्पष्ट प्रमाण है। हालांकि सत्यम जैसे घोटालों से लेकर तमाम बड़ी कंपनियों की वित्तीय स्थिति में आए अप्रत्याशित बदलावों, जिनके पीछे तथ्यों को छुपाना भी एक वजह हो सकती है, इस बात को स्थापित करते हैं कि भारत में निगमित अभिशासन के क्षेत्र में सुधार की संभावना निरंतर बनी हुई है। यह आलेख भारत में निगमित अभिशासन के विकास, इसके बारे में विद्यमान कानूनी प्रावधानों, निगमित अभिशासन के सम्मुख उपस्थित चुनौतियों तथा उन चुनौतियों का सामना करने हेतु दिए जा सकने वाले सुझावों को प्रस्तुत करता है।

अध्ययन का उद्देश्य

भारत में निगमित अभिशासन का विकास, उपलब्धियों, चुनौतियों एवं संभावनाओं की मिली-जुली तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस आलेख का मुख्य उद्देश्य भारत में निगमित अभिशासन के विकास, निगमित अभिशासन से संबंधित कानूनी प्रावधानों, इसके सम्मुख उपस्थित चुनौतियों तथा इस संबंध में सुझावों को प्रस्तुत करना है।

उपकल्पना

जैसा कि रिग्स ने अपने प्रिज्मैटिक साला मॉडल में विकासशील देशों में प्रशासन के चरित्र को उद्घाटित करते हुए बताया है, भारत में भी निगमित अभिशासन को लेकर सिद्धांत और व्यवहार में अंतर होगा, जिसके इससे अभिष्ट को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में समस्याएँ होगी।

पद्धतिशास्त्र

इस अध्ययन में मुख्य रूप से द्वितीयक स्त्रोतों यथा विभिन्न पुस्तकों, विभिन्न शोध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलेखों तथा वेब आधारित प्रमाणिक सामग्रियों आदि का प्रयोग किया गया है।

भारत में निगमित अभिशासन

भारत में निगमित अभिशासन की पृष्ठभूमि को 1990 के दशक में छायी आर्थिक मंदी से निपटने के लिए किये गए सुधारों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। आर्थिक सुधारों के नतीजे में निजी उद्यमों की अर्थव्यवस्था में बढ़ी भागीदारी और इसके साथ ही निवेशकों के हितों की सुरक्षा समेत निजी उद्यमों के कामकाज के तौर तरीकों में पारदर्शिता लाने की बढ़ी जरूरतों के मद्देनजर भारत में निगमित अभिशासन की जरुरत महसूस की गयी।[1] भारत में निगमित अभिशासन की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम भारतीय उद्योग परिसंघ द्वारा उठाया गया जिसने 1998 में 'डिजायरेबल कॉर्पोरेट गवर्नेंस: ए कोड' के नाम से निगमित अभिशासन के संबंध में एक स्वैच्छिक संहिता प्रकाशित की। इसमें परिसंघ ने मुख्य रूप से गैर कार्यकारी निदेशकों की संख्या, बोर्ड की संपूर्ण सदस्य संख्या का न्यूनतम 30 प्रतिशत तक करने, एक व्यक्ति के द्वारा अधिकतम 10 कंपनियों का निदेशक बनने का प्रावधान करने, गैर कार्यकारी निदेशकों के दायित्वों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने, प्रत्येक बोर्ड को कार्य योजना की स्पष्ट जानकारी देने तथा न्यूनतम तीन गैर कार्यकारी निदेशकों के साथ लेखा परीक्षा समिति का गठन करने जैसी बातों का समावेश किया।[2] भारतीय उद्योग परिसंघ की यह स्वैच्छिक संहिता वैसे तो भारत में एक नए युग का प्रारंभ करने वाली थी किन्तु भारतीय परिस्थितियों में स्वैच्छिक संहिता की अपनी सीमाओं के कारण वैधानिक संहिता लाने के उद्देश्य से भारतीय प्रतिभूति एवं विनियम बोर्ड ने 1999 में उद्योगपति कुमार मंगलम बिड़ला के नेतृत्व में एक समिति का गठन किया। बिड़ला समिति ने अपनी रिपोर्ट में बोर्ड की सिफारिशों की चर्चा में स्वतंत्र निदेशकों की भूमिका पर बल देने, क्रियान्वयन और निगरानी संबंधी कार्यों को अलग करने, अंकेक्षण समितियों की महत्ता को मान्यता देने तथा वेतन समिति की स्थापना समेत अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की। सेबी ने बिड़ला समिति की अहम सिफारिशों को सन 2000 में स्वीकार और प्रमाणित करते हुए इसे स्टॉक एक्सचेंज के सूचीकरण समझौते के खंड - 49 में शामिल कर लिया।[3] यह भारत में निगमित अभिशासन की दिशा में पहला महत्वपूर्ण वैधानिक प्रयास था। निगमित अभिशासन की दिशा में अगली महत्वपूर्ण पहल कॉर्पोरेट कार्य मंत्रालय ने की और सन 2002 में मंत्रालय के अधीन नरेश चंद्र समिति की स्थापना की गयी। समिति ने 2002 के अंत में ही सौंपी गई अपनी रिपोर्ट में लेखा परीक्षकों की नियुक्ति, लेखा परीक्षण कार्यों के लिए अयोग्यताएँ, प्रतिबंधित गैर लेखा परीक्षण सेवाओं की सूची, अनिवार्य लेखा परीक्षण भागीदार चक्रानुक्रम, स्वतंत्र गुणवत्ता समीक्षा बोर्ड का गठन, स्वतंत्र निदेशकों की परिभाषा सूचीबद्ध कंपनियों के मंडल के न्यूनतम आकार एवं उनकी बैठकों की अवधि, गैर कार्यपालक निदेशकों का पारिश्रमिक तथा उन्हें कुछ विशिष्ट दायित्वों से छूट आदि से संबंधित सिफारिशें की।[4] इसी वर्ष भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड ने भी विद्यमान निगमित अभिशासन व्यवहारों की पर्याप्तता का मूल्यांकन करने तथा इन व्यवहारों में और सुधार लाने के लिए इंफोसिस के अध्यक्ष तथा मुख्य परामर्शदाता एन.आर. नारायणमूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। नारायमूर्ति समिति ने खंड-49 की समीक्षा करते हुए निगमित शासन मानकों में सुधार हेतु अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की। इन सिफारिशों को समिति ने अधिदेशात्मक तथा गैर-अधिदेशात्मक अनुशंसाओं में विभाजित करते हुए लेखा परीक्षा समितियों के उत्तरदायित्वों को सुदृढ़ करने, वित्तीय प्रकटनों की गुणवत्ता में सुधार लाने, बोर्डों पर औपचारिक आचार संहिताएँ अपनाने, नामिती निदेशकों के पद का सृजन करने, गैर कार्यपालक निदेशकों को अदा की गई क्षतिपूर्ति के संबंध में बेहतर प्रकटन तथा स्टाक धारक अनुमोदन (सभी अधिदेशात्मक) समेत बोर्ड सदस्यों के प्रशिक्षण प्रणाली की स्थापना तथा उनके निष्पादन मूल्यांकन की व्यवस्था (गैर अधिदेशात्मक) आदि के बारे में विस्तृत अनुशंसाएँ प्रस्तुत की।[5] इस बीच भारत में हो रहे आर्थिक सुधारों के साथ कदमताल करते हुए एक अधिक सरल, समग्र और प्रभावी कंपनी कानून की जरूरत लगातार महसूस की जा रही थी, जो कि 1956 के कंपनी कानून में समय-समय पर हुए संशोधनों और सामाजिक जरूरतों को ध्यान में रखते हुए ऐसे वैधानिक ढ़ाँचे की स्थापना कर सके जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को और अधिक गति प्राप्त हो सके। इस संदर्भ में भारत सरकार ने पहल करते हुए 2004 में जे.जे. ईरानी की अध्यक्षता में समिति गठित की। ईरानी समिति ने कंपनी कानून से जुड़े तमाम पक्षों के गहराई से अध्ययन के पश्चात मई 2005 में सरकार को अपनी रिपोर्ट सौप दी। समिति ने अपनी रिपोर्ट में प्रबंधन और बोर्ड प्रशासन, संबंधित पार्टी लेनदेन, अल्पसंख्यक हितों, निदेशकों की शिक्षा और सरंक्षण, पूँजी, खातों और लेखा परीक्षा तक पहुँच, विलय तथा एकीकरण, अपराध और दंड तथा पुर्नगंठन और परिसमापन से संबंधित अनेक सिफारिशें की।[6] ईरानी समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने नए कंपनी कानून का मसौदा 2008 में संसद के सम्मुख रखा जिसे 2013 में संसद की मंजूरी मिली।[7] इस अंतराल में एक अन्य समिति की रिपोर्ट भी भारत में निगमित अभिशासन में सुधार को लेकर प्रस्तुत हुई जिसका उल्लेख करना प्रासंगिक है। गौरतलब है कि ईरानी समिति की सिफारिशों पर केंद्र सरकार द्वारा 2008 में कंपनी विधेयक प्रस्तुत करने के कुछ ही समय बाद भारत में हुए सत्यम घोटाले ने कॉरपोरेट

अभिशासन की स्थिति को लेकर एक बड़ी बहस छेड़ दी। इस पूरे घटनाक्रम की पृष्ठभूमि में सीआईआई ने फरवरी 2009 में नरेश चंद्रा की अध्यक्षता में निगमित अभिशासन के स्तर और अभ्यास दोनों को बेहतर बनाने के लिए सुझाव देने हेतु समिति गठित की। चंद्रा समिति ने अपनी रिपोर्ट में निदेशक मंडल, लेखा परीक्षकों की भूमिका, नियामकीय एजेंसियों की भूमिका तथा बाह्य एजेंसियों की भूमिका की गहन समीक्षा करते हुए अति नियमन और मजबूत निगमित अभिशासन के मध्य संतुलन साधने की वकालत करते हुए अनेक स्वैच्छिक सुधारों को अपनाने की सिफारिश की।[8]

इस तरह भारत में निगमित अभिशासन के विकास क्रम पर नजर दौड़ाएँ तो हम पाते है कि भारत में निगमित अभिशासन को निरंतर बेहतर और मजबूत बनाने की कोशिश जारी है। इसमें स्वैच्छिक और कानूनी दोनों ही संहिताओं की अहम भूमिका देखी जा सकती है।

भारत में निगमित अभिशासन को बढ़ावा देने वाले कारक

भारत में निगमित अभिशासन से जुड़ी विभिन्न वैधानिक व्यवस्थाओं को अमल में लाना और इसके दायरे में ज्यादा से ज्यादा उद्यमों का आना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हमारे देश में निगमित अभिशासन की दिशा में निरंतर प्रगति हो रही है। इस प्रगति को जिन कारकों ने प्रोत्साहित किया है या गति प्रदान की है उनमें से कुछ प्रमुख निम्नवत हैं[9] –

1. 1990 के दशक में लागू की गई एलपीजी नीतियों के नतीजे में भारतीय बाजार को अधिक प्रतिस्पर्द्धी बनाने की आवश्यकता।
2. 1990 के दशक में नई आर्थिक नीतियों के सूत्रपात के साथ बाजार में आए नए औद्योगिक घरानों के कामकाज के पेशेवर तौर तरीके और निगमित अभिशासन के प्रति प्रतिबद्धता।
3. विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा अधिक पारदर्शिता की मांग और निगमित अभिशासन को अभ्यास में लाने वाली कंपनियों में निवेश।
4. भारत में मीडिया, विशेषकर वित्तीय मीडिया की बढ़ती उपस्थिति के कारण कंपनियों के क्रियाकलापों, प्रदर्शन और अन्य वित्तीय विषयों को लेकर लोगों तक जानकारी के प्रवाह में वृद्धि)।
5. बेहतर प्रबंधन का समर्थन करने वाले बैकिंग तथा वित्तीय संस्थानों के कंपनी पर प्रभाव में अनवरत वृद्धि)।
6. विदेशी पूँजी बाजार में प्रवेश दिलाने और बाह्य स्त्रोंतों से वित्त की उगाही में बेहतर निगमित अभिशासन और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत लेखा परीक्षा की सहायक भूमिका।

भारत में निगमित अभिशासन का कानूनी ढ़ांचा

संपूर्ण नैगम संरचना को विनियमित करने तथा कंपनियों में शासन के विभिन्न पहलुओं संबंधी संव्यवहार करने के लिए महत्वपूर्ण विधान कंपनी अधिनियम, 1956 तथा इसके संशोधित विधान हैं, जबकि प्रतिभूति बाजारों में निवेशकों के हितों को संरक्षण करने तथा साथ ही देश में कॉर्पोरेट अभिशासन के मानकों का अनुरक्षण करने के लिए भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड द्वारा प्रतिभूति संविदा (विनियमन) अधिनियम, 1956, भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम 1992 तथा निक्षेपागार अधिनियम, 1996 को प्रवृत्त किया गया है। इनका संक्षिप्त उल्लेख निम्नवत है–[10,11,12]

1. कंपनी अधिनियम, 1956 – कंपनी अधिनियम, 1956 भारत में केंद्रीय विधान है जो केंद्रीय सरकार को कंपनियो के गठन, वित्तपोषण, कार्यकरण तथा परिसमापन को विनियमित करने की शक्तियां देता हैं। यह संपूर्ण भारत पर तथा सभी प्रकार की कंपनियों पर प्रयोज्य है, चाहे वे इस अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत हो या किसी पूर्ववर्ती अधिनियम के तहत पंजीकृत हो। यह निदेशकों तथा प्रबंधकों की शक्तियों तथा उत्तरदायित्व, पूंजी जुटाने, कंपनी की बैठकों का आयोजन करने, कंपनी लेखों के अनुरक्षण तथा लेखापरीक्षा, निरीक्षण की शक्तियों, इत्यादि की व्यस्था करता है।
2. प्रतिभूति संविदा (विनियमन) अधिनियम, 1956 – इस अधिनियम का अधिनियमन प्रतिभूतियों में लेन देन के व्यवसाय को विनियमित करके उनमें अवांछित सौदों को रोकने तथा उनमें सट्टेबाजी पर रोक लगाने के लिए किया गया था। कोई भी स्टॉक एक्सचेंज, जो मान्यता प्राप्त करने का इच्छुक है, निर्धारित तरीके से केन्द्र सरकार को आवेदन कर सकता है।
3. भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम, 1992 – इस अधिनियम का अधिनियमन प्रतिभूतियों में निवेशकों के हितों

का संरक्षण करने तथा प्रतिभूति बाजार के विकास का संवर्धन करने तथा उसे विनियमित करने तथा उससे संबधित या आनुशंगिक मामलों के लिए किया गया था। इस प्रयोजनार्थ, सेबी (बोर्ड) विनियमन द्वारा निम्न को विनिर्दिष्ट करता है–

- पूंजी के निर्गम, प्रतिभूतियों के अंतरण संबंधी मामले तथा उससे आनुशंगिक अन्य मामले, तथा
- तरीका जिससे ऐसे मामलों का प्रकटन कंपनियों द्वारा किया जाएगा।

4. निक्षेपागार अधिनियम, 1996 – इस अधिनियम का अधिनियमन प्रतिभूतियों में निक्षेपागारों के विनियमन की व्यवस्था करने तथा उससे जुड़े या उसके आनुशंगिक मामलो के लिए किया गया था। इससे स्क्रिपरहित कारोबार प्रणाली तथा निपटान की शुरूआत की व्यवस्था की गई है जिसे प्रतिभूति बाजारों के प्रभावी कार्यकरण के लिए आवश्यक समझा गया है। अधिनियम के अनुसार, शब्द 'निक्षेपागार' का अर्थ है – कंपनी अधिनियम 1956 के अंतर्गत निर्मित तथा पंजीकृत कंपनी, जिसे भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम 1992 की धारा 12 की उपधारा (1 क) के तहत पंजीकरण प्रमाण पत्र प्रदान किया गया है।

भारत में निगमित अभिशासन सुधार से जुड़ी अहम चुनौतियाँ

भारत में 1990 के दशक में निगमित अभिशासन के लिए पहल की शुरुआत से लेकर अब तक निरंतर इस दिशा में सुधार की कोशिश होती रही है। वक्त जरुरत को ध्यान में रखते हुए, विगत अनुभवों से सीख लेते हुए और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर होने वाले बदलावों को मद्देनजर रखते हुए भारत में निगमित अभिशासन के क्षेत्र में संरचनात्मक और नीतिगत सुधार हेतु अनेक प्रयास किये गए हैं जिसके अच्छे परिणाम भी देखने को मिल रहे हैं। बावजूद इसके भारत में निगमित अभिशासन के क्षेत्र में सुधार से जुड़ी अनेक चुनौतियाँ आज भी विद्यमान हैं। इनमें से कुछ अहम चुनौतियों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है –

1. लोक क्षेत्रक उपक्रम के अध्यक्ष तथा बोर्ड सदस्य की नियुक्ति संबंधित मंत्रालयों द्वारा की जाती है जिनका नेतृत्व पेशेवर प्रबंधकों की बजाय प्राय: नौकरशाहों के हाथ में होता है। इसका इन उपक्रमों के कामकाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।[13]
2. लोक क्षेत्रक उपक्रमों में अनेक रणनीतिक फैसले मंत्रीय स्तर पर लिए जाते हैं जिनमें व्यापारिक फैसलों के साथ राजनीतिक निहितार्थ भी शामिल हो सकते है।[14]
3. भारत में कंपनी के मुख्य शेयरधारकों द्वारा मजबूत स्थिति का इस्तेमाल करते हुए कंपनी के अधिकांश संसाधनों का एकाधिकारी रूप से अपने हित में और अपनी जरूरतों के लिए प्रयोग किया जाता है।[15]
4. शेयरधारकों के अधीन और बहुसंख्यक शेयरधारकों की इच्छानुसार संचालित होने के कारण भारतीय व्यापारिक संस्कृति में बोर्ड की हैसियत कतिपय पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में कमजोर होती है।[16]
5. पारिवारिक व्यापारिक तथा व्यापारिक समूहों में निगमित अभिशासन के मामलों का विश्लेषण अत्यंत जटिल कार्य होता है।[17]
6. भारत में निगरानी व्यवस्था कमजोर तथा गैर पारदर्शी है।[18] यहाँ बाह्य निगरानी व्यवस्था अभी भी अविकसित स्थिति में है।[19]
7. वास्तविक अर्थों में स्वत्रंत निदेशकों की, जो अपने काम को प्रभावी तरीके से अंजाम दे सकें, भारत में कमी है।[20]
8. निगमित अभिशासन को बढ़ावा देने हेतु कंपनियों को प्रोत्साहन के संबंध में कमियाँ देखने को मिलती है।[21]
9. भारत में ज्यादातर परिवार संचालित कंपनियों, जिनमें भारत की कई शीर्षस्थ कंपनियाँ भी शामिल हैं, में स्वामित्व तथा प्रबंधन का विभाजन एक बड़ी चुनौती है।[22]
10. भारत में कई परिवार समूहों द्वारा अपने समूह के अंतर्गत विभिन्न बोड्र्स में एक ही व्यक्ति की नियुक्ति तथा उसे लंबे समय तक सेवा विस्तार देने की प्रवृत्ति ऐसे व्यक्तियों की, अल्पसंख्यक शेयरधारकों के हितों के प्रभावी तरीके से प्रतिनिधित्व करने की क्षमता को लेकर चिंता उत्पन्न करती है।[23]
11. भारत में ढ़ीले प्रगति प्रतिवेदन मानदंड तथा भेदिया कारोबार ने अल्पसंख्यक शेयरधारकों के हितों को नजरअंदाज करने में अहम भूमिका निभाई है।[24]

12. भारत में निष्पक्ष और तथ्यपरक लेखा परीक्षा के संबंध में अनेक कमियां रहीं हैं जो भारत में निगमित अभिशासन के सम्मुख एक बड़ी चुनौती है।[25]

भारत में निगमित अभिशासन को अधिक प्रभावी बनाने हेतु सुझाव

विगत तीन दशकों में निगमित अभिशासन के अभ्यास को बेहतर बनाने हेतु भारत में किए जाने वाले अनवरत प्रयासों के बावजूद अभी भी इस संबंध में सुधार की पर्याप्त गुंजाईश है। इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण सुझावों को निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत दर्शाया जा सकता है–

1. कंपनियों के अभिशासन में 'स्टीवर्डशिप सिद्धांत' पर तत्काल और विशेष रूप से ध्यान दिया जाए।[26]
2. निगमित अभिशासन के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु शेयर धारकों, निदेशकों तथा स्वतंत्र निदेशकों के मध्य शक्तियों के न्यायसंगत वितरण पर ध्यान दिया जाना चाहिए।[27]
3. निगमित अभिशासन सिर्फ वैधानिक प्रावधानों के माध्यम से नहीं सुनिश्चित किया जा सकता। इसके लिए कंपनी और उसके पारितंत्र में सच्चरित्रता तथा नैतिक मूल्यों को और अधिक बढ़ाये जाने की जरुरत है।[28]
4. निगमित अभिशासन के प्रभावी अभ्यास हेतु बोर्ड सदस्यों के प्रदर्शन के निष्पक्ष तथा स्वतंत्र मूल्यांकन की प्रक्रिया को बढ़ावा देने की जरुरत है।[29]
5. एक ही व्यक्ति को कंपनी समूह के विभिन्न निदेशक मंडल में नियुक्त करने और उसे सेवा विस्तार देते जाने की प्रवृत्ति को तत्काल बंद करने की जरूरत है।
6. लोक क्षेत्रक उपक्रमों को उपक्रम के कार्यकरण से लेकर निर्णयन तक में सरकारी कार्य संस्कृति की बजाय पेशेवर नजरिये और प्रतिबद्धता पर ध्यान देना चाहिए।
7. निगमित अभिशासन के प्रभावी अभ्यास हेतु उसके सभी पण्यधारकों तक सूचना का निर्बाध प्रवाह होना आवश्यक है ताकि वे सुविज्ञ निर्णय लेने की स्थिति में हों।
8. विंडो ड्रेसिंग के मामलों को देखते हुए लेखा परीक्षा की निष्पक्षता को सुनिश्चित करने और लेखों में हेर फेर को रोकने हेतु सख्त कदम उठाये जाने की जरुरत है।
9. परिवार संचालित कंपनियों में स्वामित्व तथा प्रबंधन के विभाजन को वास्तविक अर्थों में सुनिश्चित करने और ऐसा करने में नाकाम रहने वाली कंपनियों को दण्डित करने की प्रभावी और निष्पक्ष व्यवस्था को लागू करने पर तत्काल ध्यान दिया जाना चाहिए।

उपसंहार

भारत में निगमित अभिशासन पहल को अस्तित्व में आए दो दशक से अधिक का समय हो चुका है। इस दौरान हमने इस क्षेत्र में अनेक उपलब्धियाँ हासिल की है और निगमों के कामकाज में इसे एक मानक अभ्यास के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी है जिसके अनेक सकारात्मक नतीजे देखने को मिल रहे हैं। हालांकि इसके साथ ही विगत वर्षों में अनेक ऐसे मामले भी सामने आए हैं जो यह दिखाते है कि निगमित अभिशासन के अभ्यास में कुछ स्पष्ट कमियाँ है जिन्हें दूर किया जाना आवश्यक है। खुशी की बात यह है कि इन कमियों को दूर करने हेतु प्रयास निरंतर जारी है जिनसे निकट भविष्य में निगमित अभिशासन को और भी बेहतर बनाने में मदद मिलने की उम्मीद है।

References

1. Pandey, Santosh, Kaushik, Kshama, V., Study on the State of Corporate Governance in India: Evolution, Issues and Challenges for the Future,http://iica.in/images/Evolution_of_Corporate Governance_in_India.pdf,pp.4-5
2. Dubey, Ashok, Kumar (2013) Ikkisavin Sadee mein Lok Prashasan, TMH Publishing Company Ltd.,p.149
3. Pandey, Santosh, Kaushik, Kshama, V., Study on the State of Corporate…..,op.cit.,pp.5-6

4. https://archive.india.gov.in/business/hindi/corporate_governance/mca.php
5. https://archive.india.gov.in/business/hindi/corporate_governance/narayana_murthy.php
6. Meaning and concept of corporate governance, evolution of corporate governance in India and other parts of world. Need and essence of corporate governance and role of CAG in this regard , http://rtiallahabad.cag.gov.in/rti-website/rti-allahabad/downloads/material/Background%20 training %20materail%20on%20corporate%20governance.pdf
7. Pandey, Santosh, Kaushik, Kshama, V., Study on the State of Corporate…..,op.cit.,p.8
8. Report of the CII Task Force on Corporate Governance, http://www.mca.gov.in/ Ministry/latestnews/ Draft_Report_NareshChandra_CII.pdf
9. Fernando, A.C.(2012) Corporate Governance: Principles, Policies and Practices, Pearson Education India,pp.533-534
10. https://archive.india.gov.in/business/hindi/corporate_governance/legal_framework.php
11. http://hi.vikaspedia.in/e-governance/online-legal-services/908-93594d92f93e92a93e930-938947-91c941947-91593e928942928-935-90592793f92893f92f92e/91592e 94d200d9 2a928940-90592793f92893f92f92e
12. https://www.india.gov.in/hi/topics/industries/corporate-governance
13. Rajharia,Poonam & Sharma, Bhawana (Dr.) Corporate Governance In India Evolution, Issues And Challenges For The Future, International Journal of Scientific Research and Management (IJSRM), Volume-2, Issue-12, 2014,p.1820
14. Ibid
15. Kaushik, Kshama,V., Dutta, Kaushik (2012) India Means Business: How the elephant earned its stripes, Oxford University Press, Google Books
16. Pandey, Santosh, Kaushik, Kshama, V., Study on the State of Corporate Governance in India: Evolution, Issues and Challenges for the Future, http://iica.in/images/Evolution_of Corporate_Governance_in_India.pdf, p.21
17. Kaushik, kshama,V., Dutta, kaushik (2012) India Means Business: How the elephant earned its stripes….,op.cit.,Google Books
18. Meenu, Need of Effective Corporate Governance and Its Challenges in India, IJCEM International Journal of Computational Engineering & Management, Vol. 15 Issue 6, November 2012, p.54
19. Rajharia, Poonam, Sharma,Bhawana (Dr.) Corporate Governance In India Evolution, Issues And Challenges For The Future,International Journal of Scientific Research and Management, Volume: 2, Issue: 12, December 2014,p. 1822
20. Independent directors or toothless tigers? The Hindu Business Line, May 4, 2016 http:// www.thehindubusinessline.com/ opinion/independent-directors-or-toothless-tigers/article8557029 .ece
21. Rajharia, Poonam, Sharma,Bhawana (Dr.) Corporate Governance In India Evolution …., op.cit.,p.1822
22. MSCI report points out weak corporate governance practices in India, The Economic Times, April 1, 2017, https:// economictimes.indiatimes.com/news/company/corporate-trends/msci-report-points - out-weak-corporate-governance-practices-in-india/articleshow/57961913.cms
23. Ibid
24. The fight for corporate governance in India, Live Mint, Nov.27, 2013, http://www.livemint.com/Opinion/ hxFqnfbyCG5fRWD6PuiGfP/The-fight-for-corporate-gover nance-in-India.html
25. Bhasin, Madan, Lal, satyam's manipulative accounting methodology unveiled: an experience of an asian economy, international journal of business and social research,Vol.-6,Issue-12,2016,pp.35-54
26. Sebi mulls 'out of the box' approach for effective corporate governance, Business Standard, Nov.9,2017
27. Ibid
28. The State of Corporate Governance in India: 2008: A Poll, KPMG in India, Audit Committee Institute,https:// www.in.kpmg.com/SecureData/ACI/Files/CG_Survey_ Report.pdf, p.16
29. Ibid,p.17

वर्तमान परिवेश में वृद्धजनों की समस्याएं: एक विश्लेषण

डॉ० कंचन

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा राजकीय पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज

डॉ० सतीश चन्द्र जैसल

असिस्टेंट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार, उ.प्र. राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

भारत वर्ष में वृद्ध व्यक्तियों को आदर एवं सम्मान से देखा जाता है वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा समाजिक क्षेत्र में शिथिल पड़ जाता है। उसकी शारीरिक क्षमता कमजोर हो जाती है। व्यक्ति हठ और मानसिक अतिरक्षाओं के प्रयोग की ओर झुक जाता है। वह आर्थिक प्रयासों में अक्षम होने लगता है और अर्थोपार्जन के लिए आपेक्षित शक्ति के अभाव में आर्थिक कठिनाईयों का शिकार हो जाता है। वृद्धावस्था की समस्या आज एक सामाजिक-आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में मौजूद है। वृद्ध जनों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित अध्ययन को जेरिएट्रिक्स (Geriatrics) तथा वृद्धजन अध्ययन शास्त्र को जेरॉण्टोलॉजी (Gerontology) कहा जाता है। वृद्ध व्यक्तियों का स्थान समाज में उच्च और आदरपूर्ण रहा है सामान्यत: इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति ओर देखभाल परिवार में होती रही है। क्योंकि परिवार की यह एक महत्वपूर्ण भूमिका और उत्तरदायित्व का आवश्यक अंग समझा गया है। आधुनिक वैश्वीकरण एवं उपभोक्तावादी युग में वृद्धों की समस्याएं बढ़ती जा रही है। संयुक्त परिवार के टूटन ने बुजर्गों की सुरक्षा को और अधिक गम्भीर बना दिया है।

हिन्दू संयुक्त परिवार प्रणाली उनको सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती थी तथा इनकी पूरी देखभाल करती थी वे परिवार के अध्यक्ष थे तथा निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे ग्रामीण कृषि समाज में वे घर कि बड़े बुजुर्ग कहे जाते थे वे परिवार के बजट पर नियंत्रण रखते थे तथा न केवल परिवार के द्वारा पारिवारिक मामलों में उनका परामर्श लिया जाता था अपितु गांवों के मामलों में भी समुदाय द्वारा परामर्श लिया जाता था क्योंकि उन्हें ज्ञान, बुद्धि, अनुभव एवं दूरदर्शिता का प्रकाश स्तम्भ समझा जाता था। परन्तु आज स्थिति में तेजी से परिवर्तन आ रहा है।

औद्योगिकरण नगरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता के कारण उत्पन्न समाजिक मूल्यों, सामाजिक संरचना एवं अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों के कारण संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन प्रारम्भ हो गया। दरिद्रता, बेकारी, अर्धबेरोजगारी एवं मूल्यों में वृद्धि के कारण परिवार अपना निर्वाह अच्छी प्रकार करने की स्थिति में नहीं है तथा परिवार के सदस्यों के वृद्धों के प्रति अपने दायित्व पूरा करने में अयोग्य बना दिया है। पीढ़ी का फासला बढ़ता जा रहा है युवाओं का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी बनता जा रहा है तथा वृद्धों के प्रति उनका आदर भाव कम होता जा रहा है।

विकसित देशों में सामाजिक सुरक्षा इतनी व्यापक है कि वहां वृद्धता की समस्या गम्भीर नहीं है किन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में वृद्धों के लिये सामाजिक सुरक्षा की योजनाएं नगण्य है। भारतीय समाज में वृद्धजनों की समस्या का स्वरूप निम्न है -

- देश में निर्धनता के कारण वृद्धावस्था के लिये धनसंचय संभावना समाप्त हो रही है।
- सामाजिक सुरक्षा के नाम पर संयुक्त परिवार नामक परम्परागत व्यवस्था का भी विघटन हो रहा है।
- एकाकी परिवारों के चलन ने इस समस्या को गंभीर बना दिया है।

आधुनिक समाज युवा अभिमुखीकृत होता है जहां उपयोगिता, उत्पादक क्षमता, स्वास्थ्य, स्वतंत्र उपलब्धि, व्यक्तिवाद आदि मूल्य महत्वपूर्ण हो रहे हैं जिनके बीच वृद्ध वर्ग स्वयं को असहाय एवं निरर्थक सा अनुभव कर रहा है। परिवार में वृद्धों की दयनीय स्थिति को भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' सही रूप से उजागर करती है।

वृद्धों की समस्याएं

वृद्धावस्था मानव जीवन की एक स्वाभाविक स्थिति है अत: वृद्धावस्था और उससे जुड़ी समस्याएं विश्व में मानव जीवन एवं सभ्यता के प्रारंभिक काल से अस्तित्व में रही है। वृद्धावस्था एवं मानसिक दुर्बलता के साथ-साथ व्यक्ति को परिवार एवं समुदाय के साथ सामंजस्य एकाकीपन, अलगाव, खाली समय के सदुपयोग तथा अपर्याप्त आय आदि अनेकानेक समस्याएं घेरे रहती है। वर्तमान समय में भारत में वृद्धों की बढ़ती आबादी के साथ ही उनसे सम्बन्धित कुछ पारिवारिक और सामाजिक समस्याएं भी उत्पन्न हुई हैं जिसने वृद्धों की समस्याओं में वृद्धी की है। इसमें सबसे बड़ी समस्या वृद्धों के एकाकीपन की है। वृद्धावस्था एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें परिवार के सहयोग एवं भावनात्मक सहारे की आवश्यकता बढ़ जाती है। जब उन्हें यह सहारा नहीं मिलता है एवं इसके विपरीत परिवार के अन्य सदस्यों का व्यवहार उनके प्रति उपेक्षापूर्ण हो जाता है, तो उनकी स्थिति अत्यन्त ही दयनीय हो जाती है। वृद्धों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा मधुमेह, वृद्धष्टि-दोष, आर्थराइट्स, रक्तचाप और तनाव जैसी बीमारियों का शिकार रहता है। इनमें उपचार के साथ-2 देखभाल करने वालों की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें जब घर में इस प्रकार की देखभाल नहीं मिलती जो उनकी स्थिति अत्यन्त ही कष्टप्रद हो जाती है। यह बेबसी और लाचारी की स्थिति वृद्धों के लिए अत्यन्त दु:खद होती है।

वृद्धावस्था में आर्थिक सुरक्षा समस्याओं को और अधिक बढ़ा देती है। आर्थिक तंगी वृद्धों की पराश्रितता को और अधिक बढ़ा देती है। फलस्वरूप वृद्धजन सम्मान पूर्ण तरीके से जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। परिजनों या दूसरों पर आश्रित रहने वाले वृद्धजनों को अक्सर अपमानजनक स्थिति का सामना करना पड़ता है। आर्थिक अभाव के कारण वे अच्छे उपचार और समुचित देखभाल से वंचित रह जाते हैं अध्ययनों से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार शहरी क्षेत्रों में 64 प्रतिशत वृद्ध महिलाएं तथा 46 प्रतिशत वृद्ध पुरूष अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए पूरी तरह दूसरों पर आश्रित रहते हैं। वृद्धावस्था में ससम्मान जीवन व्यतीत करने के लिए आर्थिक मजबूती बहुत आवश्यक होती है, जिसका हमारे देश में नितान्त अभाव है। संयुक्त राष्ट्र भी वृद्धों की आर्थिक असुरक्षा पर चिंता व्यक्त कर चुका है।

जनगणना-2011 के अनुसार भारत में 60 वर्ष से अधिक उम्र के लोगों की संख्या 10.38 करोड़ है और ये भारत की कुल आबादी में 8.58 प्रतिशत है। वर्ष 1951 में इनकी संख्या 1.98 करोड़ थी जो वर्ष 2001 में बढ़कर 7.6 करोड़ हो गई थी। इससे स्पष्ट है कि वृद्ध लोगों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। यह एक प्रकार से सकारात्मक लक्षण है, क्योंकि यह जीवन प्रत्याशा में वृद्धि का संकेत है, परन्तु यह भी सच है कि इनकी संस्था में वृद्धि के साथ ही इनसे जुड़ी समस्याओं में बढ़ोत्तरी हो रही है। वर्तमान में तेजी से बढ़ते शहरीकरण और आधुनिक परिस्थितियों की वजह से संयुक्त परिवार टूट रहे हैं जिसके कारण एकल परिवारों की संख्या में वृद्धि हो रही है। भारतीय समाज के परम्परागत मूल्यों में होने वाले बदलाव ने इसकी स्थिति को और भी विकट बना दिया है।

समाज में वृद्धों की समस्याओं के निम्न स्वरूपों पर ध्यान केन्द्रित कर पारिवारिक, सामाजिक एवं सरकारी स्तर पर उचित समाधान हेतु प्रयास किया जा सकता है -

- शारीरिक दुर्बलता एवं रोग
- पारिवारिक एवं भावनात्मक समस्याएं

- आर्थिक अथवा वित्तीय समस्याएं
- सामाजिक समस्याएं
- संवेगात्मक समस्याएं
- आवासीय समस्या
- एकाकीपन एवं अलगाव
- खाली समय के सदुपयोग की समस्या
- वृद्धजनों में वंचना की समस्या
- सामाजिक सुरक्षा के साधनों में कमी

वृद्धों का कल्याण

वृद्धों की समस्याओं की व्यापकता, गंभीरता और जटिलता को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह वर्तमान युग की महत्वपूर्ण समस्या है। समय के साथ-2 जैसे-2 रहन-सहन के स्तर में उन्नति ओर सुधार हो रहा है अधिकाधिक वृद्धों की अधिक समय तक जीवित रहने की संभावना बढ़ती जा रही है। अत: दिन प्रतिदिन वृद्धों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

वृद्धों की समस्याओं का निवारण उनको आवश्यक कल्याण सुविधाएं प्रदान कर यदि समाप्त नहीं किया जा सकता तो कम अवश्य किया जा सकता है। भारत सरकार अनेक सहायता कार्यक्रम एवं कल्याण सुविधाओं के द्वारा वृद्धों के कल्याण की दिशा में प्रयास कर रही हैं।

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम का आरम्भ 15 अगस्त, 1995 को हुआ था। यह संविधान के अनुच्छेद 41 एवं 42 के नीति-निर्देशक तत्वों के अनुपालन की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह कार्यक्रम गरीब परिवारों में वृद्धावस्था, जीविकोपार्जन करने वाले मुख्य सदस्य की मृत्यु तथा मातृत्व जैसी स्थितियों में लाभ पहुंचाने के लिए सामाजिक सहायता की एक राष्ट्रीय नीति प्रस्तुत करता है। इस कार्यक्रम के तीन अंग हैं, जिनके नाम हैं-

1. राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना (NOAPS)
2. राष्ट्रीय परिवार लाभ योजना (NFBS)
3. राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना (NMBS)

राष्ट्रीय वृद्धजन परिषद (NCOA- National Counsil for old ageing) केन्द्र सरकार द्वारा वर्ष 2005 में वृद्ध व्यक्तियों के लिए राष्ट्रीय वृद्धजन परिषद का पुनर्गठन किया गया जो वृद्धजनों के बारे में नीतियों और कार्यक्रमों के विकास के लिए सरकार को सलाह और सहायता देती है।

विकासशील देशों में वृद्धावस्था से संबंधित वैश्विक आयोग (Global Commission on Ageing in Developing Countries)

चीन के बीजिंग में विकासशील देशों में वृद्धावस्था से संबंधित वैश्विक आयोग की स्थापना हुई है। आयोग का लक्ष्य लिंग समानता और विकास में भागीदारी (PPD- Partners in population and Development) सहित विकासशील देशो में वृद्धों के रहन-सहन को सुधारेगा। सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर वृद्धजनों के कल्याण के लिए अनेक राष्टव्यापी प्रयास किये गये हैं किन्तु स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा की गयी कुछ पहल महत्वपूर्ण हैं, जिनमें बुजुर्गों के स्वास्थ्य के लिये राष्ट्रीय कार्यक्रम के तहत अभी तक 21 राज्यों के सौ जिलों में आठ क्षेत्रीय बुजुर्ग चिकित्सा विज्ञान केन्द्र खोले जा चुके हैं। इस महत्वाकांक्षी योजना के लिए 12वीं पंचवर्षीय योजना अवधि के लिए 1,710 करोड़ रूपये का प्रावधान किया गया है।

अन्य वृद्ध कल्याण सेवाएं

वृद्ध एवं अशक्त आश्रम बंगलौर, 'फ्रेण्ड इन नीड' 1840, डेविड सेन्सम असाइलम (पूणे), किसान पेंशन योजना, हेल्प ऐज इंडिया, एज केयर इण्डिया, वृद्धायु आवास गृह आदि।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा समय-समय पर वृद्धों से संबंधित निम्नलिखित निर्देशों तथा संस्तुतियों को प्रस्तावित किया गया-

1. वृद्धों के विकास की क्षमता एवं मानवीय आवश्यकताओं के समुचित रूप से समाधान को सुनिश्चित करने के लिये राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना की जाय तथा इसे सषक्त किया जाये।
2. वृद्धों के आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक, जनांकिकीय एवं रोग संबंधी पक्षों पर शोध के क्षेत्र को व्यापक बनाया जाय।
3. संस्थागत अथवा सामुदायिक देखभाल प्रणाली की स्थापना की जाय अथवा उसका विस्तार किया जाय ताकि वृद्ध व्यक्तियों को समुचित स्वास्थ्य एवं सामाजिक सेवाएं उपलब्ध हो सके।
4. वृद्धों के ऐसे संगठनों को विकास कार्यक्रमों एवं नीति निर्माण में उनकी क्रियात्मक सहभागिता को सुनिश्चित करते हैं, को प्रोत्साहित किया जाये।
5. नीति-निर्माताओं, अन्वेशकों एवं कार्यकर्ताओं को वृद्ध विज्ञान में प्रशिक्षण दिया जाय ताकि उन्हें वृद्धावस्था सम्बन्धी मामलों का समुचित ज्ञान हो सके।

भारत सरकार द्वारा वृद्धजनों के कल्याण की दिशा में वरिष्ठ नागरिक अधिनियम 2007 एवं नई राष्ट्रीय वृद्धजन नीति 2011 को लागू करना एक बड़ी कानूनी उपलब्धि अवश्य ही कहा जा सकता है, परन्तु अभी तक इसका प्रवर्तन अत्यन्त कमजोर ही रहा है। अतः इसका ठोस क्रियान्वयन किये जाने की आवश्यकता है, जो समाज एवं सरकार दोनों स्तरों पर दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा संवेदनशील रहकर किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. सिंह जे0पी0, 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन : 21वीं सदी में भार' द्वितीय संस्करण, अशोक के0 घोष, पी0एच0आई0 लर्निंग प्रा0लि0 दिल्ली, 2016
2. विवेक एस0 राज, 'समकालीन भारतीय मुद्दे (समस्या एवं समाधान) भाग-1 सिविल सर्विसेज टाइम्स, सी-75, पर्यावरण कॉम्पलेक्स, मैदानगढ़ी रोड, नई दिल्ली, 2015-16
3. शर्मा जी0एल0, 'सामाजिक मुद्दे' रावत पब्लिकेशन, जवाहर नगर, जयपुर, 2015
4. राजोरा, सुरेश चन्द्र, 'समकालीन भारत की सामाजिक समस्याएं' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अदादमी जयपुर, 2006 आहूजा राम, 'भारत में सामाजिक समस्याएं', रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2000

युवकों को स्वामी विवेकानन्द का सन्देश

डॉ० जय प्रकाश यादव

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मेरा विश्वास युवा पीढ़ी में, नयी पीढ़ी में है, मेरे कार्यकर्ता उसमें से आयेंगे। सिंहों की भाँति वे समस्त समस्या का हल निकालेंगे। मैंने अपना आदर्श निर्धारित कर लिया है, और उसके लिए अपना समस्त जीवन दे दिया है। यदि मुझे सफलता नहीं मिलती, तो मेरे बाद कोई अधिक उपयुक्त व्यक्ति आयेगा और इस काम को सँभालेगा, और मैं अपना सन्तोष प्रयत्न करने में ही मानूँगा।

चरित्रवान्, बुद्धिमान, दूसरों के लिए सर्वस्व त्यागी तथा आज्ञाकारी युवकों पर ही मेरे भविष्य का कार्य निर्भर है। उन्हीं पर मुझे भरोसा है, जो मेरे भावों को जीवन में परिणत कर अपना और देश का कल्याण करने में जीवनदान कर सकेंगे। नहीं, तो झुण्ड के झुण्ड कितने ही लड़के आ रहे हैं और आयेंगे, पर उनके मुख का भाव तमपूर्ण है: हृदय में उद्यम की आकांक्षा नहीं, नचिकेता की तरह श्रद्धावान् दस-बारह लड़के पाने पर मैं देश की चिन्तन-धारा और प्रयत्न को नवीन पथ पर परिचालित कर सकता हूँ।[1]

युवक, बलशाली, स्वस्थ, तीव्र, मेधा वाली और उत्साहयुक्त ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं। तुम्हारा भविष्य निश्चित करने का यही समय है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अभी इस भरी जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो, जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर काम नहीं होगा। काम करो, क्योंकि काम करने का यही समय है। सबसे अधिक ताजे, बिना स्पर्श किए हुए और बिना सूँघे फूल ही भगवान् के चरणों पर चढ़ाए जाते हैं, और वे उसे ही ग्रहण करते हैं। अपने पैरों पर खड़े हो जाओ, देर न करों, क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है। वकील बनने की अभिलाशा आदि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने में तथा इससे भी ऊँची अभिलाशा रखो और अपनी जाति, देश, राष्ट्र और समग्र मानव समाज के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो।

जीवन की अवधि अल्प है, पर आत्मा अमर और अनन्त है, और मृत्यु अनिवार्य है। इसीलिए आओ, हम अपने आगे एक महान् आदर्श खड़ा करें और उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। यही हमारा निश्चय हो और वे भगवान् जो हमारे शास्त्रों के अनुसार साधुओं के परित्राण के लिए संसार में बार-बार आविर्भूत होते है, वे ही महान् कृष्ण हमको आशीर्वाद दे एवं हमारो उद्देष्य की सिद्धि में सहायक हों।[2]

तेरे भीतर अदम्य शक्ति है। तू तो ''मैं कुछ नहीं'' सोच-सोच कर वीर्यविहीन बना जा रहा है। तू ही क्यों? -सारी जाति ही ऐसी बन गयी है। जा एक बार घूम आ, देखेगा भारत के बाहर लोगों का 'जीवन-प्रवाह' कैसे आनन्द से सरलता से, प्रबल वेग के साथ बहता जा रहा है और तुम लोग क्या कर रहे हो? इतनी विद्या सीख कर दूसरों के दरवाजे पर भिखारी की तरह 'नौकरी दो, नौकरी दो' कहकर चिल्ला रहे हो। दूसरों की ठोकरें खाते हुए गुलामी करके भी तुम लोग क्या अब मनुष्य रह गए हो? तुम लोगों का मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। ऐसी सुजला-सुफला भूमि में, जहाँ पर प्रकृति अन्य सभी देशों से करोड़ो गुना अधिक धन-धान्य पैदा कर रही है, जन्म लेकर भी तुम लोगों के पेट में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नहीं। जिस देश के धन-धान्य ने पृथ्वी के अन्य सभी देशों में सभ्यता का विस्तार किया है, उसी अन्नपूर्णा के देश में तुम लोगों की ऐसी दुर्दशा! तुम लोग घृणित कुत्तों से भी बदतर हो गए हो। और फिर भी अपने वेद-वेदान्त और दूसरों के मुँह की ओर ताक कर ही जीवन व्यतीत कर रहे हो, उस राष्ट्र का यह गर्व! धर्म-कर्म को तिलांजलि देकर पहले जीवन-संग्राम में कूद पड़ो। भारत में कितनी चीजें पैदा होती हैं। विदेशी लोग उसी कच्चे माल के द्वारा सोना पैदा कर रहे हैं और तुम लोग भारवाही गधों की तरह उनका माल ढोते-ढोते मरे जा रहे हो। भारत में जो चीजें उत्पन्न

होती हैं, विदेशी उन्हीं को ले जाकर अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार की चीजें बनाकर सम्पत्तिशाली बन गए और तुम लोग! अपनी बुद्धि सन्दूक में बन्द करके घर का धन दूसरों को देकर 'हा अन्न, हा अन्न' करके भटक रहे हो।[3]

मैंने दुनिया में घूमकर देखा है कि इस भारत की तरह इतने अधिक तामसिक प्रकृति के लोग पृथ्वी में और कहीं भी नहीं, बाहर सात्विकता का ढोंग, पर अन्दर बिल्कुल ईंट-पत्थर की तरह जड़ - इनसे जगत का क्या काम होगा? इस प्रकार अकर्मण्य, आलसी, घोर विषयी जाति दुनिया में और कितने दिन जीवित रह सकेगी? पाश्चात्य देशों में घूमकर पहले एक बार देखा आ, फिर मेरे इस कथन का प्रतिवाद करना। उनका जीवन कितना उद्यमशील हैं, उनमें कितनी कर्मतत्परता है, कितना उत्साह है, रजोगुण का कितना विकास है। तुम्हारे देश के लोगों का खून मानो हृदय में जम गया है नसों में मानों रक्त का प्रवाह ही रुक गया है। सर्वांग पक्षाघात के कारण शिथिल सा हो गया है। इसीलिए मैं रजोगुण की वृद्धि कर कर्मतत्परता के द्वारा इस देश के लोगों को पहले इहलौकिक जीवन संग्राम के लिए समर्थ बनाना चाहता हूँ। देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं। क्या होगा रे इन जड़ पिण्डों से? मैं हिला-डुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ। इसलिए मैंने प्राणान्त प्रण किया है- वेदान्त के अमोघ मन्त्र के बल से इन्हें जगाऊँगा। उतिष्ठत जाग्रत इस अभय वाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। तुम लोग इस काम में मेरे सहायक बनो। जा, गाँव-गाँव में, देश-देश में यह अभय वाणी चण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी को सुना आ। सभी को पकड़ कर जाकर कह दे- 'तुम लोग अमित वीर्यवान हो अमृत के अधिकारी हो।' इसी प्रकार पहले रज:शक्ति की उद्दीपना कर, जीवन संग्राम के लिए सबको कार्यक्षम बना, इसके पश्चात् उन्हें परजन्म में मुक्ति प्राप्त करने की बात सुना। पहले भीतर की शक्ति को जाग्रत करके देश के लोगों को अपने पैरों पर खड़ा कर अच्छे भोजन वस्त्र तथा उत्तम भोग आदि करना वे पहले सीखे। इसके बाद उन्हें उपाय बता दें कि किस प्रकार के भोग बन्धनों से वे मुक्त हो सकेंगे।[4]

इच्छाशक्ति संसार में अधिक बलवती है। उसके सामने दुनिया की कोई चीज नहीं ठहर सकती, क्योंकि वह भगवान् साक्षात् भगवान् से आती है। विशुद्ध और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। क्या तुम इसमें विश्वास नहीं करते? सबके समक्ष अपने धर्म के महान् सत्यों का प्रचार करो, संसार इनकी प्रतीक्षा कर रहा है। सैकड़ों वर्षों से लोगों को मनुष्य की हीनावस्था का ही ज्ञान कराया गया है। उनसे कहा गया है कि वे कुछ नहीं हैं। संसार भर में सर्वत्र सर्वसाधारण से कहा गया है कि तुम लोग मनुष्य ही नहीं हो। शताब्दियों से इस प्रकार डराए जाने के कारण वे बेचारे सचमुच ही करीब-करीब पशुत्व को प्राप्त हो गए हैं। उन्हें कभी आत्मतत्व के विषय सुनने का मौका नहीं दिया गया। अब उनको आत्मतत्व सुनने दो, यह जान लेने दो कि उनमें से नीच से नीच में भी आत्मा विद्यमान है- वह आत्मा, जो न कभी मरती है, न जन्म लेती है, जिसे न तलवार काट सकती है न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है, जो अमर है, अनादि और अनन्त है, जो शुद्धस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।

उन्हें अपने में विश्वास करने दो। आखिरकार अंग्रेजों में और तुममें किसलिए इतना अन्तर है? उन्हें अपने धर्म अपने कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में कहने दो। पर मुझे अन्तर मालूम हो गया है। अन्तर यही है कि अंग्रेज अपने ऊपर विश्वास करता है, और तुम नहीं। जब वह सोचता है कि मैं अंग्रेज हूँ तो वह उस विश्वास के बल पर जो चाहता है वही कर सकता है। इस विश्वास के आधार पर उसके अन्दर छिपा हुआ ईश्वर भाव जाग उठता है और तब उसकी जो भी इच्छा होती है, वही कर सकने में समर्थ होता है। इसके विपरीत, लोग तुमसे कहते आए हैं, तुम्हें सिखाते आए है कि तुम कुछ भी नहीं हो, तुम कुछ भी नहीं कर सकते, और फलस्वरूप तुम आज इस प्रकार अकर्मण्य हो गए हो।[5]

हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस मांस-पेशियों और मजबूत स्नायु वाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छाशक्ति सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा-शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के मार्ग में जाना पड़े, सदा सब तरत से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा।[6]

पहले है हृदय की अनुभव शक्ति। बुद्धि या विचार शक्ति में क्या है? यह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय तो प्रेरणा स्रोत है? प्रेम असम्भव द्वारों को भी उद्घाटित कर देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है।[7]

शिक्षा, ग्रहणार्थ हमें सबके पैरों तले बैठना चाहिए, क्योंकि ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि सभी हमें महान् शिक्षा दे सकते हैं। हमारे महान् श्रेष्ठ स्मृतिकार मनु महाराज की उक्ति है, नीच जातियों से भी श्रद्धा के साथ हितकारी विद्या ग्रहण करनी चाहिए, और निम्नतम अन्त्यज ही क्यों न हो, सेवा द्वारा उससे भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।[8]

त्याग ही असली बात है। त्यागी हुए बिना कोई दूसरों के लिए सोलह आना प्राण देकर काम नहीं कर सकता। त्यागी सभी को समभाव से देखता है, सभी की सेवा में लगा रहता है। वेदान्त में भी तो पढ़ा है कि समभाव से देखो तो फिर एक स्त्री और कुछ बच्चों को अधिक अपना समझकर क्यों मानेगा? तेरे दरवाजे पर स्वयं नारायण दरिद्र के भेष में आकर अनाहार से मृतप्राय होकर पड़े हैं। उन्हें कुछ न देकर केवल अपना और अपने स्त्री-पुत्रों का पेट भाँति-भाँति के व्यंजनों से भरना तो पशुओं का काम है।[9]

मैं कहता हूँ जितनी शक्ति है, पहले उतना ही कार्य कर। धन के अभाव से यदि कुछ नहीं दे सकता तो न सही, पर एक मीठी बात या एक-दो सदुपदेश तो उन्हें दे सकता है। क्या इसमें भी धन लगता है?[10]

काम सधे या प्राण ही जायें फल की ओर आँख रखे बिना साधना में मग्न हो जाओ। निर्भीक होकर इस प्रकार दिन-रात साधना करने पर छः महीने के भीतर ही तुम एक सिद्ध योगी हो सकते हो, परन्तु दूसरे, जो थोड़ी थोड़ी साधना करते हैं, सब विषयों को जरा-जरा चखते हैं, वे कभी कोई बड़ी उक्ति नहीं कर सकते। केवल उपदेश सुनने में कोई फल नहीं होता। जो लोग तमोगुणी हैं, जो केवल थोड़े से मजे के अन्वेशण में हैं, उनके लिए धर्म और दर्शन केवल मनोरंजन के विषय हैं। जो सिर्फ थोड़े से आमोद-प्रमोद के लिए धर्म करते आए हैं, वे साधना अध्यवसायहीन हैं। वे धर्म की बातें सुनकर सोचते हैं, वाह ये तो अच्छी बातें हैं, पर इसके बाद घर पहुँचते ही सारी बातें भूल जाते हैं। सिद्ध होना हो तो प्रबल अध्यवसाय चाहिए, मन का अपरिमित बल चाहिए। अध्यवसायशील साधक कहता है, ''मैं चुल्लू से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जाएँगें।'' इस प्रकार का तेज, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो और तुम ध्येय को अवश्य प्राप्त करोगे।[11]

आपके वास्ते यह नितान्त आवश्यक है कि अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करने और अक्सर निरर्थक बातें बनाने के स्थान पर, आप अंग्रेजों से नेताओं की आज्ञा का तुरन्त पालन, ईर्ष्याहीनता, अथक लगन और अटूट आत्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करें। जब वह किसी काम के लिए एक नेता बना लेता है, तो अंग्रेज हार-जीत में सदा उसका साथ देता है और उसकी आज्ञा पालन करता है।[12]

यहाँ भारत में प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है, आज्ञा-पालन करने वाला कोई भी नहीं है। आज्ञा देने की क्षमता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा-पालन करना सीखना चाहिए। हमारी ईर्ष्याओं का कहीं अन्त नहीं है, और जो हिन्दू जितना अधिक महत्वपूर्ण है, वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दु ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखता, उसमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी। हम उस समय तक आज की तरह अत्यन्त अव्यवस्थित भीड़ बने रहेंगे।[13]

आलस्य का त्याग करो, इहलोक और परलोक के सुख-भोग को दूर हटाओ। आग में कूद पड़ो और लोगों को परमात्मा की ओर ले आओ। मेरे भीतर जो आग जल रही है, वही तुम्हारे भीतर जल उठे, तुम अत्यन्त निष्कपट बनो, संसार के रणक्षेत्र में तुम्हे वीरगति प्राप्त हो- यही मेरी निरन्तर प्रार्थना है।[14]

अतः काम करो, मेरे बालकों, काम करो। कार्य का कठिन भाग बहुत कुछ हल हो चुका है। अब यह प्रतिवर्ष धीरे-धीरे स्वयं ही अग्रसर होता जाएगा और यदि तुम लोग सिर्फ मेरे भारत लौटने तक भलीभाँति उसकी देख-भाल कर सको, तो फिर अत्यन्त द्रुतता के साथ उसकी वृद्धि होती रहेगी। तुम लोग इतना सब कुछ कर चुके हो, यही सोचकर आनन्द करो कि पिछले एक वर्ष में कितना कार्य हुआ। किस तरह, नगण्यता से निकलकर आज हम देख रहे हैं कि दुनियाभर की नजर हम लोगों पर टिकी हुई है। केवल भारत ही नहीं, बाहरी दुनिया भी हम लोगों से बड़े-बड़े कामों की उम्मीदें रखती है।[15]

मैं चाहता हूँ कि हममें किसी प्रकार की कपटता, कोई मक्कारी, कोई दुष्टता न रहे। मैं सदैव प्रभु पर निर्भर रहा हूँ, सत्य पर निर्भर रहा हूँ, जो कि दिन के प्रकाश की भाँति उज्ज्वल है। मरते समय मेरी विवेक-बुद्धि पर यह धब्बा न रहे कि मैंने नाम या यश पाने के लिए, यहाँ तक कि परोपकार करने के लिए दुरंगी चालों से काम किया था। दुराचार की गन्ध या बदनियती का नाम तक न रहने पाए।

सभी कार्यों में हार-जीत अवश्यम्भावी है, किन्तु मेरा विश्वास है कि कायर मरकर निश्चित ही कृतिकीट बनता है। युग-युग तपस्या करने पर भी कायरों का उद्धार नहीं हो सकता। क्या तुझे अन्त में कृमिकीट होकर जन्म लेना पड़ेगा? मेरी दृष्टि में यह संसार एक खेल के सिवाय और कुछ नहीं है और सदैव यह ऐसा ही रहेगा। सांसारिक मान-अपमान लाभ-हानि को लेकर क्या छः मास तक सोचते रहना पड़ेगा।[16]

'हे वीर, स्वप्न को त्याग कर जाग्रत हो, मृत्यु सिर पर खड़ी है... यह तुम्हें भयभीत न करे।, जो मैने कभी नहीं किया है, रण में पीठ नहीं दिखाई है, क्या आज वही होगा? हारने के भय से क्या मैं युद्धक्षेत्र से पीछे हटूँगा? हार तो वीर के अंग का आभूषण है, किन्तु क्या बिना लड़े ही हार मान लूँ? तारा! माँ!।[17]

Footnotes

1. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -6, पृ0 195
2. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -5, पृ0 197
3. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -6, पृ0 104
4. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -6, पृ0 154-155
5. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -5, पृ0 118-119
6. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -5, पृ0 86
7. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -5, पृ0 120
8. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -5, पृ0 166
9. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -6, पृ0 129-30
10. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -6, पृ0 130
11. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -1, पृ0 90
12. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -4, पृ0 255
13. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -4, पृ0 255
14. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -3, पृ0 371
15. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -2, पृ0 396
16. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -3, पृ0 384
17. विवेकानन्द साहित्य खण्ड -6, पृ0 384

कन्या भ्रूण हत्या: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० सतीश चन्द्र जैसल

असिस्टेंट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार,
उ.प्र. राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० कंचन

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा राजकीय पी.जी. कॉलेज,
नैनी, प्रयागराज

भारत में एक प्रचलित सूक्ति वाक्य है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' अर्थात जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता भी निवास करते हैं। लेकिन इस सूक्ति वाक्य का उद्घोष करने वाले भारत देश में स्त्री-पुरुष जनसंख्या के अनुपात में काफी अन्तर है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात के अन्तर्गत 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या मात्र 933 है। इस तरह पिछले 4 वर्षों में स्थित और भी बिगड़ी है।

विकास की दौर में चिकित्सा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में नित नये प्रयोगों और अनुसंधानों के माध्यम में जहां एक ओर असाध्य समझी जाने वाली अनेक बिमारियों से लाखों करोड़ों लोगों की मुक्ति के द्वारा खोले हैं वहीं दूसरी ओर कुछ संकुचित प्रवृत्ति के लोगों के बीच प्रकृति के विरुद्ध घिनौनी छेड़-छाड़ करने की होड लगी हुई है। इन्हीं में से एक प्रयोग ''बालिका भ्रूण हत्या'' का है जिसमें अल्ट्रासोनोग्राफी एम्निओसेंटेसिस तथा अन्य चिकित्सकीय तकनीकों के जरीये गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता करके, बालिका भ्रूण पाये जाने पर गर्भपात के जरिये उसकी हत्या किये जाने का गैर कानूनी सिलसिला बड़ी तेजी से पूरे देश में फैल रहा है। जिसकी पुष्टि विभिन्न समाचार पत्रों यथा-दैनिक जागरण, अमर उजाला, हिन्दुस्तान, राष्ट्रीय सहारा, पायनियर, नव भारत टाईम्स, आदि ने मादा भ्रूण हत्या के विषय में समय-समय पर समाज का ध्यान आकृष्ट करके किया है। सन् 2001 की राष्ट्रीय जनगणना के आकड़ों पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होता है कि 1991 की तुलना में देश का लिंगानुपात 1000/927 से बढ़कर 1000/933 हो गया इसी अवधि में देश की सर्वाधिक जनसंख्या वाला प्रदेश उत्तर प्रदेश में यह आकड़ा 1000/876 से बढ़कर 1000/898 हो गया है, जो कि एक सुखद संकेत है, इसके विपरीत आकड़े यह भी बताते हैं कि देश में जो जिले विकास में जितने ही आगे हैं तथा वहां के लोगों का जीवन जितना ही उच्च है वहां कन्या भ्रूण हत्या की कुप्रथा सबसे अधिक है। पंजाब और हरियाणा इसके उदाहरण हैं तथा राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली भी इस राह पर अग्रसर है।

पूर्वोत्तर राज्यों के पांच, जम्मू कश्मीर के तीन और छत्तीसगढ़ के दो जिले ऐसे हैं जहां विकास की किरणे अभी तक नहीं पहुचीं हैं, इसलिए वहां लड़कियों की जन्म से पहले हत्या करने की कुप्रथा भी नहीं पहुंची है। भारत के महापंजीयक द्वारा जारी जनगणना के आकड़ों के अनुसार इन्हें देश के अच्छे बालिका अनुपात वाले जिले माना गया है। अच्छे बालिका अनुपात वाले शीर्ष 10 जिलों में दक्षिण सिक्किम जिला सबसे ऊपर हैं जहां 0-6 आयु वर्ग में प्रति एक हजार बालकों पर बालिकाओं की संख्या 1038 है जो देश में सर्वाधिक है।

कानूनी प्रावधान

गर्भावस्था में भ्रूण की जांच के बढ़ते हुए दुरुपयोग की घटनाओं पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम 1994 बनाया गया है जो 20 दिसम्बर 1994 को पारित हुआ। इसे 1 जनवरी 1996 से पूरे देश में लागू किया गया।

इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित है -

- ऐसे प्रत्येक परामर्श केन्द्र, प्रयोगशाला तथा क्लीनिक का पंजीकरण अनिवार्य जहां प्रसव पूर्व परीक्षण सुविधा उपलब्ध हो।
- चिकित्सक के पास निर्धारित योग्यता अनिवार्य ।
- परीक्षण केवल निर्धारित बीमारियों के लिए ही प्रयोग किये जाएँगे।
- इन परीक्षणों का उपयोग तभी किया जा सकता है जब गर्भवती महिला की आयु 35 वर्ष से अधिक है या जिसके कम से कम दो गर्भपात हो चुके है अथवा उसके या उसके परिवार में शारीरिक या मानसिक विकलांगता की पृष्ठभूमि आदि रही है।
- निर्धारित उद्देश्यों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन हेतु इन परीक्षणों के प्रयोग हेतु गर्भवती महिला का पति या कोई रिश्तेदार उसे प्रोत्साहित नहीं करेगा और न ही परीक्षण कराएगा।
- गर्भवती महिला की लिखित सहमति होनी आवश्यक है तथा इन परीक्षणों को करने वाले व्यक्ति द्वारा किसी को भ्रूण के लिंग के बारे में किसी भी प्रकार बताया नहीं जाएगा।
- भ्रूण लिंग की जांच सम्बन्धी इश्तहार/प्रकाशन प्रतिबंधित ।
- कोई भी क्लीनिक, प्रयोगशाला कर्मी, डॉक्टर आदि तथा कोई भी व्यक्ति जो निर्धारित कारणों के अतिरिक्त इन परीक्षणों के लिए उत्तरदायी होगा, उसे कानून का उलंघन करने पर कारावास तथा जुर्माने का दण्ड प्रावधानित है।
- ऐसे सभी पंजीकृत केन्द्रों पर सभी केसों से सम्बन्धित सभी कागजात/रिपोर्ट आदि 2 वर्ष तक तथा जिनसे सम्बन्धित कानूनी कार्यवाही चल रही हो, उनके कार्यवाही समाप्त होने तक सुरक्षित रखा जाना अनिवार्य होगा।
- ऐसे प्रत्येक केन्द्र के मुख्य स्थान पर भ्रूण के लिंग की जांच कराना कानूनी रुप से प्रतिबंधित है तथा उन को अंग्रेजी तथा स्थानीय, दोनों भाषाओं में जन सामान्य के लिए नोटिस लगाना अनिवार्य है।
- इस अधिनियम के अन्तर्गत ऐसी सभी प्रयोगशालाओं, परीक्षण केन्द्रों तथा परामर्श केन्द्रों आदि का पंजीकरण कराना अनिवार्य तो बनाया गया है लेकिन कई राज्यों में अभी तक ऐसे अनेक केन्द्र पंजीकृत नहीं है और वे गैर कानूनी धंधे के सबसे ज्यादा लिप्त है।

इस अधिनियम को गंभीरता पूर्वक लागू नहीं किये जाने के कारण यह अपने निर्धारित उद्देष्यों को पूरा करने में बुरी तरह असफल रहा है। मेडिकल काउन्सिल ऑफ इण्डिया की ताजा रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान में देश में कम से कम 50 लाख बालिका भ्रूणों की हत्या प्रतिवर्ष की जा रही है। इससे ऐसा स्वत: आभास हो जाता है कि जिन राज्यों में बालिका प्रतिशत तुलनात्मक रुप से कम है, वहां 'प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम' का सही प्रकार से प्रयोग नहीं हो पाया है। देश में स्त्रि-पुरुष अनुपात में निरंतर कमी को ध्यान में रखते हुए गर्भावस्था में भ्रूण की जांच के बढ़ते हुए दुरुपयोग की घटनाओं पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से ही यह प्रावधान किया गया, लेकिन सरकारी उदासीनता के चलते इसका उचित कार्यान्वयन अभी नहीं हो पाया है।

इस अनुपात के असंतुलित होने के कारणो पर यदि गहराई से विचार किया जाय तो सर्व प्रथम दृष्टि उस सनातन मानसिकता पर जाती है जिसके अनुसार बेटा ही वंश का नाम चलाता है और बिना बेटे के श्राद्ध, पिण्डदान, तर्पण आदि कार्य किये माता-पिता की आत्मा को मुक्ति नहीं मिलती। दिन पर दिन बढ़ती दहेज की समस्या भी इस असंतुलन का बहुत बड़ा कारण है, बेटी पैदा हुई है तो साथ में दहेज की समस्या भी लाई है। इस चिंता के कारण उनको जन्म से पहले गर्भ में ही मार दिया जाता है और यदि वह पैदा हो जाती है तो उसका पालन पोषण सही ढंग से नहीं किया जाता है जिसके कारण कुपोषण व रोग असमय ही कन्याओं को काल के गाल में ढकेल देते हैं, भले ही आज लड़कियों ने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी विजय का परचम क्यों न लहराया हो। उनकी स्थिति काफी चिन्तिनीय है।

इस प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से शोधार्थी यह प्रयास करना चाहती है कि समाज में बढ़ रही कन्या भ्रूण हत्या के दूरगामी प्रभावों से समाज के सदस्यों को अवगत करा सके और लोग इस असामाजिक एवं जघन्य अपराध को जड़ से समाप्त करने हेतु प्रेरित हो सके। अत: शोधार्थी के प्रस्तुत शोध पत्र का मूल मंतब्य लोगों के समक्ष कन्या भ्रूण हत्या से सम्बन्धित तमाम तथ्यों को उजागर करने के साथ ही साथ इस समस्या के समाधान हेतु महत्वपूर्ण व्यवहारिक सुझाव प्रस्तुत करना भी है।

इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी आवश्यकता भारतीय समाज को इस दिशा में शिक्षित करने की है कि बेटे द्वारा श्राद्ध से नहीं वरन् बेटे या बेटी किसी के भी द्वारा किये गये सत्कर्मों से माता पिता की आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। आवश्यकता इस बात की है कि समाज में नयी वैज्ञानिक मान्यताओं को स्थापित किया जाये जिसमें पुत्र एवं पुत्री के सांस्कारिक कार्यों में किसी प्रकार का सामाजिक भेद-भाव न रखा जाय ।

जहां तक दहेज का प्रश्न है तो इसकी समाप्ति हेतु मध्यम उच्च वर्ग को पहल करनी होगी। मध्यम एवं निम्नवर्ग सदैव अपने से उच्च वर्ग की नकल करता है, यदि मध्यम उच्च वर्ग वास्तविक रुप से दहेज प्रथा समाप्ति की ओर कदम बढ़ाये और बिना तड़क-भड़क के विवाह समारोह आयोजित करने की पहल करें तो इस प्रथा पर अंकुश लग सकता है। नारी को साक्षर के साथ-साथ शिक्षित बनाने की भी आवश्यकता है, समाज में यह धारणा विकसित करनी होगी कि नारी का गौरव मां बनने में है न कि बेटे या बेटी को जन्म देने में। सृष्टि चक्र बिना नारी के चलना सम्भव ही नहीं।

समाज को इसके लिए स्वयं जागृत होना पडेगा और इसके लिए ठोस पहल स्वयं नारी को ही करनी होगी। सरकार को भी इनके कल्याण के लिए बालिका समृद्धि योजना, किशोरी शक्ति जैसी अन्य कई योजनाओं को तैयार कर संचालित किये जाने तथा उसको विशेष सुविधायें उपलब्ध कराने के लिए विशेष कदम उठाये जाने चाहिए। इसके साथ ही नारी को अपनी आन्तरिक शक्ति पहचान कर नारियों की अस्मिता की रक्षा के लिए स्वयं आगे आना होगा वरना सृष्टि कैसे चलेगी, यह कोयी सुपर कम्प्यूटर भी नहीं बता सकेगा। अत: वर्तमान समाज में व्याप्त इस कुप्रथा की समाप्ति के बगैर स्वस्थ्य एवं गतिशील समाज की कल्पना नहीं की जा सकेगी।

सन्दर्भ

1. अरिहन्त समसामयिकी महा सागर जून, 2007.
2. नारी चेतना और सामाजिक विधान, डॉ० मिनाक्षी व्यास, रोशनी पब्लिकेशन, कानपुर 2008.
3. कुरुक्षेत्र, मार्च, 2008.
4. प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम, 1994.
5. पी0एन0डी0टी0, 2003 (एक्ट)।
6. दैनिक हिन्दुस्तान, वाराणसी।
7. वात्सल्य पत्रिका, इन्दिरा नगर, लखनऊ।
8. प्रतियोगिता दर्पण, 2009
9. प्रतियोगिता विकास, 2009
10. टाईम्स ऑफ इण्डिया।
11. योजना, नवम्बर, 2002.
12. पायनियर।
13. अमर उजाला, वाराणसी।
14. दैनिक जागरण, वाराणसी।
15. हेल्थ ऐज इण्डिया न्यूज, जुलाई - अगस्त, सितम्बर, 2002, नई दिल्ली।

भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकारों की भूमिका

डॉ० अमिय कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
दी.द.उ. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सैदाबाद, प्रयागराज

सदन में बहुमत जुटाने के लिए दो या दो से अधिक दलों के बीच आपसी समझौते से गठबंधन सरकार का जन्म होता है ऐसा समझौता चुनावपूर्व या चुनाव पश्चात हो सकता है। रोजर स्क्रटन के अनुसार विभिन्न दलों या राजनीतिक पहचान रखने वाले व्यक्तियों के बीच आपसी समझौता गठबंधन कहलाता है। जनता ने किसी एक विरोधी दल को विश्वास देने के स्थान पर विभिन्न विरोधी दलों मे अपने विश्वास को बाँट दिया था, परिणामस्वरूप एकदलीय सरकार के स्थान पर गठबंधन सरकारें स्थापित हुई। ये गठबंधन सरकारें वैचारिक साम्यता पर आधारित होने के बजाय बेमेल अवसरवादी गठबंधन थी। भारतीय राजनीति में 90 का दशक काफी उतार-चढ़ाव का दशक रहा है। इस दशक में केन्द्र सहित कई राज्यों में अनेक सरकारें बनी और बिगड़ी। दशक के प्रारम्भ में आया गठबंधन सरकार शब्द अब एक वास्तविक बन गया है। कभी गठबंधन से दूर रहने वाले कांग्रेस भी अब आवश्यकतानुसार राज्यों में गठबंधन कर रही है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का प्रमुख्य उद्देश्य यह है कि गठबंधन सरकार के धनात्मक एवं ऋणात्मक पक्षों पर प्रकाश डालना। वर्त्तमान राजनीतिक परिदृश्य के आधार पर यह स्पष्ट करना कि गठबंधन सरकार के पीछे मूलभूत कारण कौन से है? तथा यह विचार करना की भारत मे किस प्रकार की गठबंधन सरकार सफल हो सकती है।

विश्लेषण

एक संसदीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता का केन्द्र बिन्दु मंत्रिमण्डल होता है। बहुमत प्राप्त दल द्वारा गठित मंत्रिमंण्डल को एकदलीय मंत्रिमण्डल कहा जाता है। क्योंकि इसमें सारे सदस्य या मंत्री केवल एक ही दल बहुमत प्राप्त दल के होते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है या हो सकता है कि विधानमण्डल में किसी भी राजनीतिक दल एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संगठित हो जाते है और इस तरह बहुमत का निर्माण तथा मंत्रिमण्डल का गठन करते है। एक से अधिक राजनीतिक दलों को मिलकर जो मंत्रिमण्डल या सरकार बनती है उसे गठबंधन या मिला-जुला सरकार कहते है। ऐसे मंत्रिमण्डल मे सामान्यत: उन सभी-राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व दिया जात है जो कुछ सामान्य सिद्धांतों के आधार पर संगठित हुए है। यह स्मरणीय है कि मिले-जुले मंत्रिमण्डल में जो घटक-राजनीतिक दल होते है वह सरकार बनाने के उद्देश्य से संगठित होने के बाद भी अपने पृथक दलीय अस्तित्व को बनाये रखते है अर्थात् उन सभी राजनीतिक दलों की पहचान बनी रहती है। इन अर्थो में गठबंधन सरकार का गठन करने वाले राजनीतिक दलों का विलय नहीं होता है। सरकर का गठन चार प्रकार से हो सकता है। प्रथम जब कोई दल स्पष्ट बहुमत से जीतकर आए। द्वितीय जब किसी एक विचारधारा से सम्बध दल समूह स्पष्ट बहुमत की स्थिति मे रहे जैसा केरल में वाम लोकतांत्रिक मोर्चा, पं बंगाल व त्रिपुरा में

साम्यवादी दल। जैसा कि 1977 की जनता पार्टी 1999 में NDA तथा 2004 में U.P.A. के साथ हुआ। चतुर्थ जब चुनाव के बाद किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने पर राजनीतिक दल सरकार बनाने के लिए मोर्चा या गठबंधन करे। राजनीतिक विश्लेषक तीसरी तथा चौथी प्रक्रिया के अन्तर्गत गठित सरकारों को गठबंधन सरकार के अन्तर्गत परिभाषित करते हैं।

1967 के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भारतीय राजनीति में एकाधिकार था। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को स्वतंत्रता संग्राम में उसकी भूमिका तथा उसके नेताओं के आदर्शों का लाभ मिला परन्तु नेहरू का चमत्कारिता आभामंडल भी कांग्रेस के स्थायी एकाधिकार को सुनिश्चित नहीं कर सका। जैसे–जैसे भारत में सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना जागृत हुई। भारत जैसे विशाल देश एक राजनीतिक वर्ण क्रम में नहीं समा सका क्योंकि उसके पास धर्मों और क्षेत्रों, जातियों, भाषाई और सांस्कृतिक पहचानों की विविध असमानताएँ विद्यमान थी। फिर सत्तारूढ़ दल क्षेत्रीयता को समाप्त करने में विफल रहा और क्षेत्रीय मुद्दों की उसने उपेक्षा भी की। जिसके कारण क्षेत्रीय मुद्दों को लेकर क्षेत्रीय पार्टियाँ विभिन्न प्रदेशों में बनी। चूँकि क्षेत्रीय मुद्दें जनता से सीधे तौर पर गहरे से जुड़े रहते हैं। इसी कारण क्षेत्रीय दलों ने चुनाव में सफलताएँ भी प्राप्त की। कावेरी जल विवाद इसका प्रमुख उदाहरण है जो वर्षों तक तमिलनाडु और कर्नाटक की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाता रहा इसके साथ ही कांग्रेस से लोगों का मोह भंग होने के कारण एक राजनीतिक निर्वात की उत्पत्ति हुई। चूँकि कोई विपक्षी राष्ट्रीय पार्टी उस समय इतनी सशक्त नहीं थी जो उस निर्वात को भर सके फलत: उस निर्वात को क्षेत्रीय राजनीतिक दलों द्वारा भर दिया गया। मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद जातिवाद में वृद्धि हुई और प्रत्येक राज्य में जातिगत समीकरणों के आधार पर छोटे–छोट राजनीतिक दल बनने लगे। यद्यपि गठबंधन सरकार समय और परिस्थितयों की अनिवार्यता के कारण अस्तित्व में आती है, किन्तु इसके कई सकारात्मक पक्ष भी है। जैसे–यह सरकार अनेक प्रकार के मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करती है। गठबंधन सरकार में विभिन्न विचारधाराओं वाली पार्टियाँ शामिल होती है इस कारण उसमें मतदाताओं के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व रहता है। गठबंधन सरकार में विभिन्न दलों के बीच आपसी समझ–बुझ का विकास होता है। चूँकि गठबन्धन सरकार में विभिन्न दलों के बीच साझा कार्यक्रम बनाया जाता है इस कारण इसमें विभिन्न दलों के बीच समन्वय होता है। गठबंधन सरकार में दलों के बीच समन्वय होता है। गठबंधन सरकार में क्षेत्रीय मुद्दों पर भी ध्यान दिया जाता है। एक दलीय शासन में उपेक्षित पड़े क्षेत्रीय मुद्दें गठबंधन सरकार में प्रधानता पा जाते हैं तथा क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान भी गठबंधन सरकार में निकल आता है। वस्तुत: क्षेत्रीय समस्याओं में क्षेत्रीय दलों और उनके वोट बैंक का बड़ा हाथ रहता है किन्तु जब एक या एक से अधिक क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय दल के साथ या आपस में गठबंधन करते हैं तो वे दलीय स्वार्थ से ऊपर उठकर क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही गठबंधन सरकार साझा कार्यक्रम बनाती है और उसका सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। इस सरकार द्वारा लिए गए निर्णय विभिन्न घटक राजनीतिक दलों के निर्णय माने जाते हैं। इसलिए कोई भी निर्णय लेने से पहले घटक दल विचार विमर्श करते हैं इस प्रकार इन निर्णयों में जनता के हित का अधिक ध्यान रखा जाता है।

गठबंधन सरकार का सबसे कमजोर पहलू इसकी अस्थिरता है। किसी भी मुख्य दल के सरकार से समर्थन वापस लेने पर सरकार गिर सकती है। इस कारण से सरकार को घटक दलों द्वारा "ब्लैकमेल' भी किया जाता है। गठबंधन सरकार में प्र. मंत्री की स्थिति काफी दयनीय रही है। प्र. मंत्री को गठबंधन अथवा सरकार में सम्मिलित छोटी से छोटी पार्टी की भी माँग को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। न तो प्रधानमंत्री अपनी कैबिनेट का चयन अपनी इच्छानुसार कर सकता है और न ही उसमें कोई परिवर्त्तन सहयोगी पार्टियों के परामर्श के बिना कर सकता है। गठबंधन सरकार का एक दुष्प्रभाव यह भी होता है कि इससे विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच तनाव भी फैलता है। जिला अथवा ग्राम स्तर पर सरकार में सम्मिलित दलों के कार्यकर्त्ताओं को कभी–कभी अपने दल के नीतियों की विरोधी नीति का समर्थन करने और जनता को संतुष्ट करने में कठिनाई होती है जिससे उनके मनोबल पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गठबंधन सरकार पार्टी के अनुशासन को प्रभावित करती है। चुनाव पूर्व जिसके विरोध में प्रत्याशी खड़े होते हैं वही साझा सरकार में उनके सहयोगी बन जाते हैं। इस स्थिति का संतोषप्रद उत्तर मतदाताओं को दे पाना कठिन होता है। साझा सरकार में विभिन्न दलों को मंत्रीमंडल में स्थान देने के कारण मंत्रीमंडल बड़ा हो जाता था। मंत्रियों पर प्र. मंत्री के ढीले नियंत्रण से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक मामले पर घटक दलों की सलाह की अनिवार्यता के कारण काम की गति धीमी रहती है तथा कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों की उपेक्षा केवल इसलिए कर दी जाती है क्योंकि वे सरकार में शामिल किसी घटक दल के वोट बैंक के लिए

हानिकारक होते हैं। अनेक राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि छोटे-छोटे क्षेत्रीय दलों के उभार से भारतीय संघ में क्षेत्रीयता, अलगाववादी जैसी विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा मिल रहा है।

भारत में गठबंधन सरकार

जहाँ तक भारत में गठबंधन सरकार का प्रश्न है तो इस अवधारणा से भारतीय बहुत पहले से परिचित है किंतु इसका यहाँ अधिक प्रचलन न होने के कारण भारत में साझा सरकार को एक नई अवधारणा मान लिया गया है। भारत में साझा सरकार के गठन की प्रक्रिया स्वतंत्रता के पूर्व ही आरंभ हो गयी थी। भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तगर्त हुए चुनावों में काँग्रेस ने 05 प्रांतों में सरकार बनाई जबकि मुम्बई में वह दो-तीन दलों के समर्थन से सरकार बनाने की स्थिति में थी तथा असम एवं उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में वह सबसे बड़े दल के रूप में उभरीं इन प्रान्तों में भी गठबंधन सरकारें बनीं।

स्वतंत्रता के बाद पहली गैर कांग्रेसी सरकार का गठन केरल के पहले आम चुनाव 1955 ई. में एस. नम्बूदिरीपाद के नेतृत्व में हो गया था। वह साम्यवादी सरकार सही मामलों में गठबंधन सरकार नहीं थी। भारत में गठबंधन की शुरूआत 1967 में चौथें आम चुनाव से मानी जाती है। इस चुनाव में कांग्रेसी आधिपत्य को पहली बार झटका लगा इस चुनाव में बंगाल, उ.प्र., उड़ीसा, बिहार, म. प्र, तमिलनाडु, हरियाणा और पंजाब में काँग्रेस बुरी तरह परास्त हुई और यहाँ गैर कांग्रेसी संविद सरकारें गठित हुई। सभी गठबंधन सरकारें भी उ. प्र. में इस गठबंधन सरकार की प्रथम बागडोर चौधरी चरण सिंह ने सम्हाली। आपात्काल (जून 1975 से अप्रैल 1977) के बाद जनता पार्टी का गठन हुआ। यह कई राजनीतिक दलों जैसे – जनसंघ, भारतीय लोकदल, सोशलिस्ट पार्टी तथा कांग्रेस फार डेमोक्रेसी का उत्तर समूह थी। इसने 1977 के आम चुनावों में भारी जीत हासिल कर केन्द्रीय स्तर पर प्रथम गठबंधन सरकार बनाई। 1989 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, भाजपा तथा वाम मोर्चा के समर्थन पर बनी। 1996-97 में पहले देवगौड़ा फिर इन्द्रकुमार गुजराल की सरकारें कई पार्टियों के संयुक्त मोर्चे के गठन से बनीं जिसे कांग्रेस ने बाहर से समर्थन दिया। 1998 में 13 पार्टियों संयुक्त मोर्चा के गठन से बनीं जिसे कांग्रेस ने बाहर से समर्थन दिया। 1998 में 13 पार्टियों के गठबंधन से बनी बाजपेयी सरकार 13 महीने चली। 1999 में पुनः बाजपेयी के नेतृत्व में 24 पार्टियों वाला राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सत्ता में आया। पुनः मई 2004 में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन केन्द्र में सरकार बनाने में सफल रहा।

भारत मे जो भी गठबंधन बनते हैं वे किसी आदर्श की नींव पर नहीं बनाते बल्कि अवसरवादिता के सिद्धांत की बुनियाद पर बनते हैं। 1970 और 1980 के दशक में जो भी राजनैतिक गठबंधन बनते थे उनका उद्देश्य कांग्रेस को हटाना था। आज जो गठबंधन बन रहे हैं उनका एक ही उद्देश्य है सत्ता की प्राप्ति। यही कारण है कि इन गठबंधनों को कोई भविष्य नहीं होता। इन गठबंधनों में परस्पर विरोधी विचारधारा वाली पार्टियाँ शामिल होती हैं। संयोगवश वे कुछ कारणों से एक होती है। उदाहरणार्थ संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन में वामपंथी पार्टियाँ भी शामिल हैं जबकि प. बंगाल और केरल में कांग्रेस के ये घोर विरोधी हैं। अतः आज का गठबंधन कोई सिद्धान्त नहीं है बल्कि यह अवसरवादिता पर आधारित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः

(1) दि इंडियन पोलिटिकल सिस्टम–नार्मन डी पामर।
(2) गवर्नमेंट एण्ड पोलिटिक्स ऑफ इंडिया–डब्ल्यू एच. मोरिस जोंस।
(3) भारतीय राजनीति व्यवस्था–एस. एम. सईद।
(4) इंडियन गवर्नमेंन्ट एण्ड पोलिटिक्स–डी. सी. गुप्ता।
(5) भारतीय संविधान : एक परिचय–दुर्गादास बसु।
(6) दल-बदल की राजनीति–डॉ. सुभाष कश्यप।
(7) भारतीय शासन एवं राजनीति–डॉ. रुपा मंगलानी।
(8) पोलिटिकल इन इंडिया–रजनी कोठारी।
(9) इंडियन गर्वमेंट एण्ड पोलिटिक्ल–जे. आर. स्वीच।

भूदान-आन्दोलन का राजनीतिक यथार्थः 'विश्रामपुर का संत'

डॉ० शिप्रा शर्मा

'विश्रामपुर का संत' एक राजनीतिक उपन्यास है। इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने समकालीन राजनीति का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। आजादी के बाद देश में जिस तरह की ओछी राजनीति का उदय हुआ है और आज के राजनेता सत्ता में उच्च पद पाने के लिए राजनीति में जो दांव-पेंच अपनाते हैं उसका जीता जागता चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

उपन्यास का एक बड़ा हिस्सा भूदान आन्दोलन की राजनीति और उसके विमर्श से जुड़ा हुआ है। साथ ही इसमें स्वातंत्रोयोत्तर भारतीय समाज के सामंत वर्ग की महत्वाकांक्षा का भी यथार्थ चित्रण है।

स्वाधीनता संग्राम के दिनों में जिस प्रकार अनेक सामंतों ने कांग्रेस में शामिल होकर सत्याग्रह किया, जेल गए और देशभक्त कहलाकर स्वाधीन सरकार के साथ सुख भोगने के हकदार बन गए, उसी प्रकार स्वतंत्रता मिलने के बाद अनेक सामंत भूदान आन्दोलन में शरीक होकर समाज और राजनीति में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित कर, अपनी शासकीय एव राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति कर सकने की योग्यता अर्जित कर लिए।

उपन्यास के प्रमुख पात्र कुँवर जयंती प्रसाद सिंह का चरित्र ऐसे ही एक सामंत का है, जिसने भूदान यज्ञ में कुछ पहाड़ी भूमि दान कर अपने लिए राजनीति में जगह बना ली। भूदान के कुछ ही दिनों बाद वे राष्ट्रसंघ के लिए भारतीय प्रतिनिधि मंडल में शामिल कर ले जाते है और बाद में राज्यपाल भी नियुक्त कर दिए जाते हैं। जिन दो गांवों को जयंती प्रसाद सिंह ने भूदान आन्दोलन में दान दिया था, उन गांवो की आधी से ज्यादा जमीन बंजर थी। भूदान आन्दोलन का इतिहास भी यही बताता है कि भूदान के समय भूदान ख़यज्ञ में मिली हुई अधिकतर भूमि बंजर और अनुर्वर ही थी।

विनोबा भावे ने 1950-51 में भूदान आन्दोलन शुरू किया था। विनोबा भावे भारत के हर प्रान्त में घूम घूम कर भूमि संग्रह का कार्य कर रहे थो भूदान यज्ञ का उद्देश्य था अहिंसक तरीके से भारत की भूमि की समस्या का समाधान करनाा विनोबा भावे भूस्वामियों से कहते थे कि, "जैसे हवा और धूप एक की नहीं, सबकी है वैसे ही जमीन भीा"[1] धरती हमारी माँ है और जिस प्रकार माँ की संपत्ति का उसकी संतानों के बीच किसी प्रकार के भेदभाव के बिना वितरण किया जाता है, उसी प्रकार जमीन का भी वितरण किया जाना चाहिए। वे प्रत्येक भूमिधर से उसकी जमीन का शष्टाँश मांगते थे, जिससे भूमिहीनों के बीच उसका वितरण कर उसके जीवन को सुखी बनाया जा सके और लोगों के बीच फैली आर्थिक विषमता कम से कम हो सके। आचार्य विनोबा भावे के निवेदन पर प्रत्येक राज्य के भूमिपति, भूमिहीनों के लिए भूमिदान करने लगे।

कुँवर जयंती प्रसाद सिंह ने भूदान यज्ञ में अपना दो गांव विनोबा भावे को दान कर दिया थाा "दो गांवों को मैं भूदान यज्ञ में अर्पित करता हूँ यह भूदान नहीं है, उन गावों के सभी किसानों की ओर से और खुद मेरी ओर से यह ग्रामदान है।"[2] इस दान के पीछे कुँवर साहब का दिल साफ नहीं था। अपने त्याग की धाक जमाने के लिए ही उन्होंने दान दिया था।

आजादी के बाद सत्ता की राजनीति में भूदानियों, गाँधीवादियों की जितनी भागीदारी रही है, उसका असर आज भी दिखाई देता है। जयंती प्रसाद सिंह जैसे चरित्र इस यथार्थ के साक्ष्य हैं, जो भूदानी का जामा पहनकर प्रदेश के राजभवनों का सुख दोनो हाथों से लूट रहे हैं। "आज देश की राजनीति का यथार्थ यह है कि कोई गांधीवादी बनकर देश का राष्टरपति, कोई प्रधानमंत्री पद की शोभा बढ़ा रहा है, तो कोई लोहियावादी बनकर जातिवादी राजनीति में फंसकर सूबे से लेकर केन्द्रीय सरकार की राजनीति को

नियंत्रित करने में मशगूल है, कोई साधारण आदमी की औसत आमदनी बढ़ाने और जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने का लालच देकर देश में पूंजीवादी राष्ट्रों को आर्थिक उदारीकरण के नाम पर न्योता देकर देश में पूंजीवादी किले को और मजबूत कर रहा है।"[3]

श्रीलाल शुक्ल ने इस उपन्यास के माध्यम से देश का राजनीतिक व आर्थिक यथार्थ दिखाया है। उन्होंने दिखाया है कि कैसे इस देश की राजनीतिक विचारधाराएं आज भी पाखंड की शक्ल में राजनेताओं के संसार में फलफूल रही हैं। इसलिए इस उपन्यास में भूदान आन्दोलन की विफलता की धज्जियाँ तो उड़ाई ही गई हैं, मुख्य बात यह भी दिखाया गया है कि कल के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में किए गए प्रयोग किस प्रकार आज की राजनीति में राजनेताओं के लिए अमोघ अस्त्र बन गए हैं।

भूदान-आन्दोलन, जयंती प्रसाद सिंह जैसे पाखंडी राजनेताओं के लिए राजनीति का एक अमोघ हथियार बन गयाा अपने मिशन से भटकी और बिक चुकी हमारी पत्रकारिता उसे रातों- रात 'विस्रामपुर का संत' घोषित कर डालती है।

भूदान-आन्दोलन के प्रणेता विनोबा भावे ने देश भर में पदयात्री बनकर जिस तरह राजे-रजवाड़ों, ताल्लुकेदारों, जमींदारों से भूमि दान करवाया और सनातन सर्वोदयी होने का गांधी के समानान्तर संत का खिताब पाया उससे गाँधी बनाम विनोबा के वैचारिक संघर्ष की टकराहट इस उपन्यास में वामपंथी सोचवाले युवक विवेक के वक्तव्य में देखा जा सकता है, "आचार्य विनोबा भावे मामूली संत नहीं हैं। उन्होंने भूदान आन्दोलन नाम के हथियार की ईजाद की है। उसके पहले ही वार में एक तरफ तेलंगाना में साम्यवाद अधमरा होकर रह गया, तो दूसरी तरफ बिहार और उत्तर प्रदेश में गाँधीवाद के हाथ-पाँव टूट गए।"[4] कुंवर जयंती परसाद सिंह के वामपंथी बेटे विवेक का भूदान आन्दोलन में थोड़ा भी विश्वास नहीं है। वह कहता है, "जिस देश में सुई की नोक भर जमीन के लिए महाभारत का युद्द हुआ हो वहाँ सद्भाव और हृदयपरिवर्तन की बात भावुकता भर है। सामूहिक हृदय परिवर्तन इतनी आसानी से नहीं होते, उसके लिए रूस जैसी व्यापक क्रान्ति की जरूरत होती है।"[5] भूदान आन्दोलन की विफलता पर वह कायम रहता है। इस आन्दोलन को वह दुधारी तलवार बताता है। वह कहता है कि, "मुझे लगता है कि भूदान जैसे दाता और दान ग्रहीता वाले आन्दोलन ने किसान की इस गाँधीवादी अवधारणा पर वैसी ही चोट की है जैसी साम्यवादी संघर्ष पर।"[6]

जयंती प्रसाद सिंह का चरित्र इस उपन्यास में एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि राजनीतिक समुदाय का है। आजादी के बाद देश में एक ऐसा समय आया था जब, "राजनीति में चमकने के लिए अब जेलयात्रा का प्रमाण पत्र जरूरी न था, आभिजात्य का बोलबाला था। ऊंचे नेताओं, बड़े औद्योगिक घरानों और महत्वपूर्ण अफसरशाहों की घनिष्ठता क स्वतंत्र मूल्य बन चुकी थी।"[7] यह एक अलग ही वर्ग था भारत भाग्य विधाताओं का। कुंवर जयंती प्रसाद सिंह उन्हीं में से एक है, जिसकी जिन्दगी की अंतिम परिणति ऊब, अकेलेपन और अवसाद में होती है।

श्रीलाल शुक्ल ने कुँवर जयंती प्रसाद सिंह को पूंजीवादी राजनीति के पुराने दौर के चरित्र के रूप में उपस्थित किया है। वृद्धावस्था में भी उसमें असीम महत्वाकांक्षा है और बगुला भगत की सी चालाकी भी हैा विस्रामपुर जाकर बसने का निर्णय किसी वैराग्य के कारण नहीं करते हैं बल्कि जब सत्ता में कोई पद मिलने की उम्मीद नहीं दिखाई पड़ती है और प्रधानमंत्री द्वारा अपने भविष्य के लिए कोई बढ़िया संकेत न पाकर विस्रामपुर जाने का निर्णय कर लेते हैं। उन्हे लगता है कि उनके इस व्यवहार से प्रधानमंत्री को चोट पहुंचेगी और उन्हें बुलाकर कोई उच्च पद दे देंगे। "उन्हें इत्मीनान था कि उनकी जैसी दुर्लभ योग्यता वाले आदमी के लिए एक न एक ऊंची कुर्सी हर वक्त खाली रहेगी।"[8] क्योंकि "अपनी समझ में उन्होंने कई मौकों पर इस राज्य की खतरनाक राजनीति में प्रधानमंत्री को बहुत बड़े असमंजस से उबारा था। उन्हें विश्वास था कि प्रधानमंत्री उन्हें कभी नही भूलेंगे।"[9] कुंवर जयंती प्रसाद सिंह को यह भी भरोसा था कि, "प्रधानमंत्री उनके विस्तीर्ण अनुभव का इस्तेमाल उन्हें किसी बड़े देश में राजदूत बनाकर या कोई वैसा ही दूसरा ओहदा देकर करने वाले है।"[10] इन सबके बावजूद प्रधानमंत्री का ध्यान जयंती प्रसाद सिंह पर नहीं जाता है। प्रधानमंत्री की कृतघ्नता पर गुस्सा भी आता है लेकिन उम्मीद छोड़ना नहीं चाहते हैं। "वे जानते थे कि यह एक भारी भरकम निर्णय होगा, सत्तातंत्र में इसकी व्यापक चर्चा होगी, शायद यह ऐसे कई लोगों को झकझोरेगा जो अभी तक उनको पूरी गंभीरता से नहीं समझ रहे हैं।"[11]

विस्रामपुर गांव आचार्य विनोबा भावे को भूदान यज्ञ में ग्रामदान के रूप में अर्पित हुआ थाा इस गांव में किसानों को एकजुट करके सहकारी खेती की एक परियोजना बनाई गई थी। ऐसा लगा था कि यह परियोजना देश में खेत की हैसियत और किसानों के भाग्य को पलट देगीा लेकिन सारी परियोजना मिट्टी में मिल जाती है। स्थानीय नेता इस बारे में कहता है कि "हमारा समाज कुछ सही ढंग का होता तो उनकी शक्ति पूरी तौर से विकास की योजनाओं में लगती और तब इस क्षेत्र की शक्ल कुछ और ही होती।"[12]

आज देश की यह हालत है कि सिर्फ योजनाएं बनाई जाती हैं लेकिन कोई भी योजना सफल नहीं होती है। सभी योजनाओं का जो हाल होता है, वही हाल इस योजना का भी हुआ।

सहकारी फार्म की योजना भी शुरू की जाती है लेकिन बीस साल से वहां भी वैसी ही है बंजर जमीना "फार्म नहीं, यह फार्म का इरादा भर है। यहां न जाने कैसे- कैसे प्रयोग होते रहते हैं बीच-बीच में कभी कोई इमारत बनती है, कोई टूटती है। कभी ग्रामीण दस्तकारों की ट्रेनिंग शुरू होती है, कभी इंडस्ट्रियल इस्टेट की बात उठती है। होने को बहुत कुछ होता है पर कुछ होता हुआ नहीं दिख पड़ता।"[13] सहकारी फार्म खत्म हो चुका था, लेकिन सहकारी फार्म के नाम पर सरकार से अनुदान मिलना कम नहीं हुआ था। कभी बंजर सुधार के नाम पर, कभी सिंचाई के साधन के नाम पर और कभी हाउस के निर्माण या कृषि यंत्रों की खरीद के नाम पर बराबर सरकारी अनुदान आते रहते थो "फार्म चौपट था, किसान मजदूर बन चुके थे, पर परियोजना फल फूल रही थी।"[14] क्योंकि "सरकार की निगाह में यह ऐसा प्रयोग था जिसे सफल बनाना उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न था।"[15] यही समकालीन राजनीति का जीता-जागता उदाहरण हैा जहां योजना के नाम पर लाखों रूपए आते तो हैं लेकिन उसका प्रयोग कहां होता है कोई नहीं जानता। योजना पड़ी रह जाती है, लेकिन योजना के नाम पर अनुदान कम नहीं होता है।

भूदान-आन्दोलन की सटीक समीक्षा के तौर पर इस उपन्यास में रामलोटन की समस्या है, जिसकी जमीन दूबे के कब्जे में चली गई थी। फर्जी रेहन की समस्या, सरकार के पास फरियाद, चिट्ठी-पत्री, मुकदमा भी किया जाता है लेकिन उससे भी कुछ होता नहीं है। समाधान तभी होता है जब रामलोटन जैसे और अन्य किसान संघर्ष के तहत खेतों पर चढ़ जाते हैं दूबे महाराज और किसानों के बीच मारपीट हो जाती है।

श्रीलाल शुक्ल ने भूदान-आन्दोलन की विफलता का सटीक चित्र खींचा है। इतिहास की यह कैसी विडंबना है कि सारा आन्दोलन जिस बिन्दु से शुरू हुआ था उसी बिन्दु पर आ गया है। जहां से तेलंगाना में क्रान्ति की शुरुआत हुई थी वहीं ग्रामदान के बाद विस्रामपुर के किसानों ने अपनी जोत के लिए हथियार उठा लिए हैं। भूदान आन्दोलन की असलियत खोलते हुए श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है, "जिन जमींदारों ने अपने किसानों के अंगूठे लगवा कर यह भूमि दान में दी थी, वे ही कई सालों से सहकारी फार्म के अध्यक्ष बने हुए हैं। इसके बाद कहने को क्या रह जाता है? हिन्दी पट्टी में कायदे से भूमि सुधार नहीं हुआ है।"[16]

विकास और सुधार के नाम पर परियोजनाएं चल रही हैं। गरीबी हटाने की बातें की जा रही हैं। लेकिन समाज गरीबी, अशिक्षा और निराशा से जूझ रहा हैा यहां राजनीतिक लड़ाइयां ओहदे और डालर के लिए हो रही हैं। अब राजनीति में कुंवर जयंती प्रसाद सिंह जैसे व्यक्ति भी अनुपयोगी और बोझ बन गए हैं। "उनकी जगह चुस्त पोशाक पहनने वाले नए प्रबंध विशेषज्ञ आ गए हैं। वे बंबई कलकत्ता के सेठों तक ही चुनाव चंदे को सीमित नहीं रखते, वे विदेशी वाणिज्य-व्यापार में लूट की संभावनाओं का अनुसंधान कर रहे हैं। वे स्मार्ट हैं। वे पार्टी को और खुद अपने को सरसब्ज कर रहे हैं ध्रुव प्रदेशों और रेगिस्तानों तक से पैसा निचोड़ने की नयी प्राविधिकी वे आविष्कार कर रहे हैं एक-एक दांव में करोड़ो डालर बटोर कर वे राजनीति को एक अत्याधुनिक और खतरनाक हथियार बना चुके हैं। कुछ बचे-खुचे संपानीनुमा बूढ़े हैं जिन्हें भुलाया जा चुका है या सिर्फ बर्दाश्त किया जा रहा है। कुछ बूढ़े अब भी असरदार हैं, उन्हें भारी भरकम नामवाले निरर्थक राजनीतिक ओहदे देकर ऐसी जगह बैठा दिया गया है जो एक चमकदार कूड़ेदान के सिवा और कुछ नहीं है।"[17]

डॉ० पुष्पिता लिखती हैं, "विस्रामपुर का संत का परिवेश यों तो विस्रामपुर तक ही सीमित है परंतु उसकी चेतना का विस्तार भौगोलिक हदों को तोड़ते हुए व्यापक रूप से स्वतंत्रता के बाद उपजी हमारी सामाजिक मानसिकता के इस छोर से जा टकराता है जो मूल्य-मूढ़ता की खाद पर पनपी है। उच्च कोटि की दुर्लभ सर्जनात्मकता और लेखकीय दृष्टि की व्यापकता का परिवेश ही रचना को इतने व्यापक धरातल पर उठाते हुए हमारी मूल्यहीनता और चारित्रिक विघटन की संपूर्ण मानसिकता को अंतर्मुक्त कर सकता है। सदी के उत्तरार्ध में हिन्दी के शायद ही किसी उपन्यास ने हमारी अवांछनीय शक्तियों के उदय तथा नपुंसक, पलायनवादी और ह्रासोन्मुखी बौद्धिकता की इतनी यथार्थवादी और मुकम्मल पड़ताल की हो। जीवन यथार्थ के समानान्तर अपने परिवेश की यह कृति निर्मम व्याख्या करती है।"[18] नया सत्तातंत्र नए खून की मांग कर रहा है। कई ताकतवर बूढ़े हैं जो बरसों से देश के थैलीशाहों की निगाहों में सत्ता के प्रतीक बन रहे थे। वे अचानक थैलियां वसूलने की राजनीति के बावजूद, थैलीशाही का विस्तार होने पर भी, निरर्थक होते जा रहे हैं। 'विस्रामपुर का संत' उपन्यास में एक ओर भूदान-आन्दोलन का इतिहास है, जिसमें उसके गुण और दोष पात्रों के द्वारा विश्लेषित हैं, दूसरी ओर भूदान-आन्दोलन संबंधी कार्यों के बीच से ही सर्वोदयी, गाँधीवादी और भूदान-आन्दोलन कार्यो के 'लाइफ कल्चर' की भी 'ट्रूथ एनलिलिस' है। कुँवर जयंती प्रसाद सिंह के द्वारा एक प्रौढ़ विलासी पुरुष मन के मनोभावों और

मनोविकारों की जटिलताओं का सरल विश्लेषण है। जयश्री, सुंदरी और सुशीला के द्वारा उनके मन के अंतरंग आत्मसंघर्ष और अतृप्त भोगेषणाओं को भी मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है जिसके द्वारा लेखक ने एक ओर तो विस्रामपुर के संत का जीवन रहस्य और कार्यनिष्ठा को उजागर किया है तो दूसरी ओर उपन्यास की सरसता और प्रभावशीलता को बचाया है।

कहना न होगा, कि आजादी के बाद एक मात्र आन्दोलन... भूदान-आन्दोलन के रेशे-रेशे को उधेड़ने के साथ-साथ मानव मन की कुंठाओं और जटिलताओं को भी जागर किया है। इस तरह से दोनो भावभूमियों की कथाएं एक साथ ...समानान्तर विकसित होती हैं। घोर यथार्थवादियों के समर्थकों ने भी 'सुररियलिज्म' की जिस सीमा का निर्वाह किया है, अपनी बेबाक अभिव्यक्ति से श्रीलाल शुक्ल जी ने इसका निर्वाह साधा है। विस्रामपुर पर दृष्टि टिकाकर सारे देश में भूदान-आन्दोलन की क्रिया-प्रतिक्रिया तथा उससे जुड़े लोगों का चरित्रान्वेषण और उद्‌घाटन इस उपन्यास का लक्ष्य है। आजादी के बाद सामंती व्यवस्था तो खत्म हुई, किन्तु हमारी पारंपरिक सामंती प्रवृत्ति का अंत नहीं हुआ। आज सत्ता के विकेन्द्रीकरण के नाम पर जहां कहीं भी सत्ता और शक्ति का केन्द्र है, वह भूदान आन्दोलन हो या कोई भी गांधीवादी आन्दोलन उसका प्रभाव प्राय: जटिल और कुटिल है। श्रीलाल शुक्ल इस संकट की राजनीति का पूर्ण सामाजिक इतिहास और भूगोल चिह्नित करते हैं 'राग दरबारी' के लेखक ने जहाँ आजादी के बाद गाँवों के अविकसित रहने के कारणों को खोला-परखा है, 'विस्रामपुर का संत' भूदान-आन्दोलन की नाकामयाबी के कारणों को खोजता-तलाशता है। सामंतशाही का सरकारी संस्करण अफसरशाही है। मंत्री, नेता, राज्यपाल और आन्दोलनकारी कोई किसी से कम नहीं है।"[19]

खगेन्द्र ठाकुर के शब्दों में, "प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य शिल्पगत विशेषता यह है कि इसकी कथा घटना ख़प्रधान या विवरण-प्रधान नहीं हैा कथा समाज में घटित होती दिखाई पड़ती है और उसमें समाज और राजनीति के कई खास पक्षों का साक्षात्कार होता है, फिर भी ध्यान में रखने की बात यह है कि घटनाओं और चरित्रों के साक्षात्कार का क्षेत्र है कुँवर जयंती प्रसाद सिंह का मानस, उनकी चेतना, उनके सपनों की भूमि यानी, मनोभूमि यथार्थवादी कथानक और चेतना-प्रवाह की शैली का अद्‌भुत समन्वय इस कथा में हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि लेखक ने कोई चरित्र या प्रसंग अपनी चेतना या सपने या सिद्धांत के साँचे में गढ़ा नहीं हैा गतिशील यथार्थ का प्रवाह कुँवर जी की स्मृतिधारा के साथ एकमेक होकर चलता रहता है। घटनाएं और अनेक माध्यम कुंवर जी हों या निर्मल भाई, सुन्दरी हो या सुशीला, आश्रम के मंत्री हों या विवेक, राव साहब हों या दूबे महाराज, सभी जीवन- यथार्थ के प्रतिनिधि हैं और उनका जीवन स्वातंत्रयोत्तर भारत के समाज के अंग हैं।"[20]

इस उपन्यास की भाषा हिन्दी गद्य की ताकत और ऊंचाई का एहसास कराती है। भाषा में सहजता और सरलता के बावजूद बेहद व्यंजकता है। व्यंजक भाषा का प्रयोग देखिए, "हुआ यह कि विस्रामपुर पहुंचने पर उनका पहला साक्षात्कार - या उनके नितंबों का पहला साक्षात्कार कमोड से हुआ।"[21] यह एक अनुच्छेद का पहला वाक्य है, इसी से स्पष्ट है कि स्वयं लेखक की चेतना में इस कथन का व्यंग्य क्या और कितना महत्वपूर्ण है। सर्वोदय के आश्रम में संत बनकर रहने गए कुँवर जी की जीवन-पद्धति कैसी होने वाली है, पुरानी जीवन-पद्धति को वे कितना छोड़ने वाले हैं, उन्होंने अपना कितना जीवन दान किया है, कितना सर्वोदयीकरण किया है, इन सारे प्रश्नों का उत्तर उपर्युक्त कथन में मिल जाता है।

उपन्यास में भाषा कहीं भी लचर या ढीली-ढाली नहीं है। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि इस उपन्यास में कथ्य से अधि क उल्लेखनीय भाषा शिल्प है।

संदर्भ सूची

1. शुक्ल श्रीलाल, विस्रामपुर का संत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृष्ठ-22
2. उपर्युक्त, पृष्ठ-24
3. त्रिपाठी अरविन्द, विस्रामपुर के संत की पतनगाथा, नामवर सिंह (सं.), श्रीलाल शुक्ल जीवन ही जीवन, संस्करण, 2005, श्रीलाल शुक्ल अमृत महोत्सव समिति, हौज खास, नई दिल्ली, पृष्ठ-86
4. उपर्युक्त, पृष्ठ-87
5. शुक्ल श्रीलाल, विस्रामपुर का संत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृष्ठ-173
6. उपर्युक्त, पृष्ठ-176

7. उपर्युक्त, पृष्ठ-85
8. उपर्युक्त, पृष्ठ-64
9. उपर्युक्त, पृष्ठ-64
10. उपर्युक्त, पृष्ठ-65
11. उपर्युक्त, पृष्ठ-80
12. उपर्युक्त, पृष्ठ-31
13. उपर्युक्त, पृष्ठ-34
14. उपर्युक्त, पृष्ठ-123
15. उपर्युक्त, पृष्ठ-123
16. शंभुनाथ, राजनीति में मनुष्य की वापसी एक स्वप्न है, नामवर सिंह (सं.) श्रीलाल शुक्ल जीवन ही जीवन, संस्करण 2005
17. शुक्ल श्रीलाल, विस्रामपुर का संत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृष्ठ-86
18. 'उत्तर प्रदेश', लखनऊ, जनवरी 1999, डॉ. पुष्पिता का लेख, पृष्ठ-13
19. 'उत्तर प्रदेश', लखनऊ, जनवरी 1999, डॉ. पुष्पिता का लेख, पृष्ठ-14
20. 'उत्तर प्रदेश', लखनऊ, जनवरी 1999, डॉ. खगेन्द्र ठाकुर का लेख, पृष्ठ-23
21. शुक्ल श्रीलाल, विस्रामपुर का संत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृष्ठ-81

मिथिलेश्वर के उपन्यास 'माटी कहे कुम्हार से' में नारी संघर्ष

डॉ० बृजेन्द्र पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, मानव संसाधन विकास केन्द्र, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर

व्यक्ति स्वयं अपने विचारों, मान्यताओं, आदर्शों और रीतियों द्वारा समाज व्यवस्था का नियमन करता है, लेकिन परिवर्तन की प्रक्रिया में एक समय में बने नियम आने वाले समय में रूढ़ सिद्ध हो जाते हैं और परिस्थिति के अनुरूप व्यक्ति स्वयं निर्मित नियमों को तोड़कर नये आदर्शों, विचारों, मान्यताओं, रीतियों-नीतियों को अपनाता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में पुरुष प्रधान समाज होने के नाते परिवार में जितने नियम नारी के लिए बने हैं उतने पुरुष के लिए नहीं। नारी भी मूक भाव से इन नियमों का पालन करना अपना धर्म समझती है। कोल्हू के बैल की तरह पिस जाती है पर ऊ तक नहीं करती। वर्तमान हिन्दी आलोचना और साहित्य में समाज की उन जड़-परम्पराओं का विरोध किया है जिनसे नारियों का विकास अवरुद्ध होता है।

'माटी कहे कुम्हार से' उपन्यास में भी लेखक (मिथिलेश्वर) ने 'मुनिला' के माध्यम से यह सत्य उजागर किया है कि पुरुष द्वारा शोषण को मूक भाव से सहने का अर्थ इसे बढ़ावा देना है। उपन्यास का आरम्भ मुनिला की माँ 'कलावती' से होता है। वह एक ऐसी नारी है जो देखने में बहुत सुन्दर है परन्तु वह गूँगी है वह स्वयं जाति से ब्राह्मण थी लेकिन वह यदुवंशी बिसुनदेव से प्यार करती है। उसके पिता उसकी शादी के लिए परेशान थे। वह अच्छा दहेज देकर उसकी शादी किसी अच्छे घर में करना चाहते हैं पर अनेक प्रयत्नों के बाद भी यह सम्भव नहीं हो पा रहा था। कलावती बिसुनदेव से प्यार करती थी चूँकि कलावती गूँगी थी इसलिए कुछ कह नहीं पाती। उनका प्यार इस सीमा तक पहुँच चुका था कि उन दोनों में शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि कलावती गर्भवती हो जाती है। इस बात का पता जब कलावती के घरवालों को चलता है तो वह बिसुनदेव को दोषी मानते हैं। इसी बीच बिसुनदेव कलावती को घर से भगाकर नरही की झोंपड़ी में ले जाता है। उसी झोपड़पट्टी में बैशाख की एक रात कलावती ने एक बच्ची को जन्म दिया उस बच्ची का नाम था 'मुनिला'।

बच्ची के जन्म के बाद कलावती भी बिसुनदेव के साथ खेतों में काम करने जाती थी परन्तु एक दिन सड़क पर जाते दो गुण्डे जागा और तेगा कलावती को गोली मार उसकी मृत्यु कर देते हैं। छोटी बच्ची मुनिला अब अपनी बूढ़ी दादी और पिता के पास रह गई थी। कुछ समय बाद पिता भी उसे छोड़ मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं अब बच्ची (मुनिला) का इस दुनिया में एक मात्र सहारा दादी रह गई थी। परन्तु जाड़े की एक रात बुढ़िया दादी को तेज बुखार आया और वह भी मृत्यु को प्राप्त हो गई। मुन्नी (मुनिला) इस दुनिया में अकेली रह गयी थी। जब उसकी माँ की मृत्यु हुई तब वह बहुत छोटी थी। पिता का मरना भी उसने सिर्फ सुना ही था। लेकिन बुढ़िया दादी को मरते हुए अपनी आँखों से देखा था। अब मुनिला इस दुनिया में अकेली रह गई थी। उसके जीवन के संघर्ष की शुरूआत हो गई थी। वह अकेली इस बस्ती में रहती थी। सुबह जल्दी उठकर काम पर चली जाती।

शाम को घर आकर खाना बनाती और खाकर सो जाती। एक दिन उसकी मुलाकात मुनीलाल से होती है। मुनीलाल से उसकी मुलाकात उसकी बस्ती में होती है। वह देखती है कि रात के समय बाहर से भागता एक व्यक्ति उसके दरवाजे आ खड़ा होता है वह मुनिला से याचना करता है "मेरे दुश्मन पीछा कर रहे हैं क्षणभर के लिए छिप जाने दो। तुम्हारा बड़ा उपकार मानूँगा।"[1]

इसके बाद वह दोनों एक दूसरे से मिलते रहते हैं अत: दोनों शादी के पवित्र बन्धन में बंध जाते हैं। मुनिला अकेली ही रहती थी। मुनीलाल अपने काम के सिलसिले में बाहर ही रहता था। कुछ दिनों बाद वह गाँव छोड़कर 'झाबुआ' गाँव आ गये। यहाँ पहुँच अपने फरारी जीवन को उन्होंने विराम दे दिया मुनिला ने भी अपनी सहमति जतायी "इहाँ हमें कोई नहीं देखेगा इहाँ हम खप जाएँगे। ई गाँव तो अपनी बस्ती जइसी है।"[2] इस गाँव में पहुँच मुनिला एक स्कूल में खाना बनाने का काम करने लगती है। यह गाँव उन्हें सारी खुशियाँ देने लगता है। मुनीलाल को भी रिजावन सेठ के घर काम मिल जाता है। मुनिला की जिन्दगी सही मार्ग पर चलने लगती है।

मुनिला अपने जीवन के दुखों को भूलकर अपनी जिन्दगी को नयी दिशा से शुरू करना चाहती है परन्तु भाग्य का खेल कुछ और ही था। जिस गाँव में मुनिला और मुनीलाल रहते थे उसी गाँव में फूलकेसरी भी रहती थी। वह हमारे सामने एक ऐसी स्त्री के रूप में आती है जो दहेज के लिए परिवार (ससुराल) से शोषित की जाती है। उसके ससुराल वाले उसके मायके वालो से दहेज की माँग करते हैं। वह फूलकेसरी को घर से निकाल देते हैं परन्तु मुनिला परिस्थिति को समझ फूलकेसरी का सही मार्गदर्शन करती है। इस घटना से पता चलता है कि मुनिला परिस्थिति को समझ उसका सामना करने के लिए तैयार रहती है।

मुनिला का जीवन आरम्भ से ही मुश्किलों से घिरा रहा था परन्तु यह घटना उसके जीवन की सबसे दुखद घटना थी। मुनीलाल रिजावन सेठ के घर काम करता था सेठ के बेटे का अपहरण कुछ गुण्डे करते हैं। बेटे को बचाने की कोशिश में मुनीलाल की जान चली जाती है। इस घटना से मुनिला पूरी तरह टूट जाती है। वह अपने सपनों को टूटा हुआ देखती है। उसी गाँव के अध्यापक रमन उसकी स्थिति को समझ उसे अपने दादा की देखभाल के लिए नौकरानी के काम पर रख लेते हैं। उनका सारा परिवार शहर में रहता था। मुनिला पूरे लगन से अपना काम करती है परन्तु रमन के दादा मुनिला के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। दोनों में शरीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे मुनिला गर्भवती हो जाती है। समाज में इज्जत के भय से उन्हें सीने में दर्द होता है और उनकी मृत्यु हो जाती है।

मुनिला का जीवन संघर्ष एक बार फिर हमारे सामने आता है। मुनिला अपना गर्भपात कर देती है। उसका यह कदम उसकी आत्मशक्ति का संकेत करता है। वह अपने निर्णय पर अटल रहती है। वह अपनी जिन्दगी नये सिरे से शुरू करने का फैसला लेती है। वह शहर में "डॉ० रजिया रेहान" के घर काम करना शुरू कर देती है। इस घर में उसे एक नया दृष्टिकोण देखने को मिलता है कि किस प्रकार लोगों में इन्सानियत का अन्त हो रहा है। लोग पैसे के लिए अपनी आत्मा को मारने के लिए तैयार हो जाते हैं परन्तु मुनिला एक ऐसी नारी के रूप में हमारे सामने आती है जो अपनी आत्मा को मार नहीं सकती है। वह न्याय के लिए लड़ने के लिए तैयार रहती है। वह अपने अधिकारों को भी प्राप्त करने का पूरा प्रयास करती है। डॉ. रजिया रेहान के घर उसे वेतन से अधिाक काम लिया जाता था इसलिए वह इस घर में भी काम छोड़ देती है।

इस घटना के बाद मुनिया 'रामप्रसाद' के घर काम करने लगती है। इस घर में भी बेटे-बेटी में भेदभाव को देखकर मुनिला का हृदय काफी दुखी होता। वह इस घर में देखती है कि बेटे को खाना पहनना आदि अधिक दिया जाता है जबकि लड़की को यह कहा जाता है कि वह लड़की है उसे खाकर दूसरे घर ही जाना है। अत: मुनिला अपनी आत्मा की आवाज को दबा नहीं सकती है। वह चाहकर भी लड़की के लिए कुछ नहीं कर पाती है इसलिए वह इस घर में भी काम छोड़ देती है।

मुनिला एक ऐसी नारी है जो अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरुक है। वह चाहती है जिस प्रकार पुरुष अपने अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास करता है उसी प्रकार नारी भी अपने अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे क्योंकि जब नारी अपने अधिकारों के प्रति जागरुक होगी तभी वह पुरुष के सामान अधिकार प्राप्त कर पायेगी।

अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुन अब वह 'मिसिराइन' के घर काम करने लगती है। परन्तु इस घर में भी वह देखती है कि किस प्रकार नारी ही नारी का शोषण करती है। मिसिराइन चाहती है कि हमारे घर बेटा हो जो उनके परिवार का नाम आगे बढ़ाए परन्तु बेटी के जन्म पर सारा घर खामोश हो जाता है। घर में मातम सा छा जाता है। इस स्थिति को देख लगता है कि आज जब जमारे समाज में स्त्री-पुरुष समानता की बात की जाती है परन्तु यह स्थिति भी हमारे समाज में विद्यमान है। मनिला इस स्थिति को देख बहुत दुखी होती है। वह अपनी आत्मा की आवाज को मार नहीं सकती। इस नारी अत्याचार के कारण मुनिला यह निर्णय लेती

है कि वह ऐसे घर में काम नहीं करेगी। इसलिए वह इस घर में भी काम छोड़ देती है। अब मुनिला एक ऐसे घर में काम करने लगती है जो संयुक्त परिवार था 'मुकुलनिवास'।

इस घर के मुखिया मुकुलबाबू थे जब तक वह जीवित थे उनका परिवार संयुक्त रहा परन्तु उनकी मृत्यु होते ही परिवार का विघटन हो जाता है। मुनिला इस घर को अपना घर मानती थी। वह इस घर के लिए परिवार का ही सदस्य समझी जाती थी परन्तु घर का टूटता हुआ देखकर मुनिला इस घर में भी काम छोड़ देती है।

अब मुनिला 'अमीरचंद सेठ' के यहाँ काम करने लगी थी। उसे सेठ के यहाँ काम उसकी खोली की एक दाई ने दिलाया था। सेठ का घर बहुत अच्छा था। वह एक आलीशान कोठी थी। काम मिलने के बाद मुनिला इस घर में बहुत खुश थी। परन्तु इस घर में भी मुनिला के साथ एक घटना घटित होती है। सेठ के बेटे का अपहरण 'जयनाथ' नाम का गुण्डा कर लेता है। वह अपहरण मुनिला का सहारा लेकर करता है। मुनिला न चाहते हुए भी उनका निशाना बन जाती है। परन्तु सेठ और सेठानी को मुनिला पर पूरा विश्वास था। वह जैसे ही पुलिस की सहायता लेते हैं गुण्डा उनके बेटे की हत्या कर देता है। इस घटना के बाद सेठानी अपना मानसिक संतुलन खो बैठती है। मुनिला इस घटना का दोषी स्वयं को मानती है। इसलिए यह निर्णय लेती है कि वह इस घर में काम नहीं करेगी। मुनिला अपने मन आत्मा की आवाज को सबसे ऊपर मानती है क्योंकि उसका मानना है कि अन्याय करने वाले से सहने वाला अधिक दोषी होता है।

मुनिला अपने जीवन के उतार चढ़ाव से बहुत थक चुकी थी। इसलिए वह कुछ दिन आराम करना चाहती थी। सेठ कें घर काम छोड़ने के बाद उन्होंने कुछ दिन किसी भी घर में काम नहीं किया। लगभग तीन सप्ताह बाद मुनिला ने अपने मन के निर्णय पर एक इंजीनियर साहब के यहाँ उसने काम पकड़ा। अब मुनिला को अपनी जान की कोई परवाह नहीं रही थी। इस घटना ने मुनिला के व्यक्तित्व को और विद्रोही बना दिया था। इस स्थिति में वह किसी भी घर अधिक समय के लिए नहीं टिक पाती किसी घर में छह महीने तो किसी घर में आठ माह तो किसी के घर एक साल, इस घटना के बाद वह अनेक घरों में काम कर चुकी थी।

इन सभी घरों में काम करने के बाद मुनिला 'एस.के. सिंह' के घर काम करने लगती है। यह घर बहुत अच्छा था। इस घर में काम उसकी खोली की एक काकी ने दिलाया था। मुनिला मन में यह संकल्प लेती है कि वह पूरी ईमानदारी से इस घर में काम करेगी। वह इस घर में देखती है कि धन का कोई अभाव नहीं था। लेकिन काम करने वाले केवल एस.के. सिंह ही थे। घर का खर्च देख मुनिला यह सोचने के लिए विवश हो जाती है कि आखिर इतना पैसा आया कहाँ से, परन्तु जल्दी ही उसे पता चलता है साहब जो सरकारी नौकर हैं वह सरकारी धन का दोनों हाथों से लूट रहे हैं।

मुनिला इस बात की पक्की जानकारी घर के नौकर शामू से प्राप्त करती है। वह मुनिला को बताता है कि घर का पूजारूम में भी सरकारी धन छिपाया हुआ है जो गमले है उनके नीचे भी सोना है। मुनिला यह सब देखकर हैरान हो जाती है। वह इतने बड़े अन्याय को कैसे सहन कर पाती इसलिए वह इस रहस्य से पर्दा उठाने का प्रयास करने लगती है इसी बीच घर के मालिक को नौकर शामू पर सन्देह होने लगता है वह उसे रास्ते से हटाने के लिए उसे गायब कर उसकी मृत्यु करवा देते हैं परन्तु मुनिला उनकी चाल पूरी तरह समझ जाती है। वह मन में यह निर्णय लेती है कि वह नौकर शामू की हत्या का बदला जरूर लेगी अत: मुनिला इस घर में भी काम छोड़ने का निर्णय ले लेती है "मुनिला नहीं मालकिन अब हम इहाँ काम नहीं कर सकती।"[3] इस पर मालकिन कहती है कि "तो अइसे ही बीच में काम छोड़ देगी तू तो जानती है हम जल्दी किसी को नहीं रखते। मैना के कहन पर तुझे रखा था। तू अब हमारे घर की जानकार हो गयी है...। यहाँ का सब कुछ तेरा देखा-सुना है। हम बीच में दाई नहीं बदलते। इस तरह तुझे बीच में नहीं जाने देंगे।"[4] इस पर मुनिला भी तैश में आ जाती है कहती है जब तक मन किया तो इस घर में काम करती रही परन्तु अब मेरा मन नहीं है इसलिए अब मैं इस घर में काम नहीं करूंगी। परन्तु बहुत सोचने के बाद वह इस घर में रुक जाती है लेकिन इस घर के प्रति उसकी दिनचर्या और रवैये में अब काफी बदलाव आ गया था। अब वह इस घर में आती तो जल्दी-जल्दी काम निपटाकर भागने के फिराक में रहती जैसे वह घर उसे काटने दौड़ रहा हो। वहाँ से लौटते हुए अब खाना भी नहीं ले जाती कह देती "अधिक तेल-मसाले का खाना हमको नहीं पचता।"[5] इस पर मालकिन कहती मुनिला आजकल तू बहुत जल्दी में रहती है क्या बात है। इस पर मुनिला कहती है कि इस घर का सारा काम निपटाकर ही जाती हूँ। खाली बैठना मुझे अच्छा नहीं लगता है बाकी अपनी खोली में भी काफी काम रहता है।

मुनिला को इस घर से पिंड छुड़ाने का अवसर भी मिल ही गया। मुनिला को देर तक इस अर्न्तद्वन्द्व में नहीं रहना पड़ा। एस. के. सिंह के विरोधियों को इनकी लूट की भनक लग गयी थी। एस.के. सिंह अगर अपनी लूट को अपनी अफसरशाही के दायरे में ही सीमित रखते तो किसी का भी ध्यान उनकी ओर नहीं जाता लेकिन सरकारी मन्त्रियों के सहयोग और संकेत पर यह सब कर वे फँस गये थे। उनकी विपक्षी पार्टी थी 'जनहित सेवादल।'

इस पार्टी के हाथ एस.के. सिंह के खिलाफ सुराग हाथ लग गया था। सुराग पाते ही अपने प्रभाव एवं सम्पर्कों से उनके घर छापेमारी करा दी जाती है जिसमें एस.के. सिंह के पूजा घर के खजाने और गमलों के सोने तक का रहस्य सामने आ जाता है। इस घटना के बाद मुनिला इस घर से भी काम छोड़ देती है। मुनिला जिन घरों में काम छोड़ती थी फिर लौटकर वहां नहीं जाती थी। उन घरों से छूटते ही सीधे अपनी खोली भागती थी फिर पाँच-सात दिनों तक कहीं कोई काम भी नहीं पकड़ती। जब उसका मन शान्त सहज हो जाता तभी कोई नया काम हाथ में लेती। लेकिन एस.के. सिंह का यह पहला घर था जहाँ से छूटकर वह अपनी खोली नहीं पहुँची। सीधे 'जनहित सेवादल' चली गई। वह आवेश और आवेग में थी। उसने पहुँचते ही वहाँ उपस्थित लोगों से पूछा "गगन बिहारी जी कहँवा है बहुत जरूरी काम है।"[6] मुनिला गगनबिहारी से मिलकर एस.के. सिंह की सारी सच्चाई बता देना चाहती थी और हुआ भी वैसा ही। मुनिला ने सारी सच्चाई पार्टी सुप्रीमो गगन बिहारी को दे दी। एस.के. सिंह और धीरज को गिरफ्तार कर लिया गया। अब मुनिला अपनी खोली लौट जाना चाहती थी परन्तु पार्टी के लोगों ने उनसे कहा अध्यक्षजी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम आपको उनके पास लेने आए हैं।

दूसरे दिन सुबह मुनिला पहले वाली मुनिला नहीं रह गई थी। मीडिया ने मुनिला को रातों-रात स्टार बना दिया था। इस घटना के बाद गगन बिहारी ने मुनिला को अपनी पार्टी में शामिल कर लिया। नौकरानी मुनिला ने अपनी बहादुरी से लोकतंत्र में लूट मचाने वाले व्यक्तियों को बेनकाब किया। इन खबरों से अवगत पार्टी सदस्य और जिज्ञासा नागरिक मुनिला को देखने और उससे मिलने पार्टी के आवासीय परिसर पर जुटने लगे। लोगों के सामने मुनिला बहादुरी की मिसाल थी। मुनिला न चाहते हुए भी पार्टी में शामिल हो गई। पार्टी में उसे शारदा दीदी का साथ मिला। वह उसे हर कदम पर सही गलत की पहचान कराती। मुनिला अब पार्टी की सदस्य बन चुकी थी। उसे इस ऐशो-आराम में अपने पिछले जीवन की सारी बातें याद आने लगती हैं। उसके बाद जैसे-जैसे चुनाव नजदीक आता है मुनिला की गतिविधियां बढ़ती जा रही थी। मुनिला ने पार्टी में जान फूक दी थी। मुनिला का सपना एक बेहतर समाज की स्थापना थी। मुनिला राजनीति में आना नहीं चाहती थी।

परिस्थितियों से विवश होकर उसे राजनीति में आना पड़ता है। परेशानी में मुनिला को शिवबचन काका की यह बात याद आने लगती है "तुम चाहकर तो राजनीति में आयी नहीं हो। अन्याय का विरोध के लिए तुझे यहाँ आना पड़ा है। लेकिन जब यहाँ आ गयी हो तो यहाँ रहते हुए लगातार अन्याय के खिलाफ लड़ते जाने में ही तुम्हारी सार्थकता है। तुम यहाँ से भाग जाओगी तो उन लोगों के मन को धक्का लगेगा जिनका विश्वास तुझ पर कायम हो गया है।"[7]

मुनिला पार्टी प्रचार के लिए अनेक सभाओं में भाग लेती है। उसके अनेक भाषण भी होते हैं। मुनिला राजनीति की डोर पकड़ लेती है। राजनीति की पहली बात जाति और धर्म को मानती है। रविवार के दिन 3.00 बजे शहीद चौक की सभा में वह मंच पर आई ही थी। मुनिला ने एक वाक्य भी पूरा नहीं किया था कि भीड़ के बीच से सनसनाती आयी दो गोलियों ने धायँ-धायँ की आवाज़ के साथ पलक झपकते ही उसे मंच पर ढेर कर दिया। मुनिला खून से लथपथ थी। मुनिला अब गुजर चुकी थी। मुनिला की हत्या के बाद केवल वही लोग उसके पास रह गए थे जिन्हें सही शब्दों में मुनिला से हमदर्दी थी। उसमें प्रमुख थे वे लोग जो मुनिला को अपने नियमों के अनुसार ठीक लगे। अब विपक्षी पार्टियों ने भी अलग-अलग प्रैस वक्तव्य जारी कर इस बात का खुलासा किया था कि स्वयं गगनबिहारी ने ही मुनिला की हत्या करायी है। वह मुनिला को अपने लिए खतरा महसूस कर रहा था इसलिए उन्होंने मुनिला को अपने रास्ते से हटा दिया। विपक्षी पार्टियों ने इस घटना की जाँच सी.बी.आई. से करने की माँग करते हैं। शिवबचन काका कहते हैं समाज ने करवट ले ली है इससे पहले भी ऐसी हत्याएँ होती थीं परन्तु उन हत्याओं के विरोध में इतनी भीड़ नहीं उभरती थी। यह अचानक और ऐसे ही नहीं हुआ था। बदलाव का यह साफ संकेत था समाज के लिए जो मर जाते हैं। मुनिला ने तो इसे अब चरम पर पहुँचा दिया था। मुनिला की यह घटना सामान्य घटना नहीं थी। यह घटना समाज को बदलने की शुरूआत थी। अब

मुनिला अनेक रूपों में सामने आने लगी थी। मुनिला का मतलब 'विद्रोह', मुनिला का मतलब 'निर्भीक्ता', मुनिला का मतलब 'साहसपुंज', मुनिला का मतलब 'बदलाव की नयी हवा', मुनिला का मतलब 'दलित और पिछड़े वर्ग का जागरण', मुनिला का मतलब 'धर्म-निरपेक्षता की ताकत'।

जमीनी संघर्षों की उपज मुनिला का जीवन अब समाप्त हो गया था। जीवन में कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए भी वह कभी हार नहीं मानती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 26
2. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 81
3. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 404
4. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 404
5. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 405
6. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 412
7. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, पृ० - 496

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में चंपारण सत्याग्रह की भूमिका

राकेश कुमार बैठा

पीएचडी., जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा

मो. असलम

पीएचडी., जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा

1917 ई. भारतीय इतिहास का सृजनात्मक एवं चमत्कारी काल माना जाता है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने सदैव अन्याय के विरूद्ध आवाज उठायी है। 1917 ई. की रूसी क्रान्ति ने विश्व में विभिन्न स्थानों पर हो रहे अत्याचारों व शोषक प्रवृतियों के विरूद्ध संधर्षरत जनसमुहों की आवाज को और भी सशस्त बनाया। भारतीय जनता ने भी इससे प्रेरित होकर उनपर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठायी। भारतीयों ने इस समय अपना विरोध प्रकट करने के लिए पारम्परिक तरीकों का चयन किया। इस समय तक भारतीय राजनीतिक नभमंडल पर महात्मा गाँधी का आर्विभाव हो चुका था तथा उन्होंने भारतीयों को विरोध प्रदर्शित करने का एक नवीन मार्ग सुक्षाया। यह मार्ग था ''सत्याग्रह''।

इसके द्वारा ही महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रिका में अपने उदेश्यों में सफलता प्राप्त की थी। यह पूर्णतया 'अहिंसात्मक' तरीका था। 'सत्याग्रह' को परिभाषित करते हुए स्वयं गाँधी ने कहा था ''सत्य पर अटल रहना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह असत्य को सत्य से व हिंसा को अहिंसा से जीतने का नैतिक अश्त्रा है। इसका उदेश्य धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर, अहिंसात्मक एवं उचित तरीके से सत्य को प्रकट करना, भूलों को सुधारना एवं भूल करने वालों का हृदय परिर्वतन करना हैं, सत्याग्रह एक सरल किन्तु अचूक उपाय है।''

गाँधीजी अपने राजनीतिक गुरू गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से प्रेरित होकर ''ठहरो'' स्थिति का अध्ययन करो और आगे बढो'' की नीति अपनाते हुए उन्होंने तत्कालीन राजनीति का सुक्ष्म अध्ययन किया और वे देश के कोने-कोने में गए ताकि लोगों की सही आर्थिक, सामाजिक एवं राजनितिक स्थिति जान सकें।

दक्षिण अफ्रिका में प्राप्त की गई सफलताओं ने गाँधी के भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। इसी संधर्ष की अवधि में उन्होने सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित 'सत्याग्रह' नामक नवीन संधर्ष प्रणाली का विकास किया। उनके विचार में सत्याग्रह एवं ऐसा आध्यात्मिक सिधान्त है जो मानव-मात्र से प्रेम पर आधारित है। इसमें विरोधियों के प्रति घृणा का भाव नहीं है। एक आदर्श सत्याग्रही सत्य एवं शांति का प्रेमी होता है वह बुराई से घृणा करता है, बुरों से नहीं।

गाँधी सत्य के समान अहिंसा पर भी बल देते थे। इनका मानना था कि अहिंसा में सभी समस्याओं के निराकरण करने की अद्‌भुत क्षमता है। उन्होंने अहिंसा कायरता और दुर्बलता का नहीं बल्कि वीरता, दृढ़ता और निड़रता का प्रतीक बताया।

गाँधीजी साधनों की पवित्रता एवं श्रेष्टता में विश्वास करते थे। इनका मानना था कि लक्ष्य तो उच्च होना ही चाहिए लेकिन साधन का भी उच्च होना आवश्यक है। उनका यह भी मानना था कि उच्च साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी श्रेष्ठ होना चाहिए।

इन्हीं अवधारणाओं को महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का अमोध अस्त्र बना कर भारतीय राजनीति में अपना अंगद कदम रखा और 'सत्याग्रह' जैसे अस्त्र का प्रयोग करते हुए चम्पारण की ओर 1917 ई. में कूच करने का प्रण लिया।

चम्पारण में नील की खेती क्यों ?

नीलहे गोरों ने चम्पारण को नील की खेती के लिए क्यों चुना यह एक प्रासांगिक प्रश्न है?

चूंकि देहातों में यह पूर्व कहावत है ''धन देश (ईलाका) मझौवा (प्रगाना) जहाँ भात न पूछे कौवा''।

यह कहावत इसलिए प्रासांगिक है कि चम्पारण की धरती अपनी उर्वरता के लिए लोक प्रसिद्ध है। यहां की मिट्टी में इतनी उर्वरक शक्ति है कि यह सोना उगलती है। यहाँ धान की खेती, गेहूं की खेती, गन्ने की खेती, रवी की खेती होती है और अपने अच्छी उपज के लिए लोक प्रसिद्ध है।

जब अंग्रेजो ने चम्पारण की उर्वरक मिट्टी की बखान को सुना तो वे अपने आपको इधर आने से रोक न सकें। आने के बाद यहां की शस्य श्यामला मुग्धकारी, मनुहारी भूमि पर बस गए तथा अपनी जमीनदारियां स्थापित की और अपनी सामन्तवादी पद्धति को लागू कर अपनी कोठियां स्थापित की।

चूंकि औद्योगिक क्रान्ति का तुफान इग्लैंण्ड में चल चूका था। मैनचेस्टर की फैक्ट्रियों के लिए अंग्रजों को कच्चेमालों की आवश्यकता थी। अस्तु इन अंग्रजों ने अपने कपड़ों की फैक्ट्रियों के लिए रंग की आवश्यकता महसूस की। नील उनके लिए काफी उपयुक्त नजर आया और इन लोगों ने चम्पारण में नील की खेती करना आवश्यक समझा। चूँकि चम्पारण की उपजाऊ भूमि प्राप्त हुयी। सिंचाई की सुविधा में भी उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदत छोटी नदियाँ, नाले, आहर प्राप्त हो गए जिससे बिना किसी तरह के खर्च के सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो गयी। जिससे नील के पौधों की सिंचाई भी होने लगी। अत: कम खर्च में नील की खेती होने लगी और अधिक मात्रा में उत्पादन होने लगा। इनकी जमीनदारियों में बसने वाली जनता इनका गुलाम बन जाती थी। जिन्हें कम मजदूरी देकर ये अपने खेतों में काम जबरन कराते थे। साथ ही अधिक समय तक काम लेकर कम मजदूरी देना वे अपना नैतिक दायित्व समझते थे।

19वी. सदी के प्रारम्भ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबन्ध किया जिसके अनुसार किसानों को अपनी जमीन के 3/20वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। इसे 'तिनकठिया' पद्धति कहा जाता था। इसके तहत उन्हें जबरन अपनी जमीन में नील की खेती करना पड़ता था। जिससे अन्य फसल उगाने में वे मजबूर हो जाते थे।

गोरे बगान मालिकों का आदेश नहीं मानने वाले निरिह जनता पर उनके द्वारा कोड़े बरसाये जाते थे, घोड़े के पैर में बांध कर उन्हें मीलों घसिटा जाता था तथा स्वर्निमित जेलो में भूखे-प्यासे रखा जाता था, तथा लोहे की गर्म सलाखों से दागा भी जाता था। इस तरह एक तरफ उन्हें अपनी जमीन में अन्य फसल नहीं उपजाने के कारण उनके परिवार का भरण-पोषण होना नामुमकिन हो जाता साथ उनके खेतों में उपजी नील का सही मूल्य भी नहीं मिल पाता था।

अपनी जमीन में खेती करने के लिए उन्हें मालिकों को लगान की दर भी काफी अधिक देनी पड़ती थी। लगान की दर नहीं अदा करने पर अपनी जमीन मालिकों को दे देने पर मजबूर होना पड़ता था। जिससे किसानों की स्थिति इतनी दारूण हो गयी कि वे आह से अपनी भूख और आँसुओं से अपनी प्यास बुझा लेते थे।

पं. राजकुमार शुक्ल द्वारा गाँधीजी को चम्पारण आने हेतु आमंत्रण

पं. राजकुमार शुक्ल चम्पारण की धरती के सच्चे सपूत और नीलहे आन्दोलन के अग्रणी नेता थे। इनका निवास स्थान चनपटिया प्रखण्ड के सतवारिया ग्राम में था। वे स्वयं एक किसान थे जो चम्पारण की जनता पर नीलहे गोरों द्वारा किए जा रहे अत्याचार से काफी दु:खी रहा करते थे। परन्तु इन्हें इस विपत्ति से त्राण दिलाने का कोई विकल्प नजर नहीं आता था।

पं. राजकुमार शुक्ल जी को जब यह ज्ञात हुआ कि गाँधीजी नाम का एक भारत का महान सपूत दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेजों के जुल्म से भारतीयों को राहत दिलवाया है, तो उनके मन में यह जिज्ञासा हुयी कि शायद इसी महान सपूत से हम चम्पारण वासियों को अंग्रेजों के इस जुल्म से त्राण दिलवायेंगे। जब उन्हें यह सूचना प्राप्त हुयी कि गाँधीजी जैसा भारत का महान सपूत भारत लौटा है और कांग्रेस में शामिल हो गया है, तो उन्हें यह आशा जगी कि इसी महान सपूत से चम्पारण की जनता को अंग्रेजो के अत्याचार से राहत मिल सकेगी। पं. राजकुमार शुक्ल जी को यह पता चला कि दिसम्बर 1916 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होने जा

रहा है जिसमें गाँधीजी भी शामिल होगें, तो उन्हें अधेरे में एक चिराग टिमटिमता नजर आने लगा। वे लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने और चम्पारण की दुर्दशा सुनाने का प्रण लिया।

वे इस कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने गए और किसानों के प्रति अंग्रेजो द्वारा किए गए कठोर व्यवहार और अत्याचार की चर्चा की। साथ ही गाँधीजी से चम्पारण की दुर्दशा देखने और उससे त्रण दिलाने हेतु अनुनय-विनय किया एवं चम्पारण आने का आमंत्रण दिया। साथ ही 'तिनकठिया' पद्धति से मुक्ति दिलाने का विनय किया। इसे सुनकर गाँधी जी को काफी दु:ख हुआ और इससे मुक्ति दिलाने का आश्वासन दिया।

चम्पारण के इस महान सपूत किसान पं. राजकुमार शुक्ल के अनुरोध पर गाँधी जी 1917 में चम्पारण पहुँचे। चम्पारण पहुँच कर गाँधीजी ने नील-किसानों की समस्या को सुना एवं सही पाया। जांच के क्रम में गाँधीजी को चम्पारण से चले जाने की सरकारी नोटिश दी गयी।

सरकारी आदेश की अवहेलना के कारण उनपर मुकदमा भी चलाया गया। गाँधीजी के प्रयासों से सरकार ने चम्पारण के किसानों की जांच हेतु एक आयोग नियुक्त किया। गाँधीजी को भी आयोग के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। अन्तत: गाँधीजी की जीत हुयी। आयोग ने चम्पारण से 'तिनकठिया' पद्धति को समाप्त कर दिया और अंग्रेजो को अवैध वसूली का 25 प्रतिशत वापस करना पड़ा। इस प्रकार चम्पारण के रैयतों की समस्याओं का एक सीमा तक अन्त हो गया। 1917 ई. तक का अधिकांश समय महात्मा गाँधी को चम्पारण के किसानों के लिए काश्तकारी की सुरक्षा के साथ-साथ अपनी पसन्द की फसल उपजाने की आजादी दिलाने में बीता। यह अंग्रेजो पर भारत वासियों की पहली विजय का प्रतीक माना जाता है, जिसकी प्रारम्भ चम्पारण से माना जाता है।

उपसंहार

चम्पारण सदियों से इतिहास की पृष्ठभूमि का आधार स्तंभ रहा है, उपेक्षाओं का शिकार है। चम्पारण की यह भूमि महार्षि बाल्मिकी की तपोभूमि रही है जिन्हें अंगुली माल डाकू से महर्षि बनाया। अयोध्या के राजा श्रीराम के दोनों पुत्र क्रमश: लव और कुश की जन्मभूमि बाल्मीकी नगर के जंगलो में बाल्मीकी महर्षि के आश्रम में हुआ। जनक नन्दनी सीता की शरणस्थली इसी महर्षि के आश्रम में रही है, इससे स्पष्ट होता है कि विदेह राजा जनक की राज्य सीमा चम्पारण की सीमाओं को छूती थी। यद्यपि यह शोध का विषय है। चम्पारण नन्दवंश के राजाओं के साम्राज्य को पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर प्रदान किया। परन्तु निरंकुशता को प्रकठा पर पहुँचते देखकर उसका अन्त करने में पूर्णत: सहयोग भी किया। जिसका प्रमाण लौरिया का नन्दनगढ़ है।

यह भूमि महान राजनीतिज्ञ और राजनीति के मर्मज्ञ चाणक्य की कर्मभूमि भी रही है जिसने चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे भारत के सम्राट को पैदा किया जिसकी जन्मभूमि संभवत: चम्पारण में ही रही है। यद्यपि अभी तक इसका ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है और यह शोध का विषय बना हुआ है। महान सम्राट विक्रमादित्य का भी साम्राज्य यहाँ रहा है और अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव में तपस्या एवं शांति के लिए चम्पारण के जंगलों में ही रहे है। भारत के सम्राट अशोक के साम्राज्य की सीमा चम्पारण तक रही है जिसके प्रमाणिक प्रतीक के रूप में लौरिया का अशोक स्तंभ है।

महात्मा गाँधी को भी भारत का राष्ट्रपिता कहलवाने का श्रेय शायद चम्पारण को ही जाता है जहाँ से गाँधीजी अपना आन्दोलन प्रारम्भ कर भारत को अंग्रेजी साम्राज्य से आजाद कराने का स्वप्न देखे थे।

आज भी सभी पार्टियों के नेता चम्पारण से ही अपनी राजनीतिक यात्रा प्रारम्भ कर भारत के विभिन्न पदों को सुशोभित होते है।

इन संदर्भों के सिहांवलोकन से स्पष्ट होता है कि चम्पारण एक पारस पत्थर के रूप में है जो सबों को सोना तो बना ही देता है स्वयं पत्थर का पत्थर ही रह गया।

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1. बिहार राज्य अभिलेखागार निदेशालय बिहार सरकार, पटना
2. Bihar district Gazetteer, Champaran. P.C. Roy Chaudhary – Secretariate press, Patna.
3. बिहार राज्य विधायिका सभा वादवृत (सरकारी रिपोर्ट राजकीय मुद्रणालय, बिहार, पटना)
4. The Journals of Bihar March & June 1933
5. जब गाँधीजी चम्पारण आये- डॉ. डी.जी. तेन्दुलकर की पुस्तक- Gandhi in Champarna का हिन्दी रूपान्तरण राजभाषा विभाग, पटना।
6. बिहार स्वंतत्रता संग्राम से जुटे हुए बिहार के कुछ ऐतिहासिक स्थल के विवरण- मंत्रीमंडल सचिवालय एवं समन्वय विभाग, पटना (बिहार)
7. बिहार विधानसभा वादवृत रिपोर्ट (सरकारी रिपोर्ट).
8. असरफ कादरी- राष्ट्रीय आन्दोलन और चम्पारण के स्वंतत्रता सेनानी।
9. राधा गोविन्द प्रसाद & Secretariate Patna 1976.
10. National Movement in India – Dr. Rajendra Prasad.

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों के सामाजिक आयाम की ऐतिहासिकता

डॉ० उदय कुमार पासवान

पूर्व शोध छात्र, इतिहास विभाग, अल्लमा इक़बाल कॉलेज, बिहारशरीफ (नालंदा) बिहार

परिचय

छठी शताब्दी ई. पू. में भारत वर्ष की धार्मिक एवं वैचारिक मान्यताओं में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। वैदिककालीन जटिल, कर्मकाण्डों एवं ब्रहाणों की धार्मिक एवं सामाजिक सर्वोच्चता एवं जटिलता के खिलाफ कई धर्मों एवं पंथों का उदय हुआ, जिनकी मान्यताएँ तत्कालीन, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुकूल थी। वैदिकोत्तर काल में समाज स्पष्टत: चार वर्णों में विभाजित था-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हर वर्ण के कर्त्तव्य अलग-अलग निर्धारित थे और ऊपर के दो वर्णो को कुछ विशेषाधिकार दिये गए थे।

ये समाज में अपना स्थान सबसे ऊँचा होने का दावा करते थे। वर्णक्रम में क्षत्रियों का स्थान दूसरा था। वैश्य का स्थान तीसरा जो पशुपालन और व्यापार करते थे। शूद्रों का स्थान वर्णक्रम में सबसे नीचा था जो उन तीनों वर्णो की सेवा करते थे। यह स्वभाविक ही था कि इस तरह के वर्ण-विभाजन वाले समाज में तनाव पैदा हो। इन्हीं वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध एक प्रकार धार्मिक आंदोलन प्रारम्भ हुआ। इन धार्मिक आंदोलन में जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म को अधिक लोकप्रियता मिली।

उद्धेश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य नये धार्मिक विचारों के उद्भव की पृष्ठभूमि, जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म के सिद्धांतो की चर्चा करना, इन धर्मो का तात्कालीन सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव परे तथा इन दोनों धर्मो के सामाजिक जीवन का तुलनात्मक अध्ययन करना है।

विश्लेषण

छठी शताब्दी ई. पू. में मध्य गंगा घाटी के लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की नयी विशेषताएँ वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञ से मेल नहीं खाती थीं। यज्ञ और कर्मकाण्ड पशुधन के अंधाधुंध विनाश के कारण वन गये थे, जबकि पशुधन ही हलों से की जानेवाली नयी खेती का मुख्य आधार था।

वैदिक धार्मिक विचार उदीयमान सामाजिक समूहों की प्रगति में बाधक बन रहे थे। अत: छठी शताब्दी ई. पू. में ऐसे धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की आवश्यकता महसूस हुई जो लोगों के भौतिक जीवन में आये बुनियादी परिवर्त्तनों से मेल खाते हों। इस आवश्यकता की पूर्त्ति हेतु कई धार्मिक शिक्षक आगे आये। छठी शताब्दी ई. पू. में बौद्ध श्रोतों में 62 धार्मिक सम्प्रदायों का और जैन पाठों में तो 363 सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है। इनमें से अनेक क्षेत्रीय रीति-रिवाजों तथा कर्मकाण्डों पर आधारित थे, लेकिन उनमें से कुछ ने दार्शनिक विचारों को जन्म दिया।

पूरण काश्यप नामक आचार्य घोर अक्रियावादी था। उसका मत था कि चोरी, डकैती, हत्या, झूठ आदि पाप नहीं है और दान, जप, तप, सत्य से किसी प्रकार का पुण्य प्राप्त नहीं होता है अर्थात कर्मो का कोई फल नहीं होता है। मक्खलि गोशाल नामक आचार्य

ने आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। गोशाल की शिक्षा का मुख्य आधार नियतिवाद था। उसके अनुसार सभी प्राणी भाग्य अथवा नियति के अधीन है। उसमें न बल है और न पराक्रम। उनका मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु से शरीर निर्मित है। मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं बचता है। पाप-पुण्य तथा सत्य-असत्य की कल्पना झूठी है। पकुध कात्यायन नामक आचार्य पुर्नजन्म एवं कर्म की महत्ता को नहीं मानता था। उसके अनुसार जिस प्रकार मिटी, जल, वायु और प्रकाश शाश्वत है उसी प्रकार दु:ख, सुख और जीवन भी शाश्वत है तथा इनका विनाश नहीं हो सकता है। इनका सिद्धांत नितांत भौतिवादी है।

संजय वेलट्ठिपुत्र अनिश्चयवादी था। उनके अनुसार न यही कहा जा सकता है कि परलोक है और न यह कि परलोक नहीं है। जीवन संबंधी किसी भी प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर संभव नहीं है। छठी शताब्दी की इस अनीश्वरवादी धार्मिक उथल-पुथल ने समाज पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी किन्तु तत्कालीन, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को सबसे अधिक वर्द्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध की शिक्षाओं ने प्रभावित किया। इनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ही भारत में स्वतंत्र धर्म के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रख सका।

जैन धर्म

जैन परम्परा के अनुसार इस धर्म में 24 तीर्थंकर हुए है। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे किन्तु 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को छोड़कर पूर्ववर्त्ती तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। वर्द्धमान महावीर का जन्म 540 ई. पू. में वैशाली के निकट कुंडग्राम में ज्ञातृक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। इनके पिता सिद्धार्थ इस गणराज्य के प्रमुख थे तथा इनकी माता लिच्छवि राजकुमारी त्रिशला थी जो लिच्छवि गणराज्य प्रमुख चेटक की बहन थीं। वर्द्धमान के जन्म पर देवताओं की भविष्यवाणी हुई कि ये भविष्य में या तो चक्रवर्ती राजा होंगे या परम ज्ञानी भिक्षु।

स्वाभाविक रूप से वर्द्धमान का प्रारंभिक जीवन सुख-सुविधापूर्ण था। बड़े होने पर उनका विवाह यशोदा नामक एक राजकुमारी से हुआ और उससे उन्हें प्रियदर्शना नामक एक पुत्री पैदा हुई। जब वर्द्धमान तीस वर्ष के हुए, तब उनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई और वर्द्धमान के बड़े भाई नंदिवर्धन राजा हुए। वर्द्धमान प्रारंभ से ही चिन्तनशील स्वभाव के थे। अब उनमें त्याग की भावना पूर्णत: जागृत हो चुकी थी। अन्तत: अपने बड़े भाई से आज्ञा लेकर घर त्याग दिया और निर्ग्रन्थ भिक्षु का जीवन धारण कर तपस्या में लीन हुए। ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की। एक वर्ष एक महीने के बाद उन्होंने वस्त्र त्याग दिया और नग्न अवस्था में ही तपस्या करने लगे। 12 वर्ष तक शरीर की चिंता नहीं करके वे हर प्रकार के कष्ट सहते रहे। बारह वर्ष की घोर तपस्या के बाद 42 वर्ष की उम्र में उन्हें जुम्भिय ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर कैवल्य की प्राप्ति हुई।

जैन धर्म के सिद्धांत

जैन धर्म में संसार दु:खमूलक माना गया है। मनुष्य जरा तथा मृत्यु से ग्रस्त है। व्यक्ति को सांसारिक जीवन की तृष्णाएँ घेरे रहती है। सम्पति संचय के साथ ही मनुष्य की कामना रूपी पिपासा बढ़ती जाती है, जिसका कोई अंत नहीं है। काम-भोग, विष के समान है जो अंतत: दु:ख को ही उत्पन्न करते हैं। संसार त्याग तथा सन्यास ही मनुष्य को सच्चे सुख की ओर ले जा सकते है। जैन धर्म के अनुसार सृष्टि के रचयिता ईश्वर नहीं है, किन्तु संसार को एक वास्तविक तथ्य माना गया है, जो अनादि काल से विद्यमान है।

संसार के सभी प्राणी अपने अपने संचित कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं तथा कर्मफल भोगते हैं। कर्मफल ही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। जैनधर्म में सांसारिक तृष्णा बंधन से मुक्ति को 'निर्वाण' कहा गया है। कर्मफल से छुटकारा पाकर ही व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि पूर्व जन्म के संचित कर्म को समाप्त किया जाय और वर्त्तमान जीवन में कर्मफल के संग्रह से व्यक्ति विमुख हो। कर्मफल से छुटकारा पाने के लिए त्रिरत्न का अनुशीलन आवश्यक है।

- जैनधर्म के त्रिरत्न-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण।
- जैनधर्म के पाँच महाव्रत-

  क) अहिंसा,

ख) सत्य,

ग) अस्तेय,

घ) अपरिग्रह,

ण) ब्रह्मचर्य।

- कायाक्लेश–जैनधर्म में तप पर अधिक बल दिया गया है।

जैन धर्म में ही सबसे पहले वर्णव्यवस्था तथा वैदिक कर्मकाण्ड की बुराईयों को रोकने के लिए गंभीर प्रयास किया। अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए जैनियों ने ब्राह्मनों की भाषा संस्कृत का नहीं बल्कि सामान्य जन की भाषा प्राकृत का सहारा लिया। उन्होंने अर्द्धमागधी में भी अपने धार्मिक ग्रंथ लिखे। इसी से आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं में उदय में सहायता मिली।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था जो कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के प्रमुख थे। उनकी माता का नाम महामाया था। 563 ई. पू. में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी में आम्र कुंज में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। 16 वर्ष की आयु में इनका विवाह यशोधरा से हुआ। इनको राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, किन्तु बचपन से ही सिद्धार्थ चिन्तनशील रहा करते थे।

सांसारिक सुख उन्हें आकर्षित नहीं कर पाता था। संसार के दु:ख को देखकर वे इससे मुक्ति का उपाय ढुँढ़ा करते थे। चार दृश्य देखने के बाद इनके मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हुई। ये दृश्य थे–वृद्ध, रोगी, मृत व्यक्ति तथा आनंदित सन्यासी। सच्चे ज्ञान की खोज के लिए सिद्धार्थ ने 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया। सात वर्षों तक वे ज्ञान की खोज में विभिन्न आचार्यों के पास भटकते रहे। अन्त में उन्हें 35 वर्ष की उम्र में गया में पीपल वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने अपना पहला उपदेश सारनाथ में दिया। इसे धर्मचक प्रवर्तन कहते हैं। वे आजीवन अपने धर्म का प्रचार करते रहे।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत

बौद्ध धर्म का मूल आधार चार आर्य सत्य है। ये चार आर्य सत्य है– दु:ख, दु:ख समुदाय, दु:ख निरोध तथा दु:ख निरोध गामिनी प्रतिपदा अर्थात अष्टांगिक मार्ग। बुद्ध के अनुसार मनुष्य का सारा जीवन दु:ख से भरा हुआ है। जन्म दु:ख है, व्याधि दु:ख है, मरण दु:ख है, अप्रिय मिलन दु:ख है तथा प्रिय वियोग भी दु:ख है। इस दु:ख का मूल कारण तृष्णा है। दु:ख के उन्मूलन हेतु तृष्णा को खत्म करना आवश्यक है। अष्टांगिक मार्ग ही दु:ख को समाप्त करने का मार्ग है। ये आठ मार्ग है।

(i) सम्यक् दृष्टि।

(ii) सम्यक् संकल्प।

(iii) सम्यक् वाणी।

(iv) सम्यक् कर्म।

(v) सम्यक् आजीव।

(vi) सम्यक् व्यायाम।

(vii) स्म्यक् स्मृति।

(viii) सम्यक् समाधि।

इस आष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत अधिक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करना या अत्यधिक काया क्लेश में संलग्न होनी-दोनों को वर्जित किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में मध्यम प्रतिपदा का उपदेश दिया है।

छठी शताब्दी ई. पू. में पूर्वोत्तर भारत के लोगों के समक्ष जो समस्याएँ खड़ी थीं, बौद्ध धर्म ने उनको सुलझाने का प्रयास किया। लोहे के फालवाले हल से चली खेती तथा व्यापार और सिक्कों के प्रचलन से कुछ लोगों को धन संचित करने का मौका मिला। इस कारणों के चलते समाज में बड़े पैमाने पर सामाजिक एवं धार्मिक असमानता पैदा हुई। इस तनाव को दुर करने के लिए बौद्ध धर्म ने घोषणा की कि धनसंचय नहीं करना चाहिए।

इस धर्म के अनुसार दरिद्रता से घृणा, क्रुरता और हिंसा की उत्पत्ति होती है। इन बुराईयों को दूर करने के लिए बुद्ध ने उपदेश दिया कि किसानों को बीज और अन्य सुविधाएँ मिलनी चाहिए, व्यापारियों को धन मिलना चाहिए तथा श्रमिकों को मजदूरी मिलनी चाहिए। बौद्ध धर्म यह भी उपदेश देता है कि जो भी दरिद्र व्यक्ति भिक्षुओं को भीख देगा वह अगले जन्म में धनवान होगा। बौद्ध धर्म ने स्त्रियों और शूद्रों के लिए अपने द्वार खोलकर समाज पर गहरा प्रभाव जमाया। बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने पर स्त्रियों तथा शूद्रों को इस सामाजिक अधिकार हीनता से मुक्ति मिल जाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(i) The culture and civilization of Ancient India An Historical outline - D.D. Kosambi.

(ii) Material culture and social formations in Ancient India - R.S. Sharma.

(iii) Indian Buddhism - A.K.Warder.

(iv) A History of India, Volume one pengum books Great Britain, 1981 - Romila Thapar.

(v) Ancient India an Introductory outline, peoples publishing house, New Delhi, 1990 - D.N. Jha.

(vi) The History and Culture of the Indian People - R.C. Majumdar.

(vii) प्राचीन भारत (कक्षा-11) - एन. सी. ई. आर. टी.।

(viii) प्राचीन भारत का इतिहास - द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली।

(ix) उद्‌भूत भारत - ए. एल. बाशम।

(x) प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. सत्यनारायण।

(xi) प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति - के. सी. श्रीवास्तव।

(xii) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - डॉ. जयशंकर मिश्र।

(xiii) प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था - डॉ. ओम प्रकाश प्रसाद।

भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की समस्या

डॉ० चन्द्रशेखर आजाद

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, के०पी० कॉलेज, मुरलीगंज,
भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा (बिहार)

वर्तमान समय में प्रशासन में भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी घटना है और यह प्राय: विकसित एवं विकासशील दोनों ही प्रकार के देशों में पाया जाता है, परन्तु भारत में जिस रूप में प्रशासनिक भ्रष्टाचार व्याप्त है उसे देखते हुए यह आसानी से कहा जा सकता है कि यहाँ भ्रष्टाचार अन्य देशों की तुलना में अधिक गंभीर एवं व्यापक पैमाने पर पाया जाता है। भारत में प्रशासनिक भ्रष्टाचार के राजनीतिक भ्रष्टाचार से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के चलते स्थिति और बिगड़ गई है। भारत में राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारणों का पता लगाने तथा उन्हें दूर करने के उपाय सुझाने के लिए इतने जाँच आयोगों को गठित किया जा चुका है कि उन्हें देखकर आसानी से भ्रष्टाचार के विस्तार का अंदाजा लगाया जा सकता है।

लोक प्रशासन में प्रशासनिक अधिकारियों को अपने दायित्वों के निर्वाह हेतु सत्ता एवं विवेक की शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं, ये शक्तियाँ इन शासकीय अधिकारियें में से कुछ में ऐसी प्रवृत्तियों को जन्म देती है जो उन्हें इनके दुरुपयोग की ओर अग्रसर करती हैं, यही से भ्रष्टाचार का जन्म होता है। भ्रष्टाचार की समस्या की पृष्ठभूमि में जाने के पूर्व इसे परिभाषिक संदर्भ में जान लेना समीचीन होगा। पारिभाषिक दृष्टि से भ्रष्टाचार के दो रूप हैं- संकीर्ण एवं व्यापक। संकीर्ण अर्थ में भ्रष्टाचार का तात्पर्य है- अपने निर्धारित कर्त्तव्यों के बदले, निर्धारित पारिश्रमिक के अतिरिक्त घूस अथवा रिश्वत स्वीकार करना अथवा मौद्रिक लाभ के लालच के बदले अपनी अधिकार परिधि के बाहर जाकर किसी को उपकृत करने हेतु कार्य करना। व्यापक अर्थों में भ्रष्टाचार से अभिप्राय है अपने निजी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपने सार्वजनिक पद अथवा सत्ता का दुरुपयोग करना, अपनी हैसियत का अपने निजी स्वार्थ हेतु उपयोग करना।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 के अनुसार, "जो व्यक्ति शासकीय कर्मचारी होते हुए या होने की आशा में अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए विधिवत् पारिश्रमिक से अधिक कुछ धन (घूस) लेता है या स्वीकार करता है अथवा लेने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार किसी कार्य को करने अथवा न करने के उपहारस्वरूप या अपने शासकीय कार्य को करने में किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात या उपेक्षा या किसी व्यक्ति की सेवा या कुसेवा का प्रयास, केन्द्रीय या अन्य राज्य सरकार अथवा विधानमण्डल या किसी लोक सेवा के सन्दर्भ में करता है तो उसे तीन वर्ष के कारवास या अर्थ दण्ड अथवा दोनों दिए जा सकेंगे।"

इसी तरह भ्रष्टाचार उनमूलन अधिनियम 1947 के तहत लोक सेवाओं में लोक सेवकों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार को अपराधिक दुराचरण बताया गया है। केन्द्रीय सतर्कता आयोग ने भ्रष्टाचार के निम्न 27 स्वरूप बताए हैं –

1. निम्न स्तरीय वस्तुओं या कार्य को स्वीकार करना।
2. सार्वजनिक धन और भण्डार का दुरुपयोग करना।
3. जिन व्यक्तियों से अधिकारियों के कार्यालय स्तर के सम्बन्ध हैं उनके आर्थिक दायित्वों का वहन करना।
4. ठेकेदारों या फर्मों का रियायतें देना।
5. ऐसे ठकेदारों अथवा फर्मों से कर्ज लेना जिनसे उनके कार्यालय स्तरीय सम्बन्ध हैं।
6. झूठे भत्ते, दौरे अथवा गृह किराए का दावा करना।

7. अपनी आमदनी से अधिक वस्तुओं को रखना।
8. बिना पूर्व सूचना या पूर्व अनुमति के अचल सम्पत्ति अर्जित करना।
9. प्रमाद या अन्य कारण से शासन को हानि पहुँचाना।
10. शासकीय पद या सत्ता का दुरुपयोग।
11. भर्ती, नियुक्ति, स्थानांतरण एवं पदोन्नति के सम्बन्ध में गैर-कानूनी रूप से धन लेना।
12. शासकीय कर्मियों को व्यक्तिगत कार्य में प्रयोग करना।
13. जन्म-तिथि एवं जाति-सम्बन्धी जाली प्रमाण-पत्र जारी करना।
14. रेल एवं वायुयान में सीट आरक्षण में अनियमितता।
15. मनीआर्डर, बीमा एवं मूल्य देय पार्सलों को न देना।
16. नए डाक टिकटों को हटाकर पुराने डाक टिकट लगाना।
17. आयात-निर्यात लाइसेंस जारी करने में अनियमितता।
18. शासकीय कर्मचारी की जानकारी एवं सहयोग से विभिन्न फर्मों द्वारा आयातित एवं निर्धारित कोटे का दुरुपयोग करना।
19. टेलीफोन कनेक्शन देने में अनियमितता।
20. अनैतिक आचरण।
21. उपहार ग्रहण करना।
22. आर्थिक लाभ के लिए आयकर, सम्पत्ति कर का कम मूल्यांकन प्रस्तुत करना।
23. स्कूटर एवं कार खरीदने के लिए अग्रिम धन राशियों का दुरुपयोग।
24. विस्थापितों के दावे निपटाने में अनुचित विलम्ब।
25. आवासीय भूमि के हिस्सों में कम विक्रय के सम्बन्ध में धोखा देना।
26. विस्थापितों के दावे का गलत मूल्यांकन करना।
27. शासकीय आवासों पर अनाधिकृत कब्जा एवं उन्हें अनाधिकृत रूप से किराए पर उठाना।

भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा भ्रष्टाचार के कारण :

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि भ्रष्टाचार भारतीय राजव्यवस्था की सर्वकालिक समस्या रही है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दौरान कम्पनी कर्मिकों में बख्शीश उपहार का प्रचलन था। इसके बावजूद इस प्रथा को भ्रष्टाचार के रूप में महसूस किया जाता था। इसलिए 1906 के भ्रष्टाचार उन्मूलन कानून द्वारा कम्पनी कर्मिकों के लिए यह अपराध माना गया था। इसके अनुसार, यदि वे "अपने पद की सामर्थ्य से कोई कार्य करने अथवा उसे होने से रोकने के बदले बख्शीश के रूप में किसी प्रकार की भेंट आदि स्वीकार करें अथवा किसी व्यक्ति का अपने पद की सामर्थ्य के कारण पक्षपात अथवा विरोध करें, तो यह अपराध माना जाएगा। ब्रिटिश शासन काल में विभागों को पर्याप्त 'स्वविवेकी शक्तियाँ' (Discretionary Powers) प्राप्त थीं। इन स्वविवेकी शक्तियों ने लोक प्रशासन के निम्न स्तरीय ढाँचे को भ्रष्ट होने का अवसर दिया। औपचारिक रूप से भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार 'द्वितीय विश्व युद्ध' से आरम्भ हुआ जब इस युद्ध के दौरान सरकार का प्रमुख लक्ष्य युद्ध में साधनों के औचित्य पर विचार किए बगैर विजय प्राप्त करना था। हर कार्य को युद्ध से गौण माना गया। युद्ध में करोड़ों रुपए व्यय हो रहा था। धन की इस कमी को पूरा करने के लिए अनुचित तरीके से धन एकत्रित करने के मार्ग खोजे गए। इससे प्रशासकीय नियमों एवं कानूनों का खुलकर उल्लंघन हुआ तथा मध्य एवं निम्नस्तरीय लोक सेवकों द्वारा शासकीय धन एवं सत्ता का दुरुपयोग किया गया। इसी प्रकार जब सरकार द्वारा युद्ध में सेना को भारी मात्रा में अनाज व अन्य युद्ध-सामग्री खरीदी जाने लगी, तो हमारे व्यापारियों ने सरकारी माल आपूर्ति के ठेके प्राप्त करने के लिए अधिकारियों को रिश्वतें दीं। दूसरी ओर विभिन्न वस्तुओं का अभाव हो जाने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में इनकी राशनिंग-प्रणाली लागू की गई जिसके लाइसेंस एवं परमिट प्राप्त करने के लिए भ्रष्टाचार को लोक प्रशासन में प्रोत्साहन मिला।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही जहाँ एक ओर रियासतों का एकीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर देश का विभाजन तथा जनसंख्या का स्थानांतरण हुआ। देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए, विधि का शासन खण्डित हुआ, जिससे निपटने के लिए लोकसेवकों को असीमित अधिकार दिए गए। इसके साथ ही उच्चस्तरीय लोक प्रशासकों के इंगलैण्ड वापस चले जाने एवं मुस्लिम प्रशासकों के पाकिस्तान चले जाने के कारण, लोक प्रशासन में इनकी कमी महसूस की गई जिसे पूरा करने क लिए, इन उच्चस्तरीय प्रशासनिक पदों पर निर्धारित अर्हताओं को शिथिल करते हुए उन निम्नस्तरीय लोक सेवकों से भर्ती की गई जो लोक सेवा की सुस्थापित उच्च परम्परा से अनभिज्ञ थे एवं जिनमें प्रशासन व समाज के प्रति उदारता एवं निष्ठा का अभाव था।

स्वतंत्र्योत्तर भारत की चुनौतियों को स्वीकार करने एवं विकास के लक्ष्य को हासिल करने के निमित्त, समाजवाद, पंचवर्षीय योजनाएं, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, पंचायती राज जैसे समाजोत्थानिक लक्ष्यपूर्ण कार्यक्रम राजनीतिक नेतृत्व द्वारा लोक प्रशासन को सौंपे गए, इनके क्रियान्वयन के लिए लोक सेवकों को असीमित अधिकार प्रदत्त किए गए। उचित नियंत्रण एवं पारदर्शी व्यवस्था के अभाव में लोक प्रशासकों द्वारा इन अधिकारों व सत्ता का उपयोग राज्य व समाज के हित में न कर निजी हित में किया गया। यहीं से भ्रष्टाचार के पौधे ने भारतीय प्रशासन में वटवृक्ष का रूप धारण किया। 17 वर्ष तक देश की राजनीति में एक ही दल के वर्चस्व के चलते केन्द्र एवं राज्य के मंत्रीगणों, सांसदों, विधायकों का एक वर्ग इन भ्रष्ट लोक सेवकों से मिल गया जो हमारे निर्वाचित जनप्रतिनिधि नैतिकता एवं वैतिक के संरक्षक थे, व स्वयं ही भ्रष्टाचार एवं प्रशासनिक पक्षपात के दलदल में फंस गए।

उपर्युक्त के अलावा वर्तमान में भारतीय लोक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार के निम्न कारण बताए जाते हैं –

1. जटिल कार्यकालीन संरचना अथवा शासकीय पद्धति जिसमें सरकारी फाइलें कई स्तरों से होकर गुजरती है। विभिन्न स्तरों पर यह रिश्वत का आधार तैयार करता है। रिश्वत देने वाला शीघ्र निर्णय एवं फाइलें आगे बढ़ जाने के लिए रिश्वत देता है।
2. विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था एवं उद्योगीकरण।
3. रिश्वत लेने व देनेवालों के मध्य गठजोड़ तथा रिश्वत के पुख्ता साक्ष्यों का अभाव।
4. लोक सेवाओं का राजनीतिकरण, प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप व संरक्षण।
5. सरकारी कार्मिकों की गोपनीय रिपोर्ट।
6. लोक सवकों को प्राप्त स्वविवेकी अधिकार, जिन्हें सरकारी कार्यों में हो रही निरन्तर वृद्धि के चलते समाप्त नहीं किया जा सकता।

भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में अभी तक किए गए प्रयास :

1. स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही हमें भ्रष्टाचार रूपी महामारी से दो चार होना पड़ा तथा समय-समय पर सके निदान खोजने पड़े। लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में सर्वप्रथम कदम 'भ्रष्टाचार निरोधक कानून 1947' द्वारा उठाया गया इसके तहत् भारतीय दण्ड संहिता की धाराओं 31, 165 एवं 165ए को Cognizable offence बनाते हुए उपपुलिस अधीक्षक स्तर के अधिकारी को भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्तियों को संदेह के आधार पर गिरफ्तार करने का अधिकार दिया गया।
2. 1946 में दिल्ली विशेष पुलिस प्रतिष्ठान की स्थापना की गई जिसे 1963 में स्थापित केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (ब्ग्ठण्ण्) के अन्तर्गत भ्रष्टाचार निरोधी सम्भाग का दर्जा दिया गया।
3. 1951 में पूर्व आई०सी०एस० अधिकारी श्री ए०डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक प्रशासनिक सुधार समिति बनाई गई, समिति ने अपने प्रतवेदन में एक पूरा अध्याय लोक सेवकों में सत्यनिष्ठा पर लिखा, जिसमें कहा गया कि राजनीतिक नेतृत्व स्वच्छ प्रशासन की स्थापना करने में असमर्थ रहा है, क्योंकि उनमें से कुछ में स्वयं निष्ठा का अभाव रहा है। समिति ने सुझाव दिया कि नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार की शिकायतों की सुनवाई हेतु केन्द्र एवं राज्य स्तर पर एक स्वतंत्र न्यायाधिकरण की स्थापना की जानी चाहिए।
4. 1955 में भ्रष्टाचार की शिकायतों की जाँच हेतु केन्द्रीय गृह मंत्रालय में सतर्कता विभाग (Vigilance Department) एवं अन्य मंत्रालयों में सतर्कता इकाइयों (Vigilance Units) की स्थापना की गई। इसी वर्ष भ्रष्टाचार निरोधक कानून 1947 को और अधिक कठोर बना दिया गया।

5. लोक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार की समस्या पर विचार करने के लिए 1962 में श्री के. संकानम की अध्यक्षता में एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति गठित की गई जिसमें पाँच सदस्य व दो गृह मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी थे।
8. 1966 में स्व. मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में 'प्रशसनिक सुधार आयोग' का गठन किया गया।

उपर्युक्त के अलावा संसद में 1971, 1975, 1977, 1985, 1989 एवं 2001 में संसद में लोकपाल विधेयक प्रस्तुत किया गया, जो कई राजनीतिक कारणों के कारण पास नहीं हो सका। हाल ही के वर्षों में जिस प्रकार- बोफोर्स घोटाला, पनडुब्बी घोटाला, यूरिया घोटाला, चारा घोटाला, प्रतिभूति घोटाला, हवाला काण्ड, ताबूत काण्ड, तहलका काण्ड तथा अभी हाल में हमारे माननीय सांसदों को प्रश्न पूछने के बदले रिश्वत माँगते टी वी कैमरे में कैद किया जाना आदि ऐसे भारतीय राजनीति एवं प्रशासन के दृष्टांत हैं जो इस ओर इंगित करते हैं कि भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में शासकीय स्तर पर किए गए उपर्युक्त प्रयास नाकाम सिद्ध हुए हैं। अतः वर्तमान युग में, जबकि नौकरशाही के कानून व्यवस्था की स्थापना के साथ ही राज्य के क्षेत्र में विस्तार के कारण इनके सामाजिक आर्थिक विकास दायित्वों में वृद्धि हो रही है। चूँकि प्रशासनिक अधिकारियों की स्वविवेकी शक्तियों को समाप्त नही किया जा सकता, लेकिन यदि भारतीय लोक प्रशासन से वास्तविक अर्थों में भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना है, तो निम्न उपायों पर विचार किया जाना चाहिए।

भ्रष्टाचार कम करने के सुझाव

1. संघीय स्तर पर सतर्कता आयोग जैसे संगठन को ही संविधान संशोधन द्वारा लोकपाल आयोग का स्वरूप प्रदान किया जाए, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ न्यायाधीश को अध्यक्ष बनाने का प्रावधान किया जाए। आयोग के जाँच दायरे में मंत्रियो, सांसदों तथा संघीय अधिकारियों के अलावा उच्च व उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों व पत्रकारों को भी शामिल किया जाए।
2. लोकपाल/लोकायुक्त को भ्रष्टाचार की शिकायतों पर निर्भर न रहकर अपने स्वतंत्र स्रोतों से भ्रष्टाचार की जानकारी प्राप्त करने तथा उसका अन्वेषण करने अभियोजन दायर करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।
3. लोकपाल/लाकायुक्त द्वारा किसी सरकारी अधिकारी जिस जाँच में भ्रष्ट पाया गया है के विरुद्ध अभियोजन दायर करने हेतु वरिष्ठ अधिकारियों/सरकार से पूर्व अनुमति प्राप्त करने की वैधानिक अनिवार्यता समाप्त की जानी चाहिए।
4. संघीय स्तर पर लोकपाल आयोग के अधीन भ्रष्टाचार की जाँच हेतु केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के भ्रष्टाचार उन्मूलन संभाग का दायित्व सौंपने का प्रावधान किया जाए। इसी प्रकार राज्य स्तर पर लोकायुक्त की भाँति लोकायुक्त पुलिस संगठन भी स्वतंत्र हो।
5. भ्रष्टाचार के मामलों में लोकपाल/लोकायुक्त की सलाह सम्बन्धित सरकारों के लिए बाध्यकारी हों।
6. भ्रष्टाचार के मामले साबित होने की दिशा में मृत्यु दण्ड का वैधानिक प्रावधान हो।

उपर्युक्त सुझावों के अमल में लाए जाने पर भ्रष्टाचार से भारतीय लोक प्रशासन को पूर्णतः मुक्त कर वास्तविक अर्थों में संवेदनशील, लोक-कल्याणकारी राज्य के ध्येय को प्राप्त किया जा सकता है।

संदर्भ सूची :

1. कौर इन्द्रजीत- लोक प्रशासन, साहित्य भवन, आगरा
2. डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी- लोक प्रशासन
3. डॉ. भाम्मरी चन्द्र प्रकाश- लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार
4. डॉ. फाड़िया, बी०एल०- लोक प्रशासन,
5. प्रतियोगिता दर्पण।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा का प्रावधान

डॉ० आरती कुमारी सिंह

एम०ए०, पी-एच०डी० (राजनीति विज्ञान), महिला महाविद्यालय, नवीनगर, औरंगाबाद, बिहार

शोध आलेख का सार

विश्व समाज में सामूहिक सुरक्षा महत्वपूर्ण विषय रहा है तथा इसी आवश्यकता को लेकर समाज, राज्य, सरकार अथवा सभी प्रकार के संगठनों का निर्माण हुआ है। सामाजिक विज्ञान में सिद्धान्तों के प्रतिपादन का केन्द्रीय विषय भी सुरक्षा को बताया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सामूहिक सुरक्षा को केन्द्रीय विषय बताया जाता है। राष्ट्रीय सुरक्षा की तुलना में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा नवीन है तथा इसे आधुनिक कहा जाता है। सामूहिक सुरक्षा का अवधारणा आधुनिक होने के साथ-साथ गतिशील है अर्थात् विभिन्न पर्यावरणीय कारकों से यह प्रभावित होती रही है। 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा की जोरदार माँग शुरू हो गई। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के गठन के आलोक में सामूहिक सुरक्षा के महत्व में भी उतरोत्तर वृद्धि हुई है। प्रथम विश्व युद्ध तथा द्वितीय विश्व युद्ध के समय में भी सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा की उपस्थिति और अनिवार्यता पर बल दिया गया। शीत युद्ध, नवीन शीत युद्ध तथा उत्तर शीत युद्ध के काल में भी सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा की सार्थकता कायम है। आज 21वीं शताब्दी में भी सामूहिक सुरक्षा की आवश्यकता एवं सार्थकता को स्वीकार किया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को प्रभावशाली ढंग से कायम रखने के लिए सामूहिक सुरक्षा शक्ति प्रबन्धन का एक आधुनिक साधन है। सामूहिक सुरक्षा राज्यों के बीच एक व्यवस्था है, जो परस्पर शांति को कायम करता है तथा शीत युद्ध की संभावना को दूर करता है। पामर अैर पार्किन्स ने ठीक ही कहा है कि सामूहिक सुरक्षा का स्पष्ट अर्थ है- शांति के खतरों से निपटने के लिए सामूहिक सुरक्षा का कार्यकारी व्यवस्था में सुरक्षा की समस्या किसी अकेले राष्ट्र की समस्या नहीं होती, वरन् उन सभी राष्ट्रों की समस्या होती है जो इस व्यवस्था के अंतर्गत आपस में बंधे होते हैं। इसमें एक सबकी और सब एक को (one for all and all for one) वाले सामान्य सामाजिक जीवन के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उतारना बताया गया है। इसलिए, जहाँ किसी एक पर आक्रमण सभी पर आक्रमण करना माना गया है, वहाँ एक-दूसरे की रक्षा में सहयोग प्रत्येक राष्ट्र का उत्तरदायित्व समझा गया है। इस प्रकार की सामूहिक सुरक्षा के विचार में शक्ति-संतुलन का मूल भाव भी विद्यमान है।

मूल शब्दः राष्ट्रीय हित, सामूहिक सुरक्षा, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, आर्थिक सम्बन्ध, घोषणा-पत्र, सामाजिक प्रगति, सद्भावना, विश्व शांति।

प्रस्तावना

संयुक्त राष्ट्र के छः अंग हैः (i) महासभा, (ii) सुरक्षा परिषद्, (iii) सामाजिक-आर्थिक परिषद्, (iv) न्याय परिषद्, (v) सचिवालय और (vi) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय। इन छः प्रमुख अंगों में सामूहिक सुरक्षा की दिशा में सुरक्षा परिषद् को सबसे महत्वपूर्ण दायित्व प्रदान की गई है। चार्टर निर्माताओं ने सुरक्षा परिषद् को ही सामूहिक सुरक्षा के लिए अन्तिम रूप में जबावदेह बनाया

है। इन पाँच अंगों के अतिरिक्त संगठन के कई विशिष्ट अभिकरण हैं, जिनके द्वारा भी सामूहिक सुरक्षा की स्थापना में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमिका की अपेक्षा है।

संयुक्त राष्ट्र के निर्माताओं ने यह स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को प्राप्त करने के लिए सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था शक्ति सन्तुलन में एक उपयुक्त रास्ता था। राष्ट्र संघ (10 जनवरी, 1920 को स्थापित) के प्रतिज्ञापत्र में दी गई सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की असफलता का मुख्य कारण व्यवस्था की कठोरता तथा संरचना में बहुत से दोष थे। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था अपने आप में दोषपूर्ण नहीं थी। इसलिए इसे राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अधिक व्यावहारिक बना कर फिर से अपना लिया गया। इसके अतिरिक्त दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तथा अन्त में, जब अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा से अधिक वास्ता पड़ा तो राजनेताओं के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे राष्ट्रों के सामूहिक प्रयत्नों के शांति तथा सुरक्षा को प्राप्त करने की आवश्यकता की ओर विशेष ध्यान दें। प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप में सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा तथा शान्ति के बीच पूर्ण अन्तर्निर्भरता के अनुभव ने, "एक के लिए सब, सबके लिए एक" के सिद्धान्त को और भी सुदृढ़ समर्थन देने में सहायता की। परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अन्दर एक व्यावहारिक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था देने के प्रबल प्रयत्न किए गये।

संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन विभिन्न प्रक्रियाओं को पूरा करते हुए अन्ततः 24 अक्टूबर, 1945 को की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ का संविधान 'चार्टर' के नाम से जाना जाता है, जिसमें कुल अनुच्छेदों की संख्या 111 है। चार्टर के प्रस्तावना एवं उद्देश्यों में भी सामूहिक सुरक्षा की उपस्थिति दृष्टिगोचर होती है। ऐसे चार्टर के अनुच्छेद-39 से 51 के बीच सामूहिक सुरक्षा विषयक व्यापक प्रावधान किये गए हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया है, "हम संयुक्त राष्ट्र के लोग, भावी पीढ़ियों को युद्ध के विनाश से बचाने के लिए जिसने हमारे जीवन काल में दो बार मानव जाति को अकथनीय कष्ट पहुँचाया है तथा मौलिक मानवीय अधिकारों में, मानव की प्रतिष्ठा तथा मूल्य, छोटे तथा बड़े सभी राष्ट्र के पुरूषों व महिलाओं के समान अधिकारों में अपनी आस्था संपुष्ट करने तथा ऐसी परिस्थितियाँ स्थापित करने के लिए जिनके अधीन संधि में व अन्तराष्ट्रीय कानून के अन्य स्त्रोतों में से उत्पन्न होने वाले दायित्वों के प्रति न्याय व सम्मान की रक्षा की जा सके, तथा अधिक स्वतंत्रतापूर्वक प्रगति व जीवन के बेहतर स्तरों को बढ़ावा देने तथा इन लक्ष्यों के लिए सहनशीलता रखने एवं एक-दूसरे के साथ अच्छे पड़ोसियों की तरह शांतिपूर्वक रहने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को बनाए रखने के लिए अपनी शक्ति को एक जुट करने तथा इन सिद्धान्तों व विधियों की संस्थानों की मान्यता द्वारा यह सुनिश्चित करने की सामान्य हित के अतिरिक्त शस्त्र बल का प्रयोग नहीं किया जाएगा, तथा सभी देशों की जनता की आर्थिक व सामाजिक प्रगति को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संघ का प्रयोग करने के लिए कृत संकल्प है। तदनुसार हमारी अपनी-अपनी सरकारें सैन फ्रांसिस्को के नगर में एकत्रित अपने प्रतिनिधियों, जिन्होंने अच्छे व उचित रूप में अपनी समस्त शक्तियाँ का प्रदर्शन किया है, के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ नाम अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करते हैं।"[1]

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद-1 में संगठन के उद्देश्यों को प्रस्तुत किया गया है। चार्टर के प्रथम अनुच्छेद में, संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों के बारे में बताते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को संयुक्त राष्ट्र की मुख्य प्राथमिकता बताया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना तथा इसके लिए प्रभावपूर्ण सामूहिक प्रयत्नों द्वारा शान्ति के संकटों को रोकना और समाप्त करना तथा आक्रमण को एवं शान्ति-भंग की अन्य चेष्टाओं को दबाना" एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य है।[2]

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र (U.N. Charter) के सातवें अध्याय में लिखी गई है तथा इसका शीर्षक, "शांति के प्रति धमकियों, शांति-भंग की स्थितियों तथा आक्रमण के कार्यों के बारे में कार्यवाही" है।[3] इसमें 39 के अधीन सुरक्षा-परिषद् का यह उत्तरदायित्व है कि "वह यह निर्णय करें कि शांति को धमकी दी गई है, शांति भंग की गई है या आक्रमण हुआ।"[4] इसके लिए वह "सिफारिश करेगी या निश्चित करेगी कि अनुच्छेद 41-42 के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाए रखने अथवा पुनः प्राप्त करने के लिए कौन-सी कार्यवाहियां की जायेगी।"[5]

अनुच्छेद-40, 41 तथा 42 में यह लिखा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बनाए रखने तथा उसे दुबारा प्राप्त करने के लिए सुरक्षा-परिषद् कौन-सा कदम उठा सकती है।[6] अनुच्छेद-40 के अनुसार, "अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को भंग करने वाली

या इसे धमकी देने वाली स्थितियों में वृद्धि होने की सूरत में पहले कदम के रूप में सुरक्षा परिषद् अस्थायी कार्यवाहियाँ (Provisional Measures) कर सकती है तथा सम्बन्धित देश को इन अस्थायी कार्यवाहियों के अनुसार काम करने के लिए कह सकती है जिन्हें यह आवश्यक समझती है।"[7]

अनुच्छेद-41 में प्रवर्तक कार्यवाहियों के बारे में बताया गया है जो सामूहिक सैन्य कार्यवाही से अलग होती हैं। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को इनकी सिफारिश करेगी ताकि सम्बन्धित देश शांति तथा सुरक्षा के अतिक्रमण को समाप्त कर दें। इस अनुच्छेद के अनुसार, "सुरक्षा परिषद् अपने निर्णयों को लागू करने के लिए ऐसी कदमों के विषय में भी निर्णय कर सकती है, जिनमें सशस्त्र बल का प्रयोग न हो और वह संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को इन कदमों का अनुपालन करने के लिए कह सकती है। इन कदमों के द्वारा, "आर्थिक सम्बन्धों तथा रेल, समुद्र, वायु, डाकतार, रेडियो एवं संचार व्यवस्था के अन्य साधनों को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से प्रतिबन्धित किया जा सकता है और राजनीतिक सम्बन्ध भी तोड़े जा सकते हैं।[8]

अनुच्छेद-42 सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाए रखने तथा सुरक्षित करने के लिए शक्ति देता है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "यदि सुरक्षा परिषद् यह समझे कि अनुच्छेद-41 में वर्णित कदम अपर्याप्त होंगे अथवा अपर्याप्त सिद्ध हुए हों तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए सुरक्षा परिषद् वायु, समुद्र तथा स्थल सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस तरह की कार्यवाहियों में, प्रदर्शन, नाकाबन्दी तथा सयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की वायु, जल तथा स्थल सेनाओं को सैनिक कार्यवाही शामिल हो सकती है।"[9]

अनुच्छेद-43 के अनुसार यह संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों का उत्तरदायित्व है कि वह सुरक्षा परिषद् की अनुच्छेद-42 के अधीन किसी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए सामूहिक सुरक्षा सेना को इकट्ठा करने के लिए अपने समर्थन, प्रयत्नों, साधनों तथा सेना में सहायता करें।[10]

अनुच्छेद-44 से अनुच्छेद-47 तक के अगले चार अनुच्छेदों में उस प्रक्रिया के बारे में लिखा है जिसके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ शांति बनाए रखने वाले सामूहिक सुरक्षा सेना को इकट्ठा रखना तथा इनका प्रयोग करना होता है।[11] अनुच्छेद-48 के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को कायम रखने हेतु सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को लागू करने के लिए जो कार्यवाही आवश्यक होगी उसके विषय में सुरक्षा परिषद् निर्धारित करेगी कि वे संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों द्वारा होगी या उनमें से कुछ के द्वारा इसके अतिरिक्त 'संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य स्वतन्त्र रूप से तथा उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के वे सदस्य हैं उनमें कार्यवाही द्वारा इन निर्णयों को लागू करेंगे।[12]

अनुच्छेद-49 में स्पष्ट रूप में लिखा गया है, "सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित कार्यवाही को लागू करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य एक-दूसरे को सहयोग देंगे।"[13] अनुच्छेद-50 तथा 51, क्रमानुसार, उन सम्भव तरीकों की व्याख्या करते हैं जिनके अनुसार गैर सदस्य राज्य तथा सदस्य राज्य अपनी नीतियों तथा कार्यवाहियों में उस निर्णय के मुताबिक सामंजस्य पैदा करसकें जिन्हें सुरक्षा परिषद् अनुच्छेद-41 अथवा 42 के अनुसार लेती है। तथापित अनुच्छेद-51 राज्यों इस अधिकार को स्वीकार करता है कि, "यदि किसी राज्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण होता है तो उसे तब तक व्यक्तिगत या सामूहिक आत्म-रक्षा का अधिकार है जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाए रखने के लिए आवश्यक कदम नहीं उठा लेती।"[14]

इन सभी धाराओं के साथ-साथ राष्ट्र संघ घोषणा पत्र के सातवें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बनाए रखने तथा पुनः प्राप्त करने के लिए कार्यात्मक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की गई है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा के प्रावधानों का अवलोकन है। इस शोध आलेख का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सामूहिक सुरक्षा के दृष्टिकोण की परिवर्तित स्वरूप को भी स्पष्ट करना है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक "संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा का प्रावधान" है। संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र में लिखी जाने वाली सामूहिक सुरक्षा अवधारणा की दो अन्तर्निहित सीमाएं हैं। पहले स्थान पर यह स्वीकार किया गया है कि अपनी

सुरक्षा के लिए किसी आक्रमण की धमकी के विरुद्ध युद्ध की आत्मरक्षा को साधन मानकर चलना राष्ट्र का अधिकार है। दूसरे स्थान पर यह अवधारणा अनुच्छेद-51 के अंतर्गत राष्ट्रों को अपनी सुरक्षा करने के लिए क्षेत्रीय प्रतिरक्षा व्यवस्था कायम करने का अधिकार देती है। सुरक्षा परिषद् द्वारा इराक के विरुद्ध आर्थिक नाकाबन्दी, इराक के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा युद्ध का निर्णय लेते हुए 26 देशों की सैनिक टुकड़ियों को इकट्ठा करके एक संयुक्त राष्ट्रीय सेना का गठन किया। इसके साथ हीं खाड़ी युद्ध सहित आतंकवाद तथा चीन की विस्तारवाद को सामूहिक सुरक्षा के मार्ग में बाधा बता सकते हैं।

साहित्य सर्वेक्षण

"संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा का प्रावधान: एक अवलोकन" पर अबतक अनेक महत्वपूर्ण अध्यन सम्पन्न हुए हैं। इस विषय पर अध्ययन में कुछ साहित्य का सामान्य अवलोकन अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख-लेखन को सार्थकता प्रदान करता है। वस्तुत: शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए साहित्य सर्वेक्षण का अनिवार्य माना जाता है। इसी अनिवार्यता का ध्यान में रखते हुए हमने अपने प्रस्तुत शोध आलेख की तैयारी में निम्नलिखित प्रमुख साहित्य का सर्वेक्षण है:

1. प्रो० बी०एम० जैन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003
2. भोला चटर्जी, ए स्टडी ऑफ रिसेन्ट नेपालीज पॉलिटिक्स, द वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1967
3. वी०एन० खन्ना, लिपाक्षी अरोड़ा, भारत की विदेश नीति, तृतीय संशोधित संस्करण, निकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा० लि०, नई दिल्ली, 2004
4. डॉ० एस०पी० सिंहल, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2017
5. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा एवं शशी के० जैन, राजनय के सिद्धान्त, कॉलेज बुक्र डिपो, जयपुर, 2006
6. लियो ई० रोज, नेपाल स्ट्रैटजी फॉर सरवाइवल, आक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1991 राष्ट्रीय

शोध प्रवृधि

प्रस्तुत शोध आलेख के लेखन में ऐतिहासिक एवं वस्तु-विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है। शोध आलेख की तैयारी में पूर्व का साहित्य सर्वेक्षण का अवलोकन किया गया है।

निष्कर्ष

संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता के पीछे विद्यमान तत्वों-संयुक्त राज्य अमरीका का उत्साह, भू०पू० सोवियत संघ की कमजोर स्थिति, शीत युद्ध की समाप्ति, इराक की आक्रामक कार्यवाही का सभी द्वारा विरोध, अरब देशों की इराक की विरोधता आदि को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। दुनिया के 20 अलग-अलग भागों में राष्ट्र संघ के तत्वाधीन में विश्व शांति की सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र शांति सेनाओं द्वारा की जाने वाली कार्यवाही महत्वपूर्ण रहा है। उत्तर शीत काल युग में संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में विश्व शांति की सुरक्षा के लिए सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को चलाने सम्बन्धी निर्णय-निर्माण प्रक्रिया अब सरल और सम्भव हो गई है। अत: आज यह व्यवस्था दृढ़ होती दिखाई दे रही है। आज आतंकवाद और विस्तारवाद के विरुद्ध विश्व जनमत बन रहा है तथा सामूहिक सुरक्षा के व्यापक स्वरूप की खोज हो रही है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. मदोदर रावत, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, रावत पब्लिकेशन, हरियाणा, पृष्ठ-49
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का प्रस्तावना
3. संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर, ।
4. तथैव, अनुच्छेद-39
5. तथैव, अनुच्छेद-39

6. यू०आर० घई, अन्तर्राष्टीय राजनीति : सिद्धान्त और व्यवहार, पृष्ठ-341
7. संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर, अनुच्छेद-40
8. तथैव, अनुच्छेद-41
9. तथैव, अनुच्छेद-42
10. तथैव, अनुच्छेद-42
11. यू०आर० घई, अन्तर्राष्टीय राजनीति : सिद्धान्त और व्यवहार, पृष्ठ-341
12. संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर, अनुच्छेद-48
13. तथैव, अनुच्छेद-49
14. तथैव, अनुच्छेद-51

भारत में पंचायती राज और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण

आशुतोष सिंह जेलियाँग

शोध प्रज्ञ, राजनीति विज्ञान विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

शोध आलेख का सार

भारत एक लोकतांत्रिक देश है। इसलिए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को यहाँ अधिकाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में स्थानीय प्रशासन को महत्वपूर्ण बताया जा सकता है, जो ग्रामीण स्थानीय प्रशासन (पंचायती राज व्यवस्था) तथा नगरीय स्थानीय प्रशासन (नगरपालिकाएँ) के रूप में दृष्टिगोचर होती है। स्थानीय प्रशासन की ग्रामीण व्यवस्था को पंचायती राज व्यवस्था कहा जाता है, जो लोकतंत्र का आधारभूत रूप है। इसीलिए इसे 'ग्रासरूट डेमोक्रेसी' भी कहा जाता है तथा यह लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण अर्थात् राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के लिए भी आवश्यक प्रतीत होता है। भारत में ब्रिटिश शासन के समय से ही पंचायतें स्थानीय शासन के रूप में कार्य करती रही है। परन्तु यह कार्य सरकारी नियंत्रण में होता था ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतों और शहरों में नगरपालिकाओं द्वारा स्थानीय स्वशासन का कार्य किया जाता था। स्वतंत्र भारत में इस पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और भारतीय संविधान के अनुच्छेद-40 ने इसकी पुष्टि इस प्रकार से की है- राज्य, ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाईयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो, परंतु इस प्रयास में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के लोकतांत्रिक स्वरूप पर धयान नहीं दिया गया। इन कमियों को राजीव गाँधी के प्रधानमंत्रित्व काल में उजागर किया गया और पुनः इसके संवैधानिक समाधान के लिए प्रयास किया गया भारतीय संसद द्वारा पंचायतों तथा नगरपालिकाओं के लिए ऐतिहासिक कदम उठाते हुए भारतीय संविधान में 73वाँ तथा 74वाँ संशोधन 1992 में किया गया। संविधान का 73वाँ संशोधन अधिनियम 25 अप्रैल, 1993 से तथा 74वाँ संशोधन अधिनियम 1 जून, 1993 से लागू हो गया है। 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन ने पंचायती राज तथा नगरपालिकाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया है।

मूल शब्दः पंचायत, स्थानीय शासन, नगरपालिका, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण, सामाजिक न्याय, नारीवाद, सम्पोषित विकास।

प्रस्तावना

भारत में पंचायती राज व्यवस्था का इतिहास प्राचीन है। यहाँ वैदिक काल में भी पंचायत सदृश्य व्यवस्था की झलक मिलती है। उस काल में सभा आयोजित होती थी, जिसमें राजा के कार्यों का मूल्यांकन किया जाता था। महाकाव्य काल के साथ-साथ बौद्ध काल में भी पंचायती व्यवस्था के सम्बन्ध में जातक कथाओं से पता चलता है। कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' में भी ग्राम पंचायतों की स्थानीय शासन एवं न्याय व्यवस्था में भूमिका का उल्लेख मिलता है तो गुप्तकालीन व्यवस्था में भी ग्राम पंचायतों का अत्यधिक महत्त्व था। मुगलकाल में मुस्लिम शासकों ने पंचायती व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। भारत में अँग्रेजी उपनिवेशवाद के समय से ही स्थानीय शासन के महत्व को समझा जाने लगा था। प्रशासन की इकाई जिला स्थापित की गई थी। जिला स्तर पर प्रशासन की व्यवस्था जिला अधिकारी के अधीन थी। जिला अधिकारी को कल्कटर, जिलाधीश इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता था। जिले में कानून तथा शान्ति की व्यवस्था करना, राजस्व इकट्ठा करना तथाविकासीय कार्यों को करना, तीनों ही क्षेत्र जिला अधिकारी के अधीन थे। जिला अधिकारी सामान्यतः भारतीय प्रशासनिक सेवा का अफसर हुआ करता था। वर्ष 1882

में लार्ड रिपन के शासन के कार्यकाल में स्थानीय स्तर पर प्रशासन में लोगों को सम्मिलित करने के कुछ प्रयास आरम्भ हुए। इसके लिए जिला स्तर पर जिला बोर्डों की स्थापना की गई। इनमें स्थानीय लोगों को मनोनीत किया जाता था। भारत के गाँवों में सदियों प्रचलित पंचायत व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के प्रति भी कुछ कदम उठाए गए।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में भारत में पंचायतों की परम्परा को छोटे गणराज्य कहा कर उनकी प्रशंसा की जाती थी। महात्मा गाँधी विशेष रूप से पंचायतों के प्रशंसक थे। भारतीयों में स्वशासन शक्ति की कमी की ब्रिटिश आलोचना के विरुद्ध पंचायतों के उदाहरण को भारत में स्वशासन की अत्यन्त पुरानी परम्परा के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसलिए गाँधीजी की यह धारणा भी थी कि स्वतंत्र भारत का आधार गाँवों से ही आरम्भ होगा। हर गाँव, उन मामलों को छोड़कर जहाँ अन्यों के साथ निर्भरता आवश्यक है, अपने आप में स्वतंत्र तथा आत्मनिर्भर होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा महतव दिए जाने के कारण तथा स्वयं ब्रिटिश शासन द्वारा लोगों को अपने प्रशासन में सम्मिलित करने के लिए अनेक प्रान्तों में पंचायती राज लागू करने के कुछ कानून बनाए गए। स्वाभाविक रूप से यह सीमित तथा अपर्याप्त थे।

ब्रिटिश काल में पंचायती व्यवस्था शुरू में विपरीत रूप में जरूर प्रभावित हुई, परन्तु वर्ष 1882 में लार्ड रिपन ने ग्रामीण क्षेत्रों में बोर्ड अथवा मण्डलों की स्थापना का सुझाव दिया। 1919 ई० में मांटेग्यू-चेम्स्फोर्ड सुझावों के आधार पर भारत में पंचायतों की ओर कुछ और ध्यान दिया गया, लेकिन राजनैतिक हस्तक्षेप, धनाभाव एवं प्रशासनिक उदासीनता के कारण इस क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। 1919 के अधिनियम का परिणाम यह हुआ कि 1925 तक आठ राज्यों में पंचायत अधिनियम, 1919; बिहार स्वायत्त शासन अधिनियम, 1920; उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत अधिनियम, 1925 पास किए गए। इसके अतिरिक्त 1919 के अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय स्वायत्तता का श्री गणेश हुआ। भारत शासन अधिनियम, 1935 के तहत 1937 में प्रान्तों में लोकप्रिय मंत्रिमण्डलों का गठन हुआ और उन्होंने स्थानीय संस्थाओं को जनता का वास्तविक प्रतिनिधि बनाने के लिए कुछ कानून बनाये, दुर्भाग्यवश 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने से स्थानीय निकायों के प्रति मंत्रियों का उत्साह ठंडा पड़ गया। पंचायती राज व्यवस्था के इतिहास में यह (1939-1946) अवधि को अंधकार युग माना जाता है, क्योंकि राजनीतिक उथल-पुथल से भरे स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में राष्ट्रीय नेतृत्व स्वशासन के विषय पर विशेष ध्यान नहीं दे पाया।

भारत सन् 1947 में स्वतन्त्र हुआ और इसके बाद पंचायती राज, ग्रामीण विकास की दिशा में उल्लेखनीय कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए। भारतीय संविधान में इसे गाँधीवादी मान्यताओं के प्रभाव में भाग-4, राज्य के नीति के निदेशक तत्वों के अंतर्गत, अनुच्छेद 40 में स्थान दिया गया है। वर्ष 1952 में सामुदायिक कार्यक्रम की शुरूआत की गई। 1956 में बलवन्त राय मेहता समिति का गठन हुआ, जिसने वर्ष 1957 में अपना प्रतिवेदन दिया। उसी प्रतिवेदन में त्रि-स्तरीय व्यवस्था का सुझाव दिया था, जिसे 73वाँ संविध ान संशोधन, 1992 में अपनाया भी गया। वर्ष 1959 में राजस्थान के नागौर जिला में पंडित जवाहल लाल नेहरू ने पंचायती राज की दिशा में उद्घाटन कर वास्तविक कदम उठाया। वर्ष 1977 में अशोक मेहता का प्रतिवेदन प्रस्तुत हुआ, जिसमें द्वि-स्तरीय पंचायती व्यवस्था की स्थापना का सुझाव दिया गया। यह उल्लेखनीय है कि अशोक मेहता समिति की अनुशंसाओं को सरकार ने आंशिक रूप में ही स्वीकार किया, हालांकि कालान्तर में कर्नाटक में हेगड़े सरकार (1984-85) ने अशोक मेहता की अनुशंसाओं के अनुसार अपना पंचायती राज पुनर्गठित किया जो पर्याप्त रूप से सफल भी रहा है। कर्नाटक ही वह प्रथम राज्य है जिसने सन् 1987 में जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों को जिला परिषद् में विलय किया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पंचायती राज व्यवस्था के विकास में सी०एच० हनुमन्ता राव कार्यदल (जिला आयोजन तंत्र पर विशेष) का गठन वर्ष 1982-84 में हुआ। डा० एल० एम० सिंधवी समिति (1986), पी०के० थुंगन समिति (1988), जिला कलक्टर्स कार्यशालाएँ (1987-88) तथा 64वाँ संविधान संशोधन विधेयक 1989 (असफल) सदृश प्रयास/कार्य की भूमिका भी इस दिशा में महत्वपूर्ण रही है।

राज्यों के संदेह तथा विरोधी दलों के विरोध के कारण 64वाँ संशोधन विधेयक पारित नहीं हो सका, परन्तु इस समय तक पंचायती राज के पुनर्जीवन की आवश्यकता तथा इसको महत्वपूर्ण बनाने की आकांक्षाएँ आम चर्चा का विषय बन चुकी थी। 1989 के चुनावों में लगभग सभी राजनीतिक दलों ने अपने घोषणा पत्रों में इसके लिए उचित कदम उठाने की बात कही। अत: राष्ट्रीय मोर्चे के सत्ता में आने से एक उचित विधि बनने की आशा बनी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने संशोधन बिल में कुछ परिवर्तन किए। इनके अनुसार पंचायती राज संस्थाओं का कार्य काल पाँच वर्ष के लिए सुनिश्चित किया गया। इनकी स्वायत्तता की व्यवस्था की गई। चुनाव करवाने का अधिकार तथा कार्य केन्द्रीय चुनाव आयोग के स्थान पर राज्य चुनाव आयोग को सौंपा गया। इसी प्रकार लेखा परीक्षा की शक्ति राज्य लेखा परीक्षक को सौंपी गई। महिलाओं तथा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए साधारण सदस्यता के

अतिरिक्त अध्यक्ष पद के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था की गई। नये संशोधन बिल को राज्य सरकारें तथा विरोधी राजनीतिक दलों के साथ विचार विमर्श के पश्चात् 2 सितम्बर, 1990 को लोक सभा में 74वें संविधान संशोधन बिल के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस बिल पर चर्चा आरम्भ होने से पहले ही राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का पतन हो गया तथा बाद में लोक सभा विघटित हो गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि विधेयक का अस्तित्व समाप्त हो गया।

श्री पी०वी० नरसिम्हा राव के नेतृत्व में वर्ष 1991 में चुनाव के पश्चात् पुनः काँग्रेस की सरकार बनी। अपने स्पष्ट बहुमत की कमी तथा देश में बन चुके वातावरण के कारण इस सरकार को भी सर्वमान्य कानून बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः अनेक दलों से विचार विमर्श करके नया संशोधन विधेयक 16 सितम्बर, 1991 को लोक सभा में पेश किया गया। सदन में गहन विचार के लिए इस बिल को संसद के 30 सदस्यों की संयुक्त समिति को समर्पित कर दिया गया था। संसद के दोनों सदनों तथा विभिन्न दलों के सदस्यों से गठित इस समिति के विचार तथा सुझावों के पश्चात् 22 दिसम्बर, 1992 को संविधान संशोधन (73वाँ) विधेयक लगभग पूर्ण सहमति से पारित हो गया। इस पर शीघ्र ही राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए तथा 20 अप्रैल, 1993 को अधिसूचना निदेशित होने पर देश में संवैधानिक रूप से स्थापित नई पंचायती राज व्यवस्था लागू हो गई। संविधान के 73वें संशोधन से स्थापित पंचायती राज व्यवस्था के मूल प्रावधान अग्रलिखित हैः (i) पंचायती राज की स्थापना के लिए संविधान में नए अनुच्छेद 243ए से 243डी तथा एक नई अनुसूची-11 जोड़ी गई है। इन अनुच्छेदों तथा अनुसूची द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के गठन, प्रक्रिया तथा शक्तियों का वर्णन किया गया है। (ii) सभी राज्यों में पंचायती राज का स्वरूप एक समान होगा। यह तीन स्तरीय व्यवस्था पर आधारित होगा। (iii) तीन स्तरों के सदस्यों के चुनाव सीधे प्रत्यक्ष वयस्क मताधिकार के आधार पर होंगे। जिला तथा ब्लाक स्तर पर अध्यक्ष का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होगा। चुनाव अनिवार्य तथा निश्चित पाँच वर्ष के कार्यकाल के लिए होंगे। यदि निर्धारित व्यवस्था के अनुसार किसी स्तर को पाँच वर्ष से पहले भंग किया जाता है तो 6 महीने के अन्दर-अन्दर दुबारा चुनाव कराए जायेंगे। (iv) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए जनसंख्या में प्रतिशत के अनुपात में स्थान सुरक्षित होंगे। कम से कम एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। आरक्षित स्थानों के लिए चुनाव क्षेत्रों को समय-समय पर बदला जा सकता है। अध्यक्ष पद तथा अन्य पदों के लिए भी इन वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था होगी। (v) संविधान की 11वीं सूची में वर्णित शक्तियों तथा अधिकारों के अतिरिक्त आर्थिक नियोजन तथा विकास और सामाजिक न्याय इत्यादि संबंधित योजनाएँ बनाने और उन्हें लागू करने के अन्य अधिकार भी राज्य की विधायिका कानून बनाकर पंचायती राज संस्थाओं को दे सकती है। (vi) राज्य विधायिका को शक्ति दी गई है कि वह कानून द्वारा पंचायती राज्य संस्थाओं को कर, टोल इत्यादि लगाने, उन्हें एकत्रित करने तथा इस्तेमाल करने का अधिकार दें। राज्य सरकारें इन संस्थाओं को अनुदान भी दे सकती है। यह व्यवस्था भी की गई है कि प्रत्येक राज्य हर पाँच वर्ष या उससे पहले एक वित्त आयोग का गठन करेगा। यह आयोग राज्य सरकार तथा स्थानीय स्वशासन सस्थाओं में संशोधनों के तवरण के बारे में सुझाव देगा। (vii) पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव राज्य चुनाव आयाग के द्वारा करवाये जायेंगे। इसी प्रकार पंचायती राज संस्थाओं के हिसाब-किताब की जांच राज्य लेखा परीक्षक के द्वारा की जाएगी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना में निर्णायक कदम 73वाँ संविधान संशोधन, 1992 को माना जा सकता है, जिसके परिप्रेक्ष्य में भारतीय संविधान में 11वीं अनुसूची जोड़ी गई। उक्त अनुसूची में कुल विषय-वस्तु की संख्या 29 है। यह उल्लेखनीय है कि 20 अप्रैल, 1993 को 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम लागू हुआ, जिसने पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक अस्तित्व प्रदान किया। 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 के प्रावधान के परिप्रेक्ष्य में राज्यों ने पंचायती राज अधि नियम को पारित किया है। 73वाँ संविधान संशाधन के बाद भी स्थानीय प्रशासन और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में लगातार प्रयास होते रहे हैं जैसे दिलीप सिंह भूरिया समिति (1994-95), पंचायत अधिनियम (1996), ग्रामीण स्थानीय प्रशासन पर मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन (1997), ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज मंत्रियों का सम्मेलन (1998), पंचायती राज मंत्रियों का सम्मेलन (2001), पंचायती राज सशक्तिकरण हेतु केन्द्रीय कार्यबल (2001), पंचायत अध्यक्षों का राष्ट्रीय सम्मेलन (2002), पंचायती राज मंत्रियों का गोलमेज सम्मेलन (2004), टी० आर० रघुनन्दन कार्यबल (2004), पंचायती राज मंत्रालय का गठन (2004) तथा पंचायत में 50 प्रतिशत महिला आरक्षण (2009)। स्पष्टतः भारत में पंचायती राज व्यवस्था का वास्तविक विकास 73वाँ संविधान संशोधन, 1992 के बाद ही हुआ है। वर्ष 2014 से एन०डी०ए० की सरकार नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में चल रही है। इससे सरकारी संघवाद, केन्द्र-राज्य सम्बन्ध और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का स्वरूप भी आंशिक रूप में प्रभावित हुआ है।

अधययन का उद्देश्य

भारत गाँवों का देश है, गाँवों का विकास ही इस देश के विकास को सही अर्थों में परिलक्षित करेगा। इसके लिए आवश्यक है कि विकेन्द्रीकृत ग्रामीण स्वायत्त शासन की संस्थाओं जिसे आज के सन्दर्भ में पंचायती राज व्यवस्था और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के नाम से जानते हैं, के क्रमिक ऐतिहासिक प्रगति का सूक्ष्मावलोकन किया जाए ताकि समय विशेष एवं क्षेत्र विशेष के सन्दर्भ में विकेन्द्रीकरण के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु पंचायती राज व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाने की दिशा में सकारात्मक एवं सार्थक प्रयास किया जा सके।

परिकल्पना

शोध आलेख का लेखन निम्नलिखित परिकल्पनाओं पर आधारित होगा:

1. वर्त्तमान पंचायती राज व्यवस्था, पूर्व की अवधारणाओं का ऐतिहासिक क्रमिक विकास है।
2. पंचायती राज संस्थाएँ संवैधानिक प्राधिकार के बावजूद राज्य सरकारों की दृढ़ इच्छा शक्ति के अभाव में नियोजन की क्षमता एवं जन-सहभागिता के दृष्टिकोण से अपेक्षा के अनुरूप प्रभावी नहीं हो सकीं।
3. क्या पंचायती राज व्यवस्था का क्रियान्वयन व्यापक विकास, महिला सशक्तिकरण तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है?
4. भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य क्या है तथा दिशा क्या है? इसका सूक्ष्म व यथार्थ अवलोकन भी अपेक्षित है।
5. भारत में वर्ष 2014 से नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में छक। की की सरकार बनी है तथा सहकारी संघवाद पर सैद्धान्तिक बल है। ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का भी अवलोकन एवं विश्लेषण अपेक्षित प्रतीत होता है।

साहित्य सर्वेक्षण

भारत में राजनीतिक सहभागिता और महिला विषय पर अबतक अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन सम्पन्न हुए है। इस विषय पर महत्वपूर्ण अधययन में कुछ साहित्य का सामान्य अवलोकन भी अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख लेखन को सार्थकता प्रदान करता है। वस्तुत: शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए हमने निम्नलिखित प्रमुख साहित्य का सर्वेक्षण किया है:

1. डॉ० अमरजीत सिंह नारंग की पुस्तक 'भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजली पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
2. डॉ० जे०सी० जौहरी और डॉ० आर०के० पुखार, भारतीय शासन और राजनीति, विशाल पब्लिकेशन्स जालन्धर, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, वर्ष 1988
3. डॉ० जयप्रकाश शर्मा, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2000 ई०
4. मदोदर रावत, भारत की राजनीति और महिला, रावत पब्लिकेशन्स हरियाणा, 2001
5. डॉ० सुभाष काश्यप और विश्व प्रकाश गुप्त, संसद का इतिहास, भाग-1 और भाग-2, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, नवीन संस्करण, 2009

शोध की पद्धति

भारत में पंचायती राज व्यवस्था के विकास तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की पृष्ठभूमि तथा वर्तमान स्वरूप के विवेचन हेतु ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग उपयुक्त है। प्रस्तुत शोध आलेख में ऐतिहासिक पद्धति के अतिरिक्त तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग है।

निष्कर्ष

लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने की दृष्टि से पंचायती राज संस्थाओं को भारतीय संविधान में स्वशासन को इकाई की अवध रणा का उल्लेख एक सही कदम है, किन्तु ध्यान देने की बात है कि यह इकाई राजनीतिक के साथ-साथ आर्थिक इकाई भी है।

इस संदर्भ में ग्राम सभा को एक कृषि औद्योगिक समुदाय की संज्ञा दी जा सकती है। जी०वी०के० राव समिति को रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि विकास कार्यों में गाँव के लोगों का स्वैच्छिक सहयोग स्वालम्बन की दिशा में पहला कदम होगा राज्यों के पंचायत अधिनियमों में ऐसा प्रावधान है कि ग्राम सभा को इस जिम्मेदारी को निभाना है कि ग्रामीण विकास के किसी कार्यक्रम में श्रमदान हेतु लोगों को प्रेरित किया जाए। नि:सन्देह इसके लिए पंचायती राज संस्थाओं के स्तर पर एक गतिशील नेतृत्व की आवश्यकता होगी। सभी राज्यों की पंचायती राज संस्थाओं को कार्यकारिणी में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान है। कुछ राज्यों में महिलाओं के लिए पचास प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान लागू है। ग्राम सभा की बैठकों में पुरूषों की तुलना में आम महिलाओं की भागीदारी बेहद कम होती है। यह असमानता महिला सशक्तिकरण की दृष्टि के एक गलत संदेश देती है, आज महिलाओं द्वारा गठित स्वयं सहायता समूहों का व्यापक स्तर पर विकास हुआ है। किंतु यह अब तक साफ जाहिर नहीं होता है कि पंचायती राज संस्थाओं से इन समूहों का संबंध बन पाया है या नहीं। यदि ग्राम सभा के स्तर पर इन समूहों को महिलाओं की उपस्थिति सुनिश्चित की जाए तो ग्राम सभा में आम महिलाओं की भी भागीदारी बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त आम महिलाओं को स्वयं सहायता समूह बनाने की प्रेरणा मिलेगी और यह महिला सशक्तिकरण की दृष्टि से एक सराहनीय कदम होगा। यह खेदजनक है कि अधिकतर ग्राम पंचायत क्षेत्रों में इनका कोई पंचायत भवन नहीं है जहाँ इन संस्थाओं की बैठक हो सके हर ग्राम पंचायत के कार्यालय और एक बड़े सभा कक्ष की आवश्यकता होगी, किंतु इनके निर्माण हेतु कितनी भूमि की आवश्यकता होगी, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. बी० के० शर्मा, भारतीय संविधान : एक परिचय, पी०एच० आई, नौवां संस्करण, 2012, पृ०-49
2. कटारिया, सुरेन्द्र, भारतीय लोक प्रशासन, पृ०-20-21
3. तथैव, पृ०-21
4. तथैव, पृ०-22
5. तथैव, पृ०-22
6. तथैव, पृ०-23
7. तथैव, पृ०-23
8. चतुर्वेदी, टी० एन०, तुलनात्मक लोक प्रशासन, पृ०-54 .

भारतीय संविधान की विशेषताएँ

डॉ० अशोक कुमार

एम०ए० (राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन), पी०एच-डी०, पी०यू०

शोध आलेख का सार

भारतीय संविधान की संरचनात्मक, कार्यात्मक, अवधारणात्मक, प्रक्रियात्मक तथा विशिष्ट विशेषताएँ हैं, जिन्हें लिखित-निर्मित संविधान, संसार का सबसे विशाल संविधान, जन सम्प्रभुता पर आधारित संविधान, समाजवादी राज्य, लोकतांत्रिक गणराज्य, कठोर एवं लचीले संविधान का सम्मिश्रण, संघात्मक तथा एकात्मक प्रणाली का सम्मिश्रण, संसदीय प्रजातंत्र, लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना, संविधान की सर्वोच्चता, वयस्क मताधिकार, एकल नागरिकता, मौलिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का समावेश, राज्य की नीति निर्देशक तत्व, स्वतंत्र न्यायपालिका, सामाजिक न्याय, आपातकालीन प्रावधान, धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा विश्व शांति का समर्थक के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय संविधान की विशेषता इसकी विशालता भी है। सम्पूर्ण विश्व में भारत का संविधान सबसे विशाल है, जिनमें कुल अनुच्छेदों की संख्या-395 है। भारतीय संविधान की विशालता का मूल कारण एकल संविधान तथा भारत की बहुल संस्कृति का होना महत्वपूर्ण है। भारत ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के अन्तर्गत एकात्मक शासन की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी एकल संविधान, एकल नागरिकता, एकल न्यायिक व्यवस्था सहित कई प्रावधानों को स्वीकार करता है। भारत में संघवाद है, परन्तु भारत का संघवाद अमरीका तथा कनाडा से प्रभावित होकर भी उनका नकल नहीं है। अमरीका में तो संघ तथा राज्यों का अपना अलग-अलग संविधान है, जिसे भारत स्वीकार नहीं करता। भारतीय संघवाद अपने-आप में विलक्षण है, तभी तो डी०डी० बसु ने कहा है कि भारतीय संविधान ने संघात्मकता तथा एकात्मकता का सम्मिश्रण है। भारत का संविधान दुनिया के दूसरे देशों के संविधान से अलग एवं विलक्षण है।

मूल शब्दः सामाजिक न्याय, समाजवाद, पंथनिरपेक्षता, धर्मनिरपेक्षता, संसदीय शासन, संघवाद, न्यायिक पुनर्वालोकन, गणतंत्र, लोकतंत्र ।

प्रस्तावना

अमरीकी संविधान के समान भारत का संविधान भी लिखित एवं निर्मित है। निर्मित संविधान इसलिए कि भारत के संविधान का निर्माण एक विशेष समय और निश्चित योजना के अनुसार संविधान सभा द्वारा किया गया है। लिखित इसलिए कहा जाता है कि इसमें सरकार के संगठन, उसके प्रमुख अंगों यथा कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका का गठन व शक्तियों तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों, कर्तव्यों आदि का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। भारत का संविधान विश्व के अन्य संविधानों की तुलना में अत्यधिक व्यापक और विस्तृत संविधान है।[1] इसका मुख्य कारण इसमें 395 अनुच्छेद, 22 अध्याय एवं 12 अनुसूचियाँ हैं, जबकि इसकी तुलना में संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में मात्र 7 अनुच्छेद, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128, कनाडा के संविधान में 147, चीन के संविधान में 106 अनुच्छेद हैं।[2] भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इस संविधान को भारत की जनता ने बनाया है और इसमें अन्तिम शक्ति जनता को प्रदान की गई है। इस प्रकार भारतीय संविधान सन् 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की तरह ब्रिटिश संसद या अन्य किसी बाहरी शक्ति की कृति नहीं, वरन् जनता द्वारा निर्मित अधिनियम और अंगीकृत है। सन् 1976 के 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में 'समाजवादी' शब्द जोड़ा गया है।[3] 'समाजवाद राज्य' का अर्थ है कि समस्त नागरिकों को अपनी उन्नति और विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होंगे तथा उत्पादन एवं वितरण आदि पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होगा।

धर्मनिरपेक्षवाद का विचार संविधान की आधार संरचना में देखा जा सकता है, जिसके प्राथमिक प्रमाण हमें प्राक्कथन (Preamble) में जिसका विस्तृत दिग्दर्शन समानता व धर्म संबंधी विभिन्न मौलिक अधिकारों (Fundamental Rights) के प्रावधानों में मिलता है। भारतीय संविधान में निहित धर्मनिरपेक्षवाद की धारणा उन सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका गाँधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस दल ने दृढ़ता से वरण किया। यह स्थिति दिखाती है कि भारतीय संविधान ने देश को विभाजित करने वाले जिन्ना के द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के पाप को धोने का सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया है। अस्तु, एक वरिष्ठ सदस्य अनन्तसायनम आयंगार ने 7 दिसम्बर, 1948 को संविधान सभा में कहा, 'हम राज्य को धर्मनिरपेक्ष बनाने के लिए कृत-संकल्पित हैं। मेरा 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द से तात्पर्य किसी भी धर्म को न मानने और दैनिक जीवन में उससे कोई सम्बन्ध न रखने से नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि राज्य या सरकार किसी भी धर्म की सहायता नहीं करेगी या किसी धर्म को अन्य वर्गों के विरुद्ध प्राथमिकता नहीं देगी। अतः शासन अपनी प्रकृति से पूर्णतया धर्मनरिपेक्ष ही रहेगा।' संविधान की धर्मनिरपेक्षता के प्रमाण अग्रलिखित उपबन्धों में दृष्टिगोचर होते हैं: (i) प्रस्तावना में कहा गया है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है तथा यह सभी नागरिकों की विभिन्न स्वतन्त्रताओं (जैसे विश्वास, आस्था एवं उपासना की स्वतन्त्रता) के बारे में प्रतिभूत करता है; (ii) भारतीय संविधान के अनु० 14 के अनुसार, राज्य भारत की सीमाओं के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता तथा कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा; (iii) भारतीय संविधान के अनु० 15 के अनुसार, राज्य किसी व्यक्ति के साथ उसकी नस्ल, धर्म व जाति के आधार पर विभेद नहीं करेगा। आगे यह प्रावधान भी किया गया है कि धर्म, जाति व नस्ल आदि के आधारों पर किसी भी नागरिक को दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, जलपानगृहों, मनोरंजन स्थलों आदि में प्रवेश करने पर या राज्य के कोष द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप से सहायता प्राप्त, कुओं, तालाबों, सड़कों व सार्वजनिक विश्रामस्थलों के उपयोग पर कोई बाध्यता या अयोग्यता लागू नहीं की जा सकेगी; (iv) भारतीय संविधान के अनु० 16 के अनुसार किसी नागरिक को धर्म, जाति या नस्ल के आधार पर सार्वजनिक सेवाओं के लिए आयोग्य व अपात्र घोषित नहीं किया जाएगा और नहीं राज्य द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप से सहायता प्राप्त किसी शैक्षिक संस्था में प्रवेश से वंचित किया जाएगा। (v) भारतीय संविधान के अनु०-17 के अनुसार, छुआछूत समाप्त कर दी गई है और किसी भी रूप में इसका पालन वर्जित है। अस्पृश्यता के आधार पर किसी प्रकार की अयोग्यता को लागू करना कानून के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध होगा। (vi) भारतीय संविधान के अनु० 25 के अनुसार, सभी व्यक्ति समान तौर से विश्वास या धर्म की स्वतंत्रता के अधिकारी हैं और उन्हें अपनी पसंद के किसी धर्म के पालन, आचरण, व शान्तिपूर्ण तरीकों से उसका प्रचार करने का अधिकार है। (vii) भारतीय संविधान के अनु० 26 के अनुसार, प्रत्येक धार्मिक समुदाय व उसका कोई सम्प्रदाय धर्म व कल्याण संबंधी कार्यों के लिए अपनी संस्थाओं की स्थापना व संचालन करने का अधिकारी है व धार्मिक कार्यों को स्वयं संचालित करने, उसकी चल व अचल सम्पत्ति के स्वामित्व व अधिग्रहण करने तथा कानून के अनुसार अधिशासित करने के अधिकारी है। (viii) भारतीय संविधान के अनु० 27 के अनुसार, कोई व्यक्ति ऐसे करों का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जिनसे प्राप्त आय किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विनियुक्त है। (ix) भारतीय संविधान अनु० 28 के अनुसार, राज्य द्वारा आंशिक या पूर्णरूप से सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षा संस्थानों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य रूप से नहीं दी जाएगी। (x) भारतीय संविधान के अनु० 29 के अनुसार, राज्य किसी समुदाय या सम्प्रदाय की संस्तुति के अतिरिक्त उस पर अन्य संस्कृति नहीं थोपेगा और सभी समुदायों या सम्प्रदायों को स्वेच्छा से अपनी शिक्षण संस्था स्थापित करने व उन्हें संचालित करने का अधिकार होगा। शैक्षिक संस्थानों को अनुदान देने में राज्य किसी विद्यालय के प्रति इस आधार पर भेद नहीं करेगा कि वह संस्था किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा संचालित की जा रही है, जो किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रबन्ध के अन्तर्गत ही है।

भारतीय संविधान के उपर्युक्त सभी प्रावधान दृढ़तापूर्वक यह घोषित करते हैं कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। जैसा बसु ने कहा है, उपर्युक्त प्रावधान समग्र रूप से भारतीय राज्य को संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक धर्मनिरपेक्ष बनाते हैं।[4] राजनीति के धर्म से ज्ञानतः विलग होने के सिद्धान्त पर भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद आधारित है।[5]

भारतीय संविधान की विशेषता समाजवादी मान्यताओं की स्वीकृति भी है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत समाजवादी मूल्यों को अपनाया गया था, परन्तु प्रस्तावना के अन्तर्गत समाजवाद का उल्लेख नहीं था। 42वें संविधान संशोधन के द्वारा समाजवाद शब्द जोड़ा गया। भारतीय संविधान में जो निहित समझा जाता था, 42वें संविधान संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा दो नए शब्दों 'समाजवादी' व 'धर्मनिरपेक्ष' के प्राक्कथन में जुड़ जाने से प्रयत्क्ष हो गया है 'राष्ट्र की एकता' के साथ 'राष्ट्र की अखण्डता' को जोड़ दिया गया है। एक अंग्रेजी शब्दकोष (व्गवितक क्पबजपवदंतल) के अनुसार, समाजवाद 'सामाजिक संगठन का ऐसा सिद्धान्त या नीति

है जो उत्पादन के साधनों, पूँजी, जमीन, सम्पत्ति आदि का सम्पूर्ण समुदाय द्वारा नियंत्रण व स्वामित्व का समर्थन करता है व सभी के हितों हेतु वितरण व प्रशासन की व्यवस्था करता है।' यहाँ यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि प्रस्तावना में 'समाजवादी' राष्ट्र लिखे जाने के बावजूद, हमारा मौलिक विधान इस विवादास्पद व संशयात्मक शब्द की नेहरू द्वारा परिभाषित भावना का ही अनुगमन करता रहा है। इसे प्रजातान्त्रिक समाजवाद की भावना के सन्दर्भ में ही समझना चाहिए। इसका सहज तात्पर्य यह है कि राज्य ने स्वयं अपने ऊपर यह दायित्व लिया है कि वह गरीबी मिटाने, उत्पादन बढ़ाने के लिए भावी कदमों का उपयोग करने, हमारी आर्थिक व्यवस्था को आधुनिक बनाने के लिए प्रमुख आधुनिक उद्योगों की स्थापना करने, सभी आर्थिक गतिविधियों में सामाजिक लक्ष्यों का क्रियान्वयन करने, विभिन्न वर्गों व क्षेत्रों की एतिहासिक विषमता को मिटाने व असमानता को कम करने और एकाधिकार के विकास रोकने व नियंत्रण करने का प्रयास करेगा। जैसा सरदार स्वर्ण सिंह ने बंगलौर में आयोजित हनुमनतैया न्यास भाषण माला (21 अगस्त, 1976) में कहा कि 'समाजवादी' शब्द को लिखने का उद्देश्य सरकार को उसकी नीति निर्धारण में सकारात्मक मार्ग दर्शन करना है। सामाजिक व आर्थिक न्याय का उद्देश्य व क्रियान्वयन देश को सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में दूरगामी परिवर्तन लाने का आधार है, जिसके लिए हम प्रतिबद्ध हैं। जैसा कि प्रस्तावित है, राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों को हमारे मौलिक अधिकारों से प्राथमिकता देनी चाहिए जिससे समाजवादी कार्यक्रमों व आदर्शों को क्रियान्वित करने में गति प्रदान की जा सके।[6] भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है। प्रत्येक संविधान का परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनशील होना उसकी संवैधानिक प्रक्रिया है, जिसके सन्दर्भ में उसे अपरिवर्तनशील या कठोर संविधान अथवा लचीला संविधान कहते हैं। यदि संविधान में संशोधन के लिए कोई विशेष या कठिन प्रक्रिया है तो उसे अपरिवर्तनशील अथवा कठोर संविधान कहते हैं। यदि संविधान संशोधन प्रक्रिया आसान है तो उसे लचीला संविधान कहते हैं। भारतीय संविधान में संशोध न न तो अमरीका जैसा कठोर है और न ही ब्रिटेन जैसा अधिक लचीला है। भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया मध्यमार्गी है। संघवाद कठोर संविधान की मांग करता है, इसीलिए अमरीकी संविधान कठोर संविधान है। ब्रिटिश संविधान संसदीय शासन प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में लचीला संविधान है। चूँकि भारत में संघवाद और संसदीय शासन प्रणाली के बीच समन्वय किया गया है, इसीलिए भारतीय संविधान में संशोधन की मध्यमार्गी प्रक्रिया को अपनाया गया है तथा यह भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण प्रक्रियात्मक विशेषता है।[7] भारत में संघवाद के अनुरूप दोहरी सरकार, संघ तथा राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन, लिखित-निर्मित संविधान तथा स्वतंत्र न्यायपालिका को अपनाया गया है। दूसरी ओर भारतीय संविधान में अनेकानेक एकात्मक शासन के लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे- एकल नागरिकता, एकहरी न्यायपालिका, आपातकाल, अवशिष्ट शक्ति, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति इत्यादि। चूँकि भारत में संघात्मक के साथ-साथ एकात्मक राज्य की अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, इसलिए भारतीय संविधान एम० बी० पायली के शब्दों में, "शरीर से संघात्मक, परन्तु आत्मा से एकात्मक है।"[8] स्पष्टत: भारतीय संविधान की एक विशेषता इसका संघात्मक होते हुए भी एकात्मक होना है। भारतीय संविधान संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताओं को अपनाता है। संसदीय शासन प्रणाली के अनुरूप भारत में दोहरी कार्यपालिका अर्थात् औपचारिक एवं वास्तविक कार्यपालिका, विधायिका और कार्यपालिका में समन्वय, विधायिका के प्रति कार्यपालिका का उत्तरदायित्व होना, राजनीतिक सजातीयता का सिद्धान्त तथा संविधान की सर्वोच्ता में संसदीय विशेषाधिकार के सिद्धान्त को अपनाया गया है। स्पष्टत: भारत में संसदीय प्रजातंत्र की उपस्थिति है, जो भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। भारत लोकतांत्रिक व्यवस्था ही नहीं, गणतंत्रात्मक व्यवस्था को भी अपनाता है, तभी तो भारतीय संविधान दुनिया का एक महान लोकतांत्रिक संविधान है। गणतंत्र के अनुरूप भारत में राष्ट्राध्यक्ष जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में ही सही निर्वाचित किया जाता है। भारतीय संविधान में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्वीकार किया गया है, जिसके द्वारा अपने नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास तथा धार्मिक मामलों में भी स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान लोक कल्याणकारी राज्य के साथ-साथ जन संप्रभुता आधारित राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्था को स्वीकार करता है, जो भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता मानी जा सकती है।

भारत में संघवाद के अनुरूप न तो न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अमरीका के समान अपनाया गया है और न ही ब्रिटेन के समान संसदीय शासन प्रणाली के सन्दर्भ में संसद की सर्वोच्चता को ही अपनाया गया है। भारत में संघवाद और संसदीय प्रजातंत्र के समन्वय के परिप्रेक्ष्य में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। संविधान की सर्वोच्चता भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारत में भले ही संविधान निर्माताओं

ने संविधान की सर्वोच्चता को सिद्धान्त को स्वीकार किया था, परन्तु यहाँ की न्यायपालिका के कार्यकरण में न्यायिक सर्वोच्चता दृष्टिगोचर हो रही है। ऐसे भी मूल भारतीय संविधान में न्यायपालिका को एकीकृत तथा पृथक् करके न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार देना उसे सर्वोच्चता की ओर अग्रसर करने जैसा ही रहा है, तभी तो भारत की न्यायपालिका 'सर्वोच्च न्यायालय' ने केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वाद में वर्ष 1973 में मूल 'संविधान के ढाँचा के सिद्धान्त' ('Doctorine of Basic Structure of the Constitution') को प्रतिपादित कर भारत की राजनीतिक व्यवस्था में अपनी सवोच्चता को स्थापित किया है, जो बाद के कालक्रमों में 'न्यायिक सक्रियता' के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है।[9] भारतीय संविधान के अंतर्गत वयस्क मताधिकार का उपबन्ध अनुच्छेद-326 के अन्तर्गत किया गया है, जिसे भारतीय संविधान की एक विशेषता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत वयस्क मताधिकार को अपनाया गया है जिसके अनुसार सभी स्त्री-पुरुष (दिवालिया, पागल और अपराधियों को छोड़कर) को निर्वाचन में मत देने का अधिकार प्रदान किया गया है। मतदान में वयस्कता की आयु सन् 1988 के 61वें संविधान संशोधन द्वारा 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है।[10] अब प्रत्येक स्त्री-पुरुष नागरिक जिसकी आयु 18 वर्ष या अधिक है, मतदान में भाग ले सकता है। लोक सभा तथा विधान सभाओं और स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर ही होते हैं। भारतीय संविधान में समस्त नागरिकों के लिए इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की गई है। यहाँ सभी व्यक्ति भारत के नागरिक हैं, पृथक्-पृथक् राज्यों के नागरिक नहीं। भारत में अमरीका के समान दोहरी नागरिकता नहीं है; जैसे- भारत के किसी भी प्रान्त में रहने वाला व्यक्ति भारत का ही नागरिक होगा, न कि उस प्रान्त का। भारतीय संविधान एक लोकतांत्रिक संविधान है। इस परिप्रेक्ष्य में संविधान की विशेषता मौलिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का उपबंध होना है।

संविधान के भाग-3, अनुच्छेद 12-35 के बीच सात प्रकार के मौलिक अधिकारों को उपबंधित था। वर्तमान समय में छः प्रकार के मौलिक अधिकार भाग-3 में उपबंधित रह गये हैं, क्योंकि 44वें संविधान संशोधन, 1978 के द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को भाग-12, अनुच्छेद-300(क) के अन्तर्गत वैधानिक अधिकार बना दिया गया है।[11] भारतीय संविधान की एक विशेषता संविधान के अन्तर्गत व्यापक रूप से मौलिक अधिकारों का उपबन्ध होना है। संविधान के भाग-प्प्, अनु० 12 से 35 के बीच मौलिक अधिकारों का उपबन्ध है। भारत में मौलिक अधिकार की माँग सबसे पहले 1895 में की गई थी। भारतीयों ने अंग्रेजों के बराबर अधिकारों की माँग किया। इसके पश्चात् ऐनी बेसेन्ट ने कॉमनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल 1925 में तथा मोतीलाल नेहरू कमेटी रिपोर्ट 1928 में भी यह माँग की गई कि भारतीयों को भी मौलिक अधिकार दिए जाएँ। इसके पश्चात् 1930 के करांची अधिवेशन में भी कांग्रेस पार्टी ने इस माँग को दोहराया था और दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस में महात्मा गाँधी ने भी यह माँग को दोहराया था और दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस में महात्मा गाँधी ने भी यह माँग उठायी थी, परन्तु 1934 में संयुक्त संसदीय समिति ने इस माँग की स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। इसी कारण मौलिक अधिकारों को भारत सरकार के 1935 के अधिनियम में इनके लिए कोई भी व्यवस्था नहीं की गई।

भारत सरकार के अधिनियम 1935 के आंशिक रूप से लागू किए जाने पश्चात् दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो गया और भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण सारे कांग्रेसी नेताओं को जेल में बन्द कर दिया गया। इसके पश्चात् भारत के संविधान से संबंधित सप्रू रिपोर्ट जो 1945 के अन्त में प्रकाशित की गई थी, उसमें भी मौलिक अधिकारों को शामिल करने की बात कही गई थी।

भारतीय संविधान में जिन मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है उनकी अग्रलिखित विशेषताएँ हैं।[12] (i) मौलिक अधिकारों पर युक्तियुक्त बन्धन लगाए गए हैं, ताकि व्यक्तिगत अधिकारों को जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए सीमित किया जा सकें। लगाए गए बन्धन युक्तियुक्त है या नहीं, इस बात का निर्णय अदालत करेगी। (ii) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20 तथा 21 में दिए गए मौलिक अधिकारों को छोड़कर जो व्यक्ति को उस समय तक सजा देने से जब तक कि दोष सिद्ध नहीं हो जाता (अनुच्छेद 20) तथा उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के बिना वंचित करने से रोकते हैं (अनुच्छेद 21), अन्य सभी अधिकारों को आपातकाल के समय निलम्बित किया जा सकता है (अनुच्छेद 359)। आपातकाल में अनुच्छेद 19 में दिए गए अधिकार आपातकाल की घोषणा के साथ स्वयं ही निलम्बित हो जाते हैं, परन्तु अन्य अधिकारों को निलम्बित करने के लिए राष्ट्रपति के आदेश की आवश्यकता होती है। ये अधिकार उस समय तक निलम्बित रह सकते हैं जब तक कि आपातकाल की घोषणा जारी रहती है, परन्तु आपातकाल की घोषणा से समाप्त होने से पहले इनके निलम्बन से संबंधित आदेश को राष्ट्रपति वापिस ले सकता है। (iii) मौलिक अधिकारों को निलम्बित तो किया जा सकता है, परन्तु उन्हें संविधान से निकाला नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से संविधान का उल्लंघन होता है। (iv) कुछ मौलिक अधिकार नकारात्मक हैं, क्योंकि वे राज्य की शक्तियों को सीमित करते

हैं, परन्तु कुछ मौलिक अधिकार सकारात्मक हैं; क्योंकि वे नागरिकों को कुछ स्वतंत्रताएँ देते हैं। उदाहरणतया अनुच्छेद 15 राज्य को भेदभाव करने से रोकता है, परन्तु अनच्छेद 19 बोलने तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देता है। (v) कुछ मौलिक अधिकार ऐसे हैं जो केवल नागरिकों को ही दिए गए हैं, परन्तु कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो नागरिकों के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को भी दिए गए हैं। उदाहरणतया, बोलने तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता केवल नागरिकों को ही दी गई है, परन्तु कानून के समक्ष समता का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को दिया गया है, चाहे वह नागरिक हो या न हो। (vi) कुछ अधिकार केवल राज्य के विरुद्ध दिए गए हैं, परन्तु कुछ अधिकार केवल व्यक्तियों के विरुद्ध दिए गए हैं। उदाहरणतया, राज्य-धर्म व नस्ल के आधार पर व्यक्तियों में भेदभाव नहीं कर सकता। लेकिन व्यक्तियों को बेगार लेने तथा मानव के साथ दुर्व्यवहार करने की आज्ञा नहीं है। (vii) यदि किसी भी मौलिक अधिकार का उल्लंघन हो तो उसे न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है, क्योंकि इन अधिकारों को लागू करना न्यायालय का कर्तव्य है। (viii) कुछ मौलिक अधिकार ऐसे हैं जो सैनिकों को नहीं दिए गए हैं, लेकिन ऐसे कौन-से अधिकार है जो सैनिकों को नहीं दिए गए हैं, वे ऐसे अधिकार होंगे जिनके बारे में संसद कानून पास करेगी।

यदि मौलिक अधिकारों का वर्गीकरण किया जाए तो उन्हें छः श्रेणियों में बाँटा जा सकता है जो इस प्रकार हैं[13]–

1. समता का अधिकार (अनुच्छेद 14-18)
2. स्वतंत्रता तथा प्राण और दैहिक संरक्षण का अधिकार (अुनच्छेद-19-22)
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23-24)
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25-28)
5. संस्कृति तथा शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29-30)
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

भारतीय संविधान की यह भी एक प्रमुख विशेषता है कि समाजवादी मान्यता के प्रभाव में सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से हटाकर वैधानिक अधिकार बना दिया गया है। भारतीय संविधान में दिए गए मूल अधिकारों में सबसे अधिक विवाद सम्पत्ति के अधिकार के संबंध में रहा है और इस अधिकार को लेकर अनेक संवैधानिक मामले न्यायालय के सामने उठाए गए। 1971 के बाद के मूल अधिकारों और विशेषकर सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने के बराबर प्रयत्न किए जाते रहे जिसका अंत 1978 के 44वें संशोधन पर हुआ। इस संशोधन के द्वारा मूल अधिकार के रूप में एक लम्बा इतिहास है, जिसका अध्ययन करना मूल अधिकारों के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए आवश्यक है। मूल भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 में संपत्ति अर्जित करने, रखने तथा बेचने की स्वतंत्रता प्रदान की गई थी, जबकि अनुच्छेद 31 में संपत्ति के विषय में राज्य तथा नागरिकों के सम्बन्धों को तथा व्यक्तिगत संपत्ति में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किए जाने की परिस्थितियों तथा सीमाओं को निर्धारित किया गया है। अनुच्छेद 31 का जो मूल स्वरूप संविधान में निश्चित किया गया था वह बाद में संशोधनों द्वारा धीरे-धीरे परिवर्तित होता रहा। अब सम्पत्ति का अधिकार संविधान के भाग 12, अनुच्छेद 300 (क) में वैधानिक अधिकार है। आयरलैंड के संविधान की तरह भारत के संविधान में भी राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का वर्णन किया गया है। इसे भी भारतीय संविधान की विशेषता माना जा सकता है। राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों को न्यायालय द्वारा लागू तो नहीं किया जा सकता, परन्तु देश के शासन के लिए ये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और विधि बनाते समय राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इन तत्त्वों को लागू करने की व्यवस्था करें। जहाँ पर मौलिक अधिकारों के अध्याय का उद्देश्य राजनैतिक प्रजातन्त्र स्थापित करना है, वहाँ पर राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य आर्थिक न्याय पर आधारित प्रजातंत्र स्थापित करना है। इसलिए इस अध्याय का संविधान में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यदि जनता को आर्थिक न्याय नहीं मिलेगा तो राजनैतिक प्रजातंत्र को खतरा हो सकता है। राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का एकमात्र उद्देश्य जनता के शोषण को खत्म करके उसे आर्थिक न्याय दिलाना है। दूसरे शब्दों में, हम यह भी कह सकते हैं कि राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व सकारात्मक हैं और मौलिक अधिकार नकारात्मक। इस अध्याय का एकमात्र उद्देश्य आर्थिक न्याय पर आधारित समाज की स्थापना करना है।[14]

भारतीय संविधान में मौलिक कर्त्तव्यों का शामिल करना समाजवादी प्रभाव है तथा एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है। भारतीय संविधान के 42वें संशोधन 1976 के द्वारा संविधान में मूल कर्त्तव्यों को भाग 4 (क) अनुच्छेद 51 (क) में शामिल कर दिया गया है। इस अध्याय के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक के दस कर्त्तव्य हैं। उनमें से संविधान का पालन करना, उसके आदर्शों,

संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करना, भारत की एकता, प्रभुता और अखण्डता की रक्षा करना, देश की रक्षा करना, मातृभाषा की भावना का निर्माण करना, सार्वजनिक सम्पत्ति, प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करना, इत्यादि मुख्य कर्त्तव्य हैं, जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। 86वें संविधान संशोधन, 2002 द्वारा एक और मौलिक कर्त्तव्य जोड़ दिया गया है। इस प्रकार अब 11 मौलिक कर्त्तव्य हो गए हैं।[15]

भारत एक महान लोकतांत्रिक देश है तथा भारतीय संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता लौकिक सम्प्रभुता सिद्धान्त की स्वीकृति हैं। भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुता पर आधारित संविधान है अर्थात यह भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधान है और इस संविधान द्वारा अंतिम शक्ति भारतीय जनता को ही प्रदान की गई है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि, ''हम भारत के लोग दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज दिनांक 26 नवंबर, 1949 ई० को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के द्वारा यह घोषित किया गया कि 15 अगस्त, 1947 से भारत ब्रिटिश शासन के अधीन नहीं रहा। ब्रिटिश सरकार और संसद का भारत के प्रशासन के लिए उत्तरदायित्व समाप्त कर दिया गया और भारत एक प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र बन गया। इस प्रकार, भारत का संविधान ब्रिटिश संसद की देन नहीं है, वरन भारत के लोगों ने एक प्रभुता सम्पन्न संविधान सभा में समवेत अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से इसे स्वीकार किया है। भारतीय संविधान में अंतिम शक्ति जनता को प्रदान की गई है अर्थात् प्रभुसत्ता जनता में निहित है किसी व्यक्ति विशेष में नहीं। प्रभुता सम्पन्न का तात्पर्य यह है कि संप्रभु राष्ट्र बाह्य अथवा आंतरिक दबाव के कारण किसी अंतर्राष्ट्रीय संधि या समझौते को स्वीकार करने या न करने के लिए बाध्य नहीं होगा।

भारतीय संविधान की महत्त्वपूर्ण विशेषता इसका लोकतांत्रिक स्वीकार है। संविधान द्वारा भारत में एक लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गई है। 'लोकतंत्रात्मक' शब्द का अभिप्राय यह है कि सरकार की शक्ति का स्रोत जनता में निहित है, क्योंकि लोकतंत्रात्मक सरकार जनता की, जनता के लिए, जनता द्वारा स्थापित होती है। सरकार की स्थापना जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होती है और प्रतिनिधियों का चुनाव जनता संविधान द्वारा प्रदत्त वयस्क मताधिकार द्वारा करती है। गणराज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से हैं, जहाँ शासनाध्यक्ष वंशानुगत न होकर जनता द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। अमरीका जैसे विश्व के कुछ ऐसे लोकतंत्रात्मक राज्य होने के साथ-साथ एक गणराज्य भी है। भारतीय संविधान की विशेषता इसका गणतंत्रात्मक स्वरूप होना भी है।

मूल भारतीय संविधान में भले ही मौलिक कर्तव्यों का उपबंध नहीं किया गया था, परन्तु 42वें संविधान संशोधन, 1976 के द्वारा भाग-4(क), अनुच्छेद-51(क) के अन्तर्गत मौलिक कर्तव्यों का समावेश कर दिया गया है।[16] स्पष्टत: वर्तमान भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण विशेषता मौलिक अधिकारों के साथ-साथ मौलिक कर्तव्यों का उपबंध होना है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत आयरलैंड के संविधान से प्रभावित होकर भाग-4, अनुच्छेद-36 से 51 के बीच राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का उपबंध किया गया है, जो गाँधीवादी, समाजवादी तथा उदारवादी विचारधारा से प्रभावित एवं निर्मित है। स्पष्टत: नीति-निर्देशक तत्वों का उपबंध भारत को निर्देशित करने से सम्बिन्धित है तथा इसकी महत्वपूर्ण विशेषता भी है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गयी है। भारतीय न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाये रखने के लिए कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को अनुचित दबाव से मुक्त रखा गया है। सर्वोच्च न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है तथा अमरीकी संविधान से प्रभावित होकर भारतीय न्यायपालिका को भी न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार दिया गया है। स्पष्टत: स्वतंत्र न्यायपालिका तथा न्यायिक पुनरावलोकन का उपबंध भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत सामाजिक न्याय के अवधारणा को अपनाया गया है तथा इस परिप्रेक्ष्य में समाज के कमजोर लोगों को विशेष सुविधा व लाभ प्रदान करना लक्ष्य रखा गया है। संविधान अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यकों एवं पिछड़े वर्गों के लोगों के लिए सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में विशेष उपबंध करता है। स्पष्टत: सामाजिक न्याय भारतीय संविधान का मूल ढाँचा बन गया है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता भी है। धर्मनिरपेक्षता को न केवल राज्य से संबद्ध किया गया है, बल्कि इसे प्रत्येक व्यक्ति से जोड़ा गया है। भारत के प्रत्येक नागरिक को विधि के समक्ष समानता यानि विधि के शासन के सन्दर्भ में अधिकार प्राप्त है, चाहे उसकी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र इत्यादि कुछ भी हो।

भारतीय संविधान की एक विशेषता भारत में विधि का शासन तथा विधि का समान संरक्षण के सिद्धान्त का होना है। हम यह

जानते हैं कि ब्रिटिश विधि-शास्त्र से प्रभावित होकर भारत में ए० बी० डायसी के द्वारा प्रतिपादित 'विधि के शासन के सिद्धान्त' को अपनाया गया है, तो दूसरी ओर भारतीय संविधान के अन्तर्गत अमरीकी विधिशास्त्र से प्रभावित होकर 'कानून के समान संरक्षण के सिद्धान्त' को भी अपनाया गया है।[17] स्पष्टत: भारतीय संविधान में इन दोनों अवधारणाओं को समन्वित करके विशिष्टता को प्राप्त किया है। भारत में ग्राम पंचायत विषयक उपबंध भाग-4, अनुच्छेद-40 के अन्तर्गत किया गया है, हालांकि 73वाँ संविधान संशोधन, 1992 यहाँ ग्रामीण स्थानीय प्रशासन यानि पंचायती राज व्यवस्था को प्रभावी बनाता है। यह उल्लेखनीय है कि 74वाँ संविधान संशोध न, 1992 नगरीय स्थानीय प्रशासन यानि नगरपालिकाओं को प्रभावी बनाने से सम्बन्धित है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय संविधान के अन्तर्गत क्रमश: 11वीं अनुसूची (कुल विषयों की संख्या-29) तथा 12वीं अनुसूची (कुल विषयों की संख्या-18) का उपबंध किया गया है।[18] स्पष्टत: भारतीय संविधान की एक विशेषता स्थानीय प्रशासन का उपबंध होना है। भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें विश्व-शांति, सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना पर बल दिया गया है। संविधान में वर्णित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि "राज्य अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा की उन्नति और राष्ट्रों के मध्य न्याय तथा सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रबन्ध करेगा।" भारत सरकार ने अपने संविधान के अनुसार यथासम्भव अपने आदर्शों का पालन किया है और स्वयं को गुटों और सैनिक सन्धियों से पृथक् ही रखा है। भारत आज भी नि:शस्त्रीकरण के पक्ष में निरन्तर वातावरण बना रहा है। वह दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की नीति के विरुद्ध विश्व जनमत तैयार कर अपने उद्देश्य में सफल हुआ है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य भारतीय संविधान की मौलिक विशेषताओं को स्पष्ट करना है। इस आलेख का उद्देश्य भारतीय संविधान की मूल आधार के रूप में संघवाद तथा संसदीय शासन प्रणाली के स्वरूप को भी स्पष्ट करना है। संविधान की विशेषताओं के अध्ययन से इसका स्वरूप भी स्पष्ट होता है। स्पष्टत: प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य संविधान की मौलिक स्वरूप को स्पष्ट करना भी है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक भारतीय संविधान की विशेषताएँ हैं। इस शीर्षक की परिकल्पना इसके स्वरूप, अस्तित्व, कार्यकरण व औचित्य से सम्बद्ध किया जा सकता है। भारतीय संविधान की विशेषताओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भविष्य में संसदीय शासन प्रणाली की तुलना में संघवादी स्वरूप अधिक सशक्त होगा। नागरिकता तथा आपातकाल जैसे अनेक एकात्मक प्रावधानों से शक्तिशाली केन्द्र सरकार की संभावना भविष्य में अपेक्षित है। नक्सलवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता तथा आतंकवाद जैसी गतिवधियों से भविष्य में भारतीय शासन का स्वरूप अधिकाधिक सशक्त होगा तथा इससे संविधान का कार्यकरण भी प्रभावित होगा।

साहित्य सर्वेक्षण

भारतीय संविधान की विशेषता पर अबतक अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन सम्पन्न हुए हैं। इस विषय पर साहित्य सर्वेक्षण का सामान्य अवलोकन अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए भी महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रस्तुत शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख साहित्य सर्वेक्षण किया है:

1. भारतीय संविधान- एक परिचय 'ब्रजकिशोर शर्मा, पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, प्रकाशन वर्ष 2015 (11वाँ संस्करण)।
2. भारतीय शासन और राजनीति, डॉ० अमरजीत सिंह नारंग, गीतांजली पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 1998
3. भारतीय शासन और राजनीति, डॉ० जे०सी० जौहरी और डॉ० आर०के० पूर्वार, विकास पब्लिकेशन, जालंधर एवं नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1988
4. भारत का संविधान, बसंती लाल बाबेल, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहाबाद, सोलहवाँ संस्करण, वर्ष 2019
5. भारतीय राज व्यवस्था, डॉ० जयप्रकाश शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, वर्ष 2000

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख के लेखन में ऐतिहासिक एवं वस्तु-विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है। शोध आलेख की तैयारी में पूर्व का साहित्य सर्वेक्षण का अवलोकन किया गया है, जिसके सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि इसमें तुलनात्मक पद्धति का भी आंशिक प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष

अबतक के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत का संविधान स्वयं में एक विलक्षण संविधान है। भारत में संघवाद तथा संसदीय शासन प्रणाली क्रमशः अमरीका तथा ब्रिटेन से प्रभावित होकर स्वीकार किया गया है, परन्तु हमारा संघवाद अमरीकी संघवाद अथवा कनाडा के संघवाद का नकल नहीं है। यह तो संघवाद के साथ-साथ एकात्मकता की ओर भी झुका हुआ है। तभी तो डी०डी० बसु ने कहा है कि भारतीय संविधान संघात्मकता तथा एकात्मकता का समिश्रण है। भारत में संघवाद के बाद भी एकल नागरिकता को स्वीकार किया गया है। भारत का संविधान समाजवाद, पंथनिरपेक्षता तथा गणतंत्र की अवधारणा को स्वीकार करता है। भारत का लोकतंत्र गणतंत्र से जोड़कर दुनिया के महान प्रजातांत्रिक देश बन जाता है। संविधान संशोधन में भी भारतीय संविधान मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। न्यायपालिका अमरीका से प्रभावित होकर न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा को स्वीकार करती है, परन्तु यहाँ तो संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। स्पष्टतः भारतीय संविधान संरचना, प्रक्रिया, कार्यकरण, सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में विशिष्ट विलक्षण एवं महत्वपूर्ण है। इसकी विशालता अपने आप में संपूर्ण दुनिया में प्रथम, प्राथमिक और महत्वपूर्ण बनाती है।

सन्दर्भ सूची

1. डॉ० अशोक कुमार, लोक प्रशासन, प्रतियोगिता सन्दर्भ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं०-22 तथा 23
2. पुरूषोत्तम नारंग, न्यू रिपब्लिक पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं०-83
3. तथैव, पृष्ठ सं०-84 एवं 85
4. डी०डी० बसु, इन्ट्रोक्डशन टू दि कंस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, Vol.-VIII, पृष्ठ-112
5. डी० एन० बनर्जी, ऑवर फंडामेन्टल राईटस, पृष्ठ-273
6. सोशलिस्ट इंडिया, न्यू दिल्ली, नवम्बर-1976, पृष्ठ-14
7. 42वाँ संशोधन, 1976 भारत 2014, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
8. डॉ० अशोक कुमार, भारतीय शासन और राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन, पी० एण्ड डी०, आगरा, पृष्ठ-139
9. के शांतनम्, यूनियन-स्टेट रिलेशन इन इंडिया, 1960 पी० पी०- 50
10. डॉ० अशोक कुमार, भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ-142
11. 61वाँ संविधान संशोधन, 1988
12. डॉ० अशोक कुमार, भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ-97
13. तथैव
14. तथैव, पृष्ठ-199
15. शिवाच, जे०आर०, भारतीय राज व्यवस्था, पष्ठ-763
16. 44वाँ संविधान संशोधन, 1978
17. 42वाँ संविधान संशोधन, 1976
18. डॉ० अशोक कुमार, भारतीय शासन और राजनीति, पृष्ठ-134

मातृ स्वास्थ्य में थायरॉयड की समस्या

डॉ० कुमारी सुनीता

एम०ए० (गृह विज्ञान), पी०एच०-डी, गेस्ट शिक्षिका, जयप्रकाश महिला महाविद्यालय, छपरा, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

शोध आलेख का सार

निरोग व्यक्ति से समाज में शांति, विकास एवं सौहार्द की स्थापना होती है तथा राष्ट्र-निर्माण को आधार प्राप्त होता है। समाज में सभी स्त्री-पुरूष को स्वास्थ्य रहने के लिए वातावरण व पर्यावरण भी उत्तरदायी है, हालांकि वर्तमान परिवेश में स्वास्थ्य की अनेकानेक समस्याएँ पर्यावरणीय कारकों से प्रभावित होकर जन्म ले रही है। वर्तमान परिवेश में महिलाओं में थायरॉयड की समस्या लगातार बढ़ती जा रही है। पुरूषों में भी थायरॉयड की समस्या है, परन्तु महिलाओं में उसका दर अधिक है। इसका कारण समाज में महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति द्वितीयक दृष्टिकोण तथा उनकी पोषण का असंतुलित व अनियमित होना भी है। विश्व थायरॉयड दिवस 25 मई को आयोजित किया जाता है तथा इस समस्या समाधान के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा की जाती है, विशेषत: महिलाओं की जागरूकता पर बल दिया जाता है। इसके बाद भी भारत की महिलाओं में थायरॉयड की समस्या लगातार बढ़ती जा रही है। इसका मूल कारण महिलाओं की अशिक्षा, गरीबी, पुरूषीय प्रभुत्व तथा स्वयं महिलाओं का अपने स्वास्थ्य के प्रति लापरवाही को बताया जा सकता है। वर्तमान में समाज में पर्यावरणीय समस्याएँ बढ़ती जा रही है तथा परिवार में अनेकानेक समस्याएँ भी जन्म ले रही हैं। इनके कारण भी वर्तमान परिवेश में महिलाओं में थायरॉयड की समस्या बढ़ती जा रही है। इस समस्या से महिला समाज को बचाने के लिए उनमें जागरूकता लाने की आवश्यकता है तथा जागरूकता हेतु उन्हें शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। थायरॉयड महिलाओं में हाने वाला रोग है। हार्मोन्स के असंतुलन के कारण यह रोग होता है। थायरॉयड का कम ज्यादा होना ही इस बीमारी का कारण है। हार्मोन कम हाने लगता है तो हमारे शरीर का मेटाबोलिज्म बहुत तेज हो जाता है और हमारी ऊर्जा बहुत जल्दी खर्च हो जाती है। यदि बढ़ जाए तो शरीर की मेटोबोलिज्म प्रक्रिया धीमी हो जाती है। ऐसे में शरीर में ऊर्जा बननी कम हो जाती है और थकान तथा सुस्ती बढ़ जाती है।

मूल शब्द: वातावरण, हार्मोन असंतुलन, पर्यावरण, पोषण, मातृ मनोवृति, मानसिक अवसाद, सामाजिक सशक्तिकरण।

प्रस्तावना

वर्तमान परिवेश में मातृ स्वास्थ्य के सामने थायरॉयड एक ऐसी समस्या है, जिसने विश्व के सभी देशों के लोगों का प्रभावित किया है। भारत में थायरॉयड की समस्या लोगों में तेजी से बढ़ रही है। महिलाओं में यह बीमारी पुरूषों की तुलना में अधिक हो रही है। इस की सबसे बड़ी समस्या पोषण की अनियमितता तथा असंतुलित स्वरूप का होना है। थायरॉयड एक साइलेंट किल कंडीशन है जिसमें लक्षण धीरे-धीरे दिखाई देता है। थायरॉयड ग्लैंड हमारे गले के निचले हिस्से में स्थित होता है। इससे खास तरह के हार्मोन टी-3, टी-4 और टी०एस०एस० (थायरॉयड रिटम्नयुलेटिंग हार्मोन) का स्त्राव होता है, जिसकी मात्रा के असंतुलन का हमारी सेहत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। शरीर की सभी कोशिकाएँ सही ढंग से काम कर सकें, इसके लिए इन हार्मोस की जरूरत होती है। इसके अलावा मेटाबॉलिज्म की प्रक्रिया को नियंत्रित करने में भी टी-3 और टी-4 हार्मोन का बहुत बड़ा योगदान होता है इसलिए इनकी सिक्रीशन में कमी या अधिकता का सीधा असर व्यक्ति की भूख, वजन, नींद और मनोदशा पर दृष्टिगोचर होता है।

सामान्यत: दो प्रकार की थायरॉयड संबंधी समस्याएं दिखती है- एक समस्या को हाइपोथाइरायडिज्म कहा जाता है, इसमें थायरॉयड ग्लैंड धीमी गति से काम करने लगता है और यह शरीर के लिए आवश्यक हार्मोन टी-3, टी-4 का निर्माण नहीं कर

पाता, लेकिन शरीर में टीएसएच का स्तर बढ़ जाता है। दूसरी हाइपरथाराईडस है। उस स्थिति में थायरॉयड ग्लैंड बहुत ज्यादा सक्रिय हो जाता है। इससे टी-3 और टी-4 हार्मोन अधिक मात्रा में निकल कर रक्त में घुलनशील हो जाता है और टीएसएच स्तर कम हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि शोध से ज्ञात हुआ है कि किसी भी देश की कुल आबादी में से 4 से 10 प्रतिशत लोगों को हाइपोथायरॉयडिज्म और मात्र 1 प्रतिशत लोगों को हाइपरथायरॉयडिज्म की समस्या होती है। ये दोनों ही स्थितियाँ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

थायरॉयड की समस्या के कुछ अग्रलिाति कारण बताएँ जा सकते हैं: (i) वर्तमान में अधिकतम लोगों को तनाव और खान-पान में अनियमितता के कारण समस्याएँ बढ़ रही है; (ii) केमिकलयुक्त प्रदूषण और हार्मोन में बदलाव के कारण भी समस्याएँ बढ़ रही है; (iii) भोजन में आयोडिन की कमी से या बहुत अधिक प्रयोग करने से थायरॉयड हो जाता है; (iv) यदि परिवार में पहले से किसी को थायरॉयड हो तो भी इसके होने की संभावना बढ़ जाती है; (v) महिलाओं में पीरियड शुरू होने के बाद कई तरह के हार्मोन परिवर्तन होते हैं। कई बार इसी हार्मोन चेंज की वजह से थायरॉयड की समस्या हो जाती है; (vi) गर्भावस्था के दौरान महिला के शरीर में कई बड़े परिवर्तन होते हैं और कई महिलाएं ऐसी स्थिति में अधिक तनाव में रहती हैं, जिस तरह से कई बार थायरॉयड हो जाता है; (vii) कई बार दवाओं के प्रतिकूल प्रभाव से भी थायरॉयड की समस्या हो जाती है। कई बार सोयाबीन प्रोडक्ट्स के अधिक प्रयोग से भी थायरॉयड हो जाता है।

थायरॉयड के दो प्रकार प्रमुख है:

(1) **हाइपोथायरायडिज्म (Hypothyroidism):** थायरोक्सिन हार्मोन के कम मात्रा में उत्पादन को हाइपोथायरायिडज्म कहा जाता है। हाइपोथायरायडिज्म का मतलब है कि थायरॉइड ग्रंथि अंडर एक्टिव है।

(2) **हाइपरथायराइडिज्म (hyperthyroidism):** हाइपरथायराइडिज्म किसी को भी हो सकता है। पुरूषों की तुलना में महिलाओं में ये स्थिति आठ गुना अधिक होती है। यह 30 की उम्र की शुरूआत में ही विकसित होने लगती है। लेकिन इसके लक्षण 60 से अधिक महिलाओं में ज्यादा सामान्य है और कई तरह के संकेत हाइपरथायराइडिज्म के लक्षणों को बताते हैं जैसे- वजन का घटना, अनियमित दिल की धड़कन, घबराहट अत्यधिक पसीना मासिक धर्म चक्र में बदलाव, गर्दन के आधार पर सूजन, थकान, मांसपेशियों की कमजोरी और सोने में कठिनाई महसूस होना आदि शामिल है। हाइपरथायराइडिज्म के कई लक्षण अन्य स्थितियों के लिए भी बहुत आम है। इसलिए समस्या को तुरन्त पहचानना थोड़ा कठिन होता है।

थायरॉइड के चरण (Stage of Thyroid)

थायरॉइड कम होने के चरण निम्नलिखित है:

(1) **उप-क्लिनिकल हाइपोथायरिज्म (Subclinical Hypathyroidism):** उप-क्लिनिकल हाइपो थायराडिज्म में TSH (Thyroid Stimulating Harmone) का स्तर 3mu/L से 5.5 उस तक बढ़ जाता है। अगर थायरोक्सिन का सामान्य स्तर के भीतर हो तो यह संदर्भ उप-क्लिनिकल हाइपोथायरायिडज्म की तरफ संकित करते हैं।

(2) **हल्के हहाइपोथारायडिज्म:** TSH के स्तर को 5.5 से 10mlu/L तक बढ़ाया जा सकता है और थायरोक्सिन का स्तर कम किया जा सकता है, इससे ज्यादातर मरीजों का ही टी-4 स्तर सामान्य स्तर पर आ जाता है। टी-3 का स्तर आगे नहीं गिरता जब तक बीमारी उच्च तरीके से विकसित ना हो इसका कारण ये है कि TSH के स्तर का बढ़ाना। थायरॉइड को अधिक टी-3 जारी करने के लिए उत्तेजित करने लगता है। इसके उत्कृष्ट निष्कर्ष तब दिखते हैं जब टी-3 का स्तर गिरने लगता है। हल्के हाइपोथाययडिज्म संभवत: (Mild Hypothyroidism) ऑटोइम्यून थायराइटिस के कारण होते हैं, जिनके लक्षण थकान, वजन बढ़ना, तरल अवरोधन आदि के रूप में देखने को मिलते हैं।

(3) **मध्यम हायपोथाययरायडिज्म:** किसी व्यक्ति को माध्यम हाइपोथाययरायडिज्म TSH का स्तर 10 से 20उसनधस् की सीमा के भीतर हो और अब उनका T-3 और T-4 निम्न स्तर में हो हल्के और मध्यम हाइपोथाययरायडिज्म महिलाओं में जल्दी होने की संभावना रहती है। महिलाओं के मामले में यह बहुत जरूरी होता है कि हाइपोथाययरायडिज्म कि जाँच करके इसको ठीक किया जाए, क्योंकि इससे महिलाओं में गर्भपात और भ्रूण मृत्यु जैसे जोखिम बढ़ जाते हैं।

(4) **मैक्सिडेमा कोमा:** अगर हाइपोथायरायडिज्म का समय पर उपचार ना किया जाए तो बढ़ कर मैक्सिडेमा कोमा का रूप धारण कर सकता है। मैक्सिडेमा कोमा एक बहुत ही खतरनाक स्थिति होती है, थायरॉइड हार्मोन का बहुत ही कम उत्पादन इसकी विशेषता होती है। शरीर इस स्थिति में तनाव, ठंडा, मौसम और शल्य चिकित्सा आदि स्थितियों का सामना करने में असमर्थ हो जाता है। मरीज इस स्थिति में सामान्य महसूस नहीं करता एवं उसे शारीरिक कमजोरी, उलझन, शरीर में सूजन इत्यादि की स्थिति का सामना करना पड़ता है।

थायरॉइड बढ़ने के लक्षण

थायरॉइड बढ़ने के लक्षण हैं T-4, T-3 या दोनों हार्मोन की ज्यादा मात्रा अत्यधिक उच्च चयापचय दर का कारण हो सकती है। इसे हाइपरमेटाबॉलिक अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में हृदय की दर में तेजी, उच्च रक्तचाप और हाथों में झटकों का अनुभव हो सकता है। अधिक पसीना आ सकता है और सभी के प्रति कम सहिष्णुता हो सकती है। हाइपरॉायरायडिज्म आतों की अधिक गतिशीलता, वजन घटना और महिलाओं में अनियमित मासिक धर्म चक्र उत्पन्न कर सकता है।

थायरॉइड ग्रंथि स्वयं भी सूज कर गोइटर बन सकती है। आंखें भी काफी बाहर निकली हुई दिखाई दे सकती है, जो एक्सो फथैल्मोस (Exophthalmos) का एक लक्षण है और ग्रेव्स (Graves Discases) बीमारी से संबंधित है।

1. **हाइपरथायरायडिज्म के अन्य लक्षण:** हाइपरथायरायडिज्म के अन्य लक्षण अग्रलिखित हैं- भूख में वृद्धि, घबराहट, बेचैनी, ध्यान केन्द्रित करने में असमर्थता, दुर्बलता, अनियमित दिल की धड़कन, नींद आने में कठिनाई, नाजुक बाल, खुजली, बाल झड़ना, मतली और उल्टी।
2. **अग्रलिखित लक्षणों को तत्काल चिकित्सा की आवश्यकता होती है:** चक्कर आना, साँस लेने में कठिनाई, बेहोशी, तेज या अनियमित हृदय की गति।
3. **थायरॉइड कम होने के लक्षण:** हाइपोथायरायडिज्म के लक्षण और संकेत मूल रूप से थायरॉइड हार्मोन उत्पादन में होने वाली कमी और उसकी गंभीरता पर आधारित होते हैं, पर सामान्य तौर देखा जाए तो इससे जुड़ी कई परेशानियां होती है जो हमारे अंदर सालों से पनपती चली आ रही होती है। पहली बार हाइपोथायरायडिज्म के लक्षणों में थकावट और वजन बढ़ने जैसी परेशानियों को महसूस कर सकते हैं मगर जब चयापचय के काम करने की गति धीमी होने लगती है, तब और स्पष्ट संकित देख सकते हैं। जैसे- थकान, ज्यादा ठंड महसूस होना, सूखी त्वचा, वजन का बढ़ना, चेहरे पर सूजन, आवाज का बैठ जाना, मांसपेशियों में कमजोरी, रक्त में कोलेस्ट्रॉल का स्तर बढ़ना, मांसपेशियों का दर्द कोमलता और ध ड़कन, बाल झड़ना, जोड़ों में अकड़न और सूजन के साथ दर्द, दिल की गति धीमी होना, अनियमित दिनचर्या, गलत डायट, व्यायाम न करना।

यदि हाइपोथायराडिज्म का उपचार ना किया जाए तो उसके लक्षण और संकेत धीरे-धीरे और बढ़ते चले जाते हैं और थायरॉइउ हार्मोन अधिक जारी होने लगते हैं जिससे थायरॉइड का आकार बढ़ने जैसी परेशानियां हो सकती है। इसके साथ-साथ विस्मृत विकास हो सकते हैं, सोचने-समझने की शक्ति कम हो सकती है और अवसादग्रस्त भी महसूस कर सकते हैं।

मैक्सिडेमा कोमा : एक अग्रवर्ती हाइपोथायरायडिज्म को मैक्सिडेमा के नाम से पहचाना जाता है, यह काफी दुर्लभ होता है। मगर हो जाने पर यह जीवन के लिए काफी खतरनाक साबित हो सकता है। इसके संकेत व लक्षणों में रक्त दबाव में कमी, सांस लेने में कमी होना, शरीर का तापमान कम होना, यहाँ तक की कोमा भी इसके लक्षणों में शामिल है।

थायरॉइड के कारण

थायरॉइड बढ़ने (हाइपरथायराडिज्म) के कारण: विभिन्न स्थितियों के कारण हाइपरथायरायडिज्म हो सकता है। यह बीमारी, हाइपरथायरायडिज्म को सबसे आम कारण है। यह एंटीबॉडिज (Antibodies) थायरॉइड को बहुत अधिक हार्मोन बनाने के लिए उत्तेजित करता है। यह बीमारी पुरूषों की तुलना में महिलाओं में अधिक होती है। यह बीमारी परिवारों आनुवंशिक होती है। यदि रिश्तेदारों को यह बीमारी है तो डॉक्टर को बतायें।

थायरॉइड कम होने (हाइपोथायरायडिज्म) के कारण: हाइपोथायरायडिज्म एक बहुत ही सामान्य स्थिति है। कुल आबादी में अनुमानित 3 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक की जनसंख्या में हाइपोथायरायडिज्म के कई रूप देखे जाते हैं। हाइपोथायरायडिज्म पुरूषों से ज्यादा महिलाओं में सामान्य है और इसका जोखिम उनकी उम्र के साथ बढ़ता रहा है।

वयस्कों में होने वाले हाइपोथायरायडिज्म के कुछ सामान्य कारण अग्रलिखित है: (i) हाशिमोटो थायरोडिटिस (Hashimoto's Thyroidities); (ii) लिम्फोसाइटिक थायरोडिटिस जो हाइपोथायरायडिज्म के बाद (Hashimoto's Thyroidities) हो सकता है; (iii) थायरॉइड खंडन (रेडियोधर्मी आयोडीन और सर्जरी के कारण); (iv) पिटयूटरी या हापपोथेलैमस रोग (Pituitary or Hypothalamic disease); (v) दवाएँ तथा (vi) आयोडीन में गंभीर कमी।

थायरॉइड से बचाव (Prevention of Thyroid)

थायरॉइड बढ़ने (हाइपरथायराडिज्म) से बचाव: ग्रेव्स रोग के कारण होने वाला एक अनुवांशिक बीमारी जिससे बचा नहीं जा सकता। हालांकि धूमपान करने से ग्रेत्स रोग और ग्रेव्स ऑप-थेलनोपथी होने का जोखिम बढ़ जाता है।

थायरॉइड कम होन (हाइपोथारायडिज्म) को रोकने के तरीके : सभी थायरॉइड रोगों का ईलाज उसके सामानय लक्षणों और चिन्ह को देखते हुए किया जा सकता है हालांकि थायरॉइड की सामान्य स्थिति बनाए रखने के लिए दवाईयों की जरूरत भी पड़ सकती है। हालांकि थायरॉइड से संबंधित कैंसर का ईलाज मिल चुका है लेकिन सामान्य तौर पर हाइपोथायरायडिज्म के ईलाज के लिए हार्मोन प्रतिस्थापन की जरूरत पड़ती है। जीवनचर्चा में कुछ बदलाव लाकर भी हाइपोथारायडिज्म की रोकथाम की जा सकती है। जैसे- धुम्रपान करना बंद कर दे; तनाव कम करे; रोज व्यायाम करें और अपना स्वस्थ वजन बनाए रहते; फिल्टर किया हुआ पानी पीएं क्योंकि पानी में प्लोराइड होता है, जो थायरॉइड के जोखिम को बढ़ाता है; अधिक वसायुक्त भोजन न खाएं; आयोडीन युक्त आहार का सेवन सीमित मात्रा में होना चाहिए इसके अधिक सेवन से अन्य स्वास्थ्य से जुड़ी परेशानियां भी हो सकती है।

थायरॉइड के जोखिम और जटिलताएँ

1. *हृदय की समस्याएँ:* हाइपरथायरायडिज्म की सबसे गंभीर जटिलताओं में से एक है- हृदय की समस्याएँ जैसे-हृदय की गति में तीव्रता, आर्टरियल प्रिब्रिलेशन और कंजेस्टिव दिल की विफलता। ऐसी स्थिति में दिल शरीर की आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त रक्त प्रसारित नहीं कर पाता है। ये जटिलताएं आमतौर पर उपर्युक्त उपचार के साथ ठीक हो सकती है।

2ण *हड्डियों की कमजोरी:* अनुपचारित हाइपरथायरायडिज्म से हड्डियों की कमजोरी (ऑस्टयोपोरोसिस) भी हो सकती है। हड्डियों की ताक कैल्शियम और अन्य खनिजों की मात्रा पर निर्भर करती है। बहुत ज्यादा थायरॉइड हार्मोन शरीर की हड्डियों में कैल्शियम रहने की क्षमता के साथ हस्तक्षेप करता है।

3. *नेत्र समस्याएँ:* ग्रेव्स ऑपथेलनोपयी से ग्रस्त लोगों को आँखों की समस्याएँ होती है जिसे आँखों का उभरापन, लाल या सूजी हुई, आँखें प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता और धुंधली या दोहरी दृष्टि। अनुपचारित गंभीर नेत्र समस्याओं से आँखों की रोशनी भी जा सकती है।

4. *लाली और त्वचा की सूजन:* कुछ दुर्लभ मामलों में ग्रेव्स रोग से ग्रस्त लोगों को ग्रेव्स डर्मोपेथी होता है। जो त्वचा को प्रभावित करता है। जिसमें त्वचा में लाली और सूजन होती है।

5. *थायरोटॉक्सिक क्राइसिस:* हाइपरगायरायडिज्हम से थायरोटॉक्सिक क्राइसिस भी हो सकता है जिससे लक्षणों में तीव्रता अचानक बढ़ जाती है। जिससे बुखार, नब्ज की तेजी और यहाँ तक की उन्माद भी हो सकता है। यदि ऐसा होता है तत्काल चिकित्सा ले।

हाइपोथायरायडिज्म की जटिलताएँ क्या हो सकती है? अगर हाइपोथायरायडिज्म का उपचार ना किया जाए तो यह कई स्वास्थ्य से जुड़ी परेशानियाँ का कारण बन सकता है। जैसे- गोइटर, हृदय की समस्या तथा मानसिक समस्या आदि।

थायरॉइड का ईलाज

1. *रेडियोएक्टिव आयोडीन ट्रीटमेंट:* थायरॉइड के मरीज के रेडियोऐक्टिव आयोडीन दवाई गोली या लिक्विड के द्वारा दिया जाता है। इस उपचार के द्वारा थायरॉइड की ज्यादा सक्रिय ग्रंथि को काटकर अलग किया जाता है। इसमें जो आयोडीन दिया जाता है वह आयोडीन स्कन से अलग होता है।

2. *सर्जरी:* सर्जरी के द्वारा आंशिक रूप से थाइरॉइड ग्रंथि को निकाल दिया जाता है जो कि बहुत सामान्य तरीका है। थाइरॉइड के मरीजों में सर्जरी के द्वारा उसके शरीर से थाइपराईड के उत्तकों को निकाला जाता है जो सर्जरी से आसपास के ऊतकों पर भी प्रभाव पड़ता है।
3. *एंटीथायरॉइड गोलिया:* थाइरॉइड में सामान्य समस्याएं जैसे-बुखर, गले में खरास जैसी समस्याएँ होती है। यह छोटी थायरॉइड की वजह से हो सकती है। इसलिए दवाईयाँ लेने से जांच करानी चाहिए थायरॉइड के मरीज को चिकित्सक से सलाह के एंटीथायरॉइड की गोलियाँ हानिकारक हो सकती है।

थायरॉइड संबंधी सभी समस्याओं से बचना तो आसान नहीं लेकिन खान-पान के द्वारा इससे हाने वाली समस्याओं को नियंत्रित किया जा सकता है। सी-फूड और आयोडीन युक्त नमक आदि का सेवन करना चाहिए। थायरॉइड ग्रथि को उचित आयोडीन आहार से ठीक रखा जा सकता है। इसके साथ ही बहुत अधिक वो खाना से बचे जिससे घेंघा होने की संभावना हो। पता गोभी, फूल गोभी और शलगम आदि से दूर ही रहे, क्योंकि इसके घंघा बनने की संभावना रहती है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य थायरॉइड नाम की बीमारी के सभी पक्षों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना है जो वर्तमान परिवेश में महिलाओं में अधिक हो रहा है। भारत में इस बीमारी के बढ़ने के कारणों का पता लगाना भी प्रस्तुत आलेख का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। स्पष्टत: शोध आलेख का उद्देश्य सर्वविदित है।

साहित्य सर्वेक्षण

मैंने अपने इस रिसर्च आर्टिकल को तैयार करने के लिए थॉयराइड विषय पर अनेक सामग्रियों का अध्ययन किया है। तथ्यगत सामग्री के कारण फूटनोट देना मुझे अधिक उचित नहीं लगा है। प्रस्तुत आलेख की तैयारी के पूर्व कुछ प्रमुख साहित्य का अवलोकन किया गया है:

1. परिवार एवं सामुदायिक विज्ञान, डॉ० बृन्दा सिंह, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, द्वितीय सस्करण, 2019
2. मानव विकास एवं पारिवारिक सम्बन्ध, डॉ० बृन्दा सिंह, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, द्वितीय सस्करण, 2019
3. गृह प्रबंधन, माधुरी देशमुख, गौरव बुक्स कानपुर, यू०पी०, 2016
4. होम मैनेजमेंट, रामा यादव, अलफा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, फर्स्ट पब्लिश, 2009

शोध आलेख की पद्धति

प्रस्तुत रिसर्च आर्टिकल के लेखन में ऐतिहासिक पद्धति तथा वस्तु-विश्लेषणात्मक पद्धति का प्राथमिक रूप में प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष

थायरॉइड एक ऐसी समस्या है, जिसे पूरा विश्व में बहुत सारे लोग प्रभावित है। थायरॉइड की समस्या लोगों में तेजी से बढ़ रही है। ये बीमारी पुरूषों से ज्यादा महिलाओं में देखी जा रही है। इसकी सबसे बड़ी वजह खान-पान में अनियमितता है। इसके अतिरिक्त तनावयुक्त जीवन, वजन में वृद्धि तथा नकारात्मक मनोवृत्ति भी थायरॉइड के बढ़ने का कारण है। इस समस्या के समाधान हेतु महिलाओं को शिक्षित, प्रशिक्षित एवं जागरूक होने की आवश्यकता है। महिलाओं को आर्थिक रूप में आत्म निर्भर बनाना होगा, ताकि वे अपने स्वास्थ्य पर खर्च कर सके। थायरॉइड की समस्या के समाधान हेतु सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर ईमानदारी और प्रतिबद्ध प्रयास करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अब्राहम आर, मुरूगन, वी.एस. पुखझवनथेन पी, सेन एस.के. पुडुचेरी की महिलाओं में थायरॉइड विकार। भारतीय जे क्लिन बायोकेम। 2009 : 24:52-91
2. देसाई पीएम। भारत में थायरॉइड ग्रंथि के विकार Indian J Pediatr 1997; 64:11-20 प्रकाशित।
3. उषा मेनन वी, सुदरम के.आर., उन्नीकष्णन एजी, जयकुमार आर.वी, नायर वी, कुमार एच.। एक आयोडीन पर्याप्त वयस्क दक्षिण भारतीय आबादी में अवांछनीय थायरॉइड विकारों के उच्च प्रसार। जे इंडियन मेड अशोक। 2009:107:72-71 प्रकाशित।
4. डॉ० मदोदर रावत, भारत में नारी स्वास्थ्य और महिला सशक्तिकरण, रावत पब्लिकेशन, हरियाणा।
5. दैनिक जागरण, जोराअंक में थायरॉइड पर विशेष अंग
6. नेट व गूगल पर उपलब्ध जानकारी

भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ

डॉ० नमिता कुमारी

एम०ए० (राजनीति विज्ञान), पी०यू०, पी-एच०डी०, सिदो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका, झारखंड

शोध आलेख का सार

भारतीय प्रशासन की सामान्य विशेषताओं में ब्रिटिश विरासत, प्रशासन का कानूनी स्वरूप, संघीय एवं संसदीय शासन प्रणाली के बीच समन्वय, लोकतांत्रिक लोककल्याणकारी मूल्यों की स्थापना, विकासोन्मुख प्रशासन, जवाबदेय प्रशासन तथा नौकरशाही आधारित व्यवस्था पर बल महत्वपूर्ण है। संविधान आधुनिक शासन व्यवस्थाओं की आत्मा है, जो नागरिकों की आकांक्षाओं का प्रतीक तथा अधिकारों का स्रोत भी होता है। 26 जनवरी, 1950 को प्रवर्तित भारत (भारत गणराज्य) का संविधान देश को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, लोकतांत्रिक, पंथ निरपेक्ष तथा समाजवादी गणराज्य घोषित करता है जो नागरिकों की समानता, न्याय, बंधुत्व तथा कल्याण को समर्पित है। किसी भी देश का संविधान वहाँ के प्रशासन तंत्र को मार्गदर्शन तथा नियंत्रण प्रदान करने का मुख्य साधन माना जाता है। पॉल एच० एपलबी के शब्दों में, "प्रशासन के सभी परिवर्तनों के मूल में देश की संवैधानिक व्यवस्था के सिद्धान्त ही होते हैं, जो राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से प्रशासनिक व्यवस्था तथा अन्ततः उसकी प्रक्रियाओं में स्थापित किए जाते हैं। भारत में अमरीकी संघीय व्यवस्था की भाँति केन्द्र एवं राज्यों के पृथक्-पृथक् संविधान नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण देश का एक ही संविधान है जो विश्व का सबसे बड़ा और विस्तृत संविधान माना जाता है। इस संविधान में अमरीका से मूल अधिकार, ब्रिटेन से संसदीय प्रणाली, आयरलैण्ड से राज्य के नीति-निर्देशक तत्व तथा जर्मनी से आपातकालीन उपबंध लेकर सम्मिलित किए गए हैं। इस संविधान में अमरीका से मूल अधिकार, ब्रिटेन से संसदीय प्रणाली, आयरलैण्ड से राज्य के नीति-निर्देशक तत्व तथा जर्मनी से आपातकालीन उपबंध लेकर सम्मिलित किए गए हैं।

मूल शब्दः केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण, सामाजिक न्याय, समाजवाद, पंथनिरपेक्षता, धर्मनिरपेक्षता, संसदीय शासन, संघवाद, न्यायिक पुनर्वालोकन, गणतंत्र, लोकतंत्र, पदसोपान ।

प्रस्तावना

भारत के संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है– "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी, पंथ, निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छः विक्रमी) को एकतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित करते हैं।"[1] वर्त्तमान भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था ब्रिटिश शासन की विरासत मानी जाती है, क्योंकि 1947 ई० में सत्ता हस्तान्तरण के समय हमने ब्रिटिश प्रशासनिक ढाँचे को यथावत् स्वीकार किया था जिसमें बहुत कम संशोधन या परिवर्तन किए गए हैं। प्रो० अशोक शर्मा का मत है कि "किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था के लक्ष्य वर्त्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप निर्धारित हो सकते हैं किन्तु प्रशासनिक संरचनाएँ, प्रक्रियाएँ एवं परम्पराएँ, पद्धतियाँ तथा संस्कृति उस प्रशासनिक व्यवस्था का निकटतम अतीत उसके वर्त्तमान को सर्वाधिक प्रभावित करता है।" ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश कानूनों से नियंत्रित भारतीय प्रशासन लगभग 200 वर्ष तक निरन्तर विकसित तथा परिवर्तित किया जाता रहा। इस दौरान जो प्रक्रियाएँ या परम्पराएँ विकसित हुई उनका प्रभाव आज भी भारतीय प्रशासनिक तंत्र पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत

में प्रशासन संचालित करने के लिए 'इण्डियन सिविल सर्विस', 'इण्डिया पुलिस' तथा अन्य अखिल भारतीय लोक सेवाओं की शुरूआत की गई थी। आज भी इन सेवाओं के अधिकारी भारत में कहीं भी नियुक्त किए जा सकते हैं। प्राधिकार की दृष्टि से भी ये अधिकारी अधिक सुदृढ़ हैं। विशेषज्ञ सेवाओं तथा राज्य सेवाओं के अधिकारी इनके अधीन कार्य करते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् भी अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था जारी रखी गई तथा वर्त्तमान में तीन अखिल भारतीय सेवाएँ– भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS), भारतीय पुलिस सेवा (IPS), तथा भारतीय वन सेवा (IFS), कार्यरत हैं। अनेक चिन्तकों का मत है कि ब्रिटिश शासन के कारण भारत को विश्व में एक पृथक् पहचान मिली तथा विभिन्न रियासतों में बिखरा हुआ भारत एक सूत्र में बँध सका। निश्चित तौर पर लोक सेवाओं ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। स्टील फ्रेम अर्थात् इस्पात के समान मजबूत कवच के नाम से प्रसिद्ध आई०ए०एस० के अतिरिक्त अन्य लोक सेवाओं का विकास भी ब्रिटिश शासन की देन है। लोक सेवाओं में राजपत्रित (Gazetted) तथा अराजपत्रित का भेद, योग्यता आधारित भर्ती, चार वर्गों में कार्मिक का वर्गीकरण, वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट, उच्च अधिकारी को अधिक वेतन तथा सुविधाएँ एवं उच्च लोक सेवाओं में शहरी तथा उच्च जातियों को प्रमुखता इत्यादि ब्रिटिश परम्पराओं का परिणाम है। उच्च अधिकारियों की आवासीय कालोनी आम जनता के आवासों से दूर 'सिविल लाइन्स' के रूप में बसाने की परम्परा अंग्रेज द्वारा विकसित की हुई है।[2] सचिवालय वह उच्च प्रशासनिक संगठन है, जिसमें राजनीतिक मंत्री या सचिव (विभाग का प्रशासनिक अधिकारी) तथा उसके अन्य कार्मिक पदस्थापित रहते हैं। सचिव+आलय अर्थात् सचिवों का घर नामक यह व्यवस्था संघीय स्तर पर केन्द्रीय सचिवालय तथा राज्यों में राज्य सचिवालय के रूप में प्रवर्तित है। अंग्रेजी शासनकाल में विकसित सचिवालय आज भी नीति, कानून तथा कार्यक्रम निर्माण एवं नियंत्रण का महत्वपूर्ण अंग है जो मुख्यत: मंत्रियों को उनके कार्यों में परामर्श देने के लिए बनाया गया है। सचिवालय द्वारा निर्मित नीति एवं कानूनों को व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित करने हेतु अन्य कई प्रकार के कार्यकारी संगठन, जैसे–निदेशालय, बोर्ड, आयोग तथा निगम इत्यादि संगठित किये गये हैं।[3]

प्रशासनिक कृत्यों की पूर्ति हेतु कानूनों, नियमों तथा प्रक्रियाओं की कठोर कार्यप्रणाली और 'फाइल व्यवस्था' की शुरुआत ब्रिटिशकाल में हुई। चूँकि अंग्रेज अधिकारी आम भारतीय को असभ्य व्यक्ति कहकर प्रताड़ित करते थे। अत: प्रत्येक प्रशासनिक कार्य में लम्बे–चौड़े फार्म, शपथ–पत्र, चरित्र प्रमाण–पत्र तथा राजपत्रित अधिकारी (Gazetted Officer) से प्रमाण–पत्र लेने इत्यादि की प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई थी जो आज भी भारतीय लोक प्रशासन में यथावत् जारी है। जहाँ तक गजट के प्रकाशन का प्रश्न है, यह प्रक्रिया सर्वप्रथम 18 जनवरी, 1864 ई० को प्रकाशित गजट से शुरू हुई। गजट से मिलता–जुलता शब्द गजेटियर्स (Gazetteers) भी है जो किसी स्थान, संस्कृति, नाम तथा पर्यावरण सम्बन्धी जानकारी का दस्तावेज होता है। लोक सेवकों में जनता से श्रेष्ठ, पृथक् तथा स्वामी समझने की प्रवृत्ति अंग्रेजी प्रशासन का परिणाम कही जाती है। स्वतंत्र भारत में इस गुलाम मानसिकता के अतिरिक्त नौकरशाही में अन्य कई दोष विद्यमान है। 'साहब संस्कृति' तथा 'बाबूराज' की शुरुआत भी ब्रिटिश प्रशासन की ही देन है जो सम्पूर्ण भारतीय प्रशासन की विशिष्ट पहचान बन चुकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेजों ने विशाल भारत को एकसूत्र में पिरोने का सफल प्रयास किया था। इस प्रयास में एक समान कानून, कठोर अनुशासन, सामाजिक सुधार तथा अखिल भारतीय सेवाएँ इत्यादि सहायक रहे हैं। शासन संचालन को केन्द्र तथा प्रांतीय स्तर पर विभक्त करके संघीय ढाँचे की शुरूआत ब्रिटिश शासन में हो चुकी थी। इसी प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा तथा एकता के महत्वपूर्ण कार्य, जैसे- सेना, वैदेशिक सम्बन्ध, रेलवे, डाकतार एवं दूरसंचार इत्यादि केन्द्र सरकार को सौंपे गये थे ताकि प्रांतीय स्तर पर असमानता के कारण खतरा उत्पन्न न हो।

प्रशासनिक कार्यों या विषयों को संघीय, प्रांतीय तथा समवर्ती सूचियों में विभक्त किया गया है जो सन् 1935 ई० के अधिनियम से प्रभावित है। यद्यपि भारत संघीय शासन व्यवस्था वाला देश है फिर भी इकहरी नागरिकता, राज्यपाल का केन्द्र द्वारा मनोनयन तथा केन्द्र के अधिक अधिकार विचित्र संघीय व्यवस्था को सिद्ध करते हैं।[4] लोक प्रशासन में निष्पादित होने वाला कोई भी कर्मचारी या अधिकारी का निजी कार्य नहीं बल्कि सरकार का कार्य होता है। अत: अनामता का सिद्धान्त प्रचलित है। लोक सेवक न तो सरकारी सम्पत्ति को अपना समझते हैं और न ही पद से अधिक स्वयं के नाम को महत्व दे सकते हैं। अंग्रजों द्वारा प्रतिपादित इस प्रशासनिक अनामता के अतिरिक्त प्रशासनिक गोपनीयता भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सन् 1923 ई० में निर्मित 'शासकीय गुप्त बात अधिनियम' के अन्तर्गत सरकारी सूचनाएँ तथा तथ्य आम जनता के मध्य उजागर नहीं किये जा सकते हैं। इसी प्रकार की व्यवस्था 'भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872' के अन्तर्गत की गई है जिसके अनुसार सरकारी कार्मिक को शासकीय सूचनाएँ आम जनता में उजागर न करने का अधिकार है।[5] भारत में शासकीय और प्रशासनिक कार्यों को पूरा करने, जाँच करने, संशोधन तथा अनुशंसाएँ सुझाने इत्यादि कार्यों के लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों से युक्त कामेटी बनाने की प्रणाली ब्रिटिश परम्पराओं का

परिणाम है। संसद तथा राज्य विधानमंडलों, मंत्रिमंडलों, मंत्रालयों, कार्यालयों तथा संगठनों में आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी, स्थायी या अस्थायी समितियाँ गठित की जाती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल में शाह आलम से दीवानी अधिकार प्राप्त करते ही राजस्व एकत्रण की ओर ध्यान केन्द्रित किया। सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंगस ने सन् 1772 में बंगाल में कलक्टर (संग्रह करने वाला) पद सृजित किया जिसे सन् 1773 में समाप्त कर सन् 1781 में पुनर्जीवित किया। सन् 1787 में राजस्व एकत्रणकर्ता कलक्टर को दण्डनायक शक्तियाँ भी प्रदान कर दी गई। धीरे-धीरे जिला कलक्टर का पद भारतीय लोक प्रशासन में महत्वपूर्ण हो गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् जिला लोक प्रशासनिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इकाई बन गया जो विकास, शांति एवं व्यवस्था, विभागीय सेवाओं, संसदीय क्षेत्र (लगभग) तथा तहसील एवं राज्य सरकार के मध्य मुख्य समन्वयक इकाई के रूप में निर्णायक भूमिका निभाता है। केन्द्र एवं राज्य सरकार के सभी जनोपयोगी विभागों के कार्यालय जिला स्तर पर कार्यरत हैं जो न केवल विकेन्द्रीकृत प्रशासन के पर्याय हैं बल्कि प्रशासनिक कृत्यों के निर्वहन की मूलभूत व्यावहारिक इकाईयाँ भी हैं।[6] प्रशासनिक तंत्र को संचालित करने के लिए 'वित्त' महत्वपूर्ण संसाधन है। अतः सरकार द्वारा आरोपित राजस्व (कर) को संग्रहीत करने तथा राजस्व प्रशासन को संचालित करने के लिए अंग्रेजों ने सर्वप्रथम भूमि एवं कृषि से संबंधित राजस्व एकत्रण की व्यवस्था संचालित की। सन् 1786 में सर्वप्रथम बंगाल में राजस्व मण्डल (Revenue Board) की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात् अधिकांश राज्यों में राजस्व मण्डल वैधानिक एवं स्वतंत्र निकाय के रूप में कार्यरत हैं। जिला कलक्टर, तहसीलदार, कानूनगो तथा पटवारी के माध्यम से भू-राजस्व एकत्रण तथा भूमि कानूनों का क्रियान्वयन किया जाता है। अन्य प्रकार के राजस्व जैसे–आयकर, बिक्रीकर तथा सीमा शुल्क इत्यादि की प्रशासनिक संरचनाएँ पृथक् से कार्यरत हैं जो ब्रिटिश शासन के दौरान गठित संगठनों का परिवर्तित एवं विकसित स्वरूप कही जा सकती है।[7] अंग्रेजों द्वारा भारत पर शासन के दो मुख्य उद्देश्य थे। प्रथमतः भारत में राजस्व एवं कच्चा माल संगृहीत कर इंग्लैंड भेजना तथा दूसरा भारत पर शासन करने के लिए शांति व्यवस्था बनाए रखना। अतः सन् 1808 ई० में पुलिस अधीक्षक का पद सृजित किया गया। सन् 1860 ई० के पुलिस आयोग की अनुशंसा पर 'पुलिस अधिनियम, 1861' पारित हुआ। सेना एवं पुलिस के कार्यों में आज भी यह प्रवृत्तियाँ एवं प्रावधान दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

भारत एक गुटनिरपेक्ष और विकासशील देश है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने देश की प्रशासनिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तनों के लिए समय-समय पर उचित कदम उठाए हैं। प्रबोधन और उपदेशात्मक स्तर पर अनेक नियोजन देखने को मिले हैं। विभिन्न आयोगों और समितियों के अध्ययन प्रशासनिक परिवर्तन की अपेक्षाओं और आवश्यकताओं एवं सेवीवर्ग के मूल्यों और अपेक्षित परिवर्तनों को दर्शाते हैं। इन विभिन्न सिफारिशों पर अमल हुआ है, लेकिन व्यवहार में आज भी प्रशासनिक व्यवस्था और समाज में पर्याप्त दूरी बनी हुई है। दोनों के बीच खाई को पाटा नहीं जा सका है। विकासशील राजनीतिक व्यवस्था की माँग है कि प्रशासन को आधुनिकीकरण के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाए। यदि इस माँग की पूर्ति करनी है तो प्रशासन की व्यवस्था और कार्य प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने होंगे। भारत में प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना करते समय इस स्थिति को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया था, लेकिन प्रबुद्ध राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों में निराशा है कि आयोग की सिफारिशों में आधारभूत परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब देखने को नहीं मिलता है।

विकासशील व्यवस्था के लिए प्रशासन का आधुनिकीकरण करने हेतु इन प्रश्नों पर रचनात्मक सिफारिशों की आवश्यकता है। प्रशासन में क्या परिवर्तन किए जाएँ, नवीन परिवर्तनों और चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रशासन को सक्षम कैसे बनाया जाए आदि? अब तक जो सिफारिशें सामने आई हैं उनमें ऐसे प्रश्नों पर विचार किया गया, लेकिन अपेक्षित रूप से ये सन्तोषजनक नहीं है। कुछ विकासात्मक परिवर्तन प्रशासनिक स्तर पर संगठनों में अवश्य देखे जा सकते हैं, जैसे– लघु स्तरीय उद्योग, लोक निगम, सरकारी कंपनी, पदोन्नति गठन आदि। 'स्टफिंग' के नए स्वरूप देखने में आए हैं और ऐसे प्रयत्न किए गए हैं कि विकास तथा परिवर्तन की अनुकूल दिशा में बढ़ने के लिए विशेषज्ञ तथा व्यावसायिक सेवाओं को विशिष्टता प्रदान की जा सके। परम्परागत नौकरशाही को बदलने के कंचित प्रयास किए गए हैं। प्रशासन को एक नया दर्शन दिया गया है और यह आग्रह रहा है कि प्रशासक स्वयं को समाज-सेवक समझें और जनसाधारण के निकटतर आएँ। प्रशासन क्रियात्मक स्वायत्तता प्राप्त करे, वह राजनीतिक दबाव से परे रहे–इन दिशाओं में अनेक प्रयास किए गए हैं। विभिन्न प्रशासकीय संगठनों में शक्ति हस्तान्तरित की गई है। प्रशासन और जनता दोनों की मनोवृत्ति सरलता से नहीं दबायी जा सकती। इसमें सेवीवर्ग सम्बन्धी नीतियों में परिवर्तन का विशेष महत्व है, क्योंकि सभी परिवर्तनों की सफलता इसी वर्ग की दक्षता पर निर्भर करती है। यह नितान्त आवश्यक है कि प्रशासन की सेवीवर्ग सम्बन्धी

नीतियाँ प्रेरक और सन्तोषजनक हों ताकि यह वर्ग विकासशील समाज की माँगों के प्रति अधिकाधिक जागरूक, संवेदनशील एवं पारदर्शी बने।[8]

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध आलेख का उद्देश्य भारतीय प्रशासन की सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट करना है। इसके साथ ही साथ इस आलेख का उद्देश्य राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था के परस्पर संबंध को स्पष्ट करना भी है। भारतीय प्रशासन के विकास में इतिहास का क्या योगदान है? इस बात की जानकारी भी प्रस्तुत शोध आलेख से प्राप्त हो जाती है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक भारतीय प्रशासन की सामान्य विशेषताएँ हैं। इसलिए इसकी परिकल्पना भारतीय प्रशासन की स्वरूप, कार्यकरण एवं प्रभाव से संबंधित होंगी। भारतीय प्रशासन का स्वरूप राजनीतिक व्यवस्था से प्रभावित होता रहा है। भविष्य में भी ऐसी ही संभावना की परिकल्पना की जा सकती है। भारतीय प्रशासन में नक्सलवाद, क्षेत्रवाद तथा आतंकवाद से केन्द्रीकरण की प्रवृति को बल मिल रहा है तथा भविष्य में भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और भी सशक्त रूप में दृष्टिगोचर होंगी।

साहित्य सर्वेक्षण

भारतीय प्रशासन की विशेषता पर अबतक अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन सम्पन्न हुए हैं। इस विषय पर साहित्य सर्वेक्षण का सामान्य अवलोकन अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए भी महत्वपूर्ण माना जाता है। हमने भी प्रस्तुत शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख साहित्य सर्वेक्षण किया है:

1. लोक प्रशासन, डॉ० अशोक कुमार, प्रतियोगिता संदर्भ प्रकाशन, पटना एवं नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, वर्ष 2019
2. भारतीय शासन और राजनीति, डॉ० अमरजीत सिंह नारंग, गीतांजली पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 1998
3. भारतीय शासन और राजनीति, डॉ० जे०सी० जौहरी और डॉ० आर०के० पूर्वार, विकास पब्लिकेशन, जालंधर एवं नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1988
4. भारत का संविधान, बसंती लाल बाबेल, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहाबाद, सोलहवाँ संस्करण, वर्ष 2019
5. भारतीय राज व्यवस्था, डॉ० जयप्रकाश शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, वर्ष 2000
6. भारतीय संविधान- एक परिचय 'ब्रजकिशोर शर्मा, पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, प्रकाशन वर्ष 2015 (11वाँ संस्करण)।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख के लेखन में ऐतिहासिक एवं वस्तु-विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है। शोध आलेख की तैयारी में पूर्व का साहित्य सर्वेक्षण का अवलोकन किया गया है, जिसके सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि इसमें तुलनात्मक पद्धति का भी आंशिक प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के नीति निर्माताओं ने औपनिवेशिक विरासत में प्राप्त प्रशासनिक ढाँचे को बरकरार रखने का एक सजग निर्णय इस तथ्य के बावजूद लिया था कि संविधान में व्यक्त एक स्वतंत्र देश की इच्छाएँ व आकांक्षाएँ औपनिवेशिक शासन के मूलभूत प्रतिमानों से भिन्न थी। स्वतन्त्रता के समय, जैसा जे० सी० मोहंती ने बताया है, भारतीय शासन को पाँच आधारभूत चुनौतियों से निपटना था– लोकतंत्र की चुनौतियाँ, विकास की चुनौतियाँ, विकेन्द्रीकरण की चुनौतियाँ, संस्थाओं के निर्माण की चुनौतियाँ और बढ़ती जनाकंक्षाओं की चुनौतियाँ। स्वतन्त्र्योत्तर प्रथम अर्द्धांश में लोक प्रशासन के साहित्य में इन चुनौतियों से निबटने हेतु औपनिवेशिक प्रशासन की प्रवृत्तियों में बदलाव लाने वाले आलेखों का अंबार है। इनमें विद्वानों के संदेहवाद व निराशावाद से

लेकर आशावादिता तक सभी तरह के विचारों को देखा जा सकता है। लोक सेवकों की प्रतिबद्धता व तटस्थता के मुद्दे, प्रशासन में सामान्यज्ञों व विशेषज्ञों के मुद्दे, लोक सेवक व राजनेता के बीच के संबंधों, विकास के नए मुद्दों का सामना करने में लोक सेवाओं की योग्यता (विशेषत: व्यवहार व प्रदर्शन के संबंध में) आदि जैसे अनेक मसले इस काल के लेखों का विषय होते थे। पिछले दो दशकों में शासन के प्रतिमान में स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इलेक्ट्रॉनिक गवर्नेंस, अर्थव्यवस्था का उदारीकरण, निजीकरण व वैश्वीकरण, जनता का सबलीकरण, निर्णय निर्धारण में महिलाओं की हिस्सेदारी (पंचायती राज में एक तिहाई महिला आरक्षण), पारदर्शिता, उत्तरदायित्व व प्रशासन जवाबदेही (सूचना के अधिकारों के जरिए) आदि कुछ नई चिंताएँ हैं। दूसरी तरफ लोक प्रशासन संस्थाओं की प्रवृत्तियों व संरचना की पुनर्स्थापना व पुनर्खोज (Reinventing) हेतु नए आविष्कारों का क्रम संचालित रहा है। स्पष्टत: भारत में लोक प्रशासन में नवीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. बी० के० शर्मा, भारतीय संविधान : एक परिचय, पी०एच० आई, नौवां संस्करण, 2012, पृ०-49
2. कटारिया, सुरेन्द्र, भारतीय लोक प्रशासन, पृ०-20-21
3. तथैव, पृ०-21
4. तथैव, पृ०-22
5. तथैव, पृ०-22
6. तथैव, पृ०-23
7. तथैव, पृ०-23
8. चतुर्वेदी, टी० एन०, तुलनात्मक लोक प्रशासन, पृ०-54 .

भारतीय दृष्टिकोण और प्रथम विश्वयुद्ध

डॉ० पूर्णनाथ कुमार

एम०ए०, पी-एच०डी० (इतिहास), वरीय शोधप्रज्ञ, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

प्रथम विश्वयुद्ध का चरित्र हालाँकि एक साम्राज्यवादी युद्ध का था। यह युद्ध साम्राज्यवादी देशों के अपने आर्थिक स्वार्थों के बीच जन्में अन्तर्विरोध का परिणाम था। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने इस युद्ध को आजादी के लिए लड़ाई समझा और अपना समर्थन ब्रिटिश राज को दिया। युद्ध ने राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को ब्रिटिश राज की आलोचना का अवसर जरूर दिया मगर 5 अगस्त 1914 को जब ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तब राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने इसका पुरजोर समर्थन किया और ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी वफादारी का ऐलान किया। उनकी समझ थी कि आजादी के लिए लड़ा जाने वाला यह युद्ध अपनी विजय के पश्चात् भारत की आजादी के प्रति ब्रिटिश सरकार को सकारात्मक रुख अपनाने और भारत को आजादी देने के लिए बाध्य करेगा। इसी गलत उम्मीद में राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने ब्रिटेन के प्रति वफादारी का ऐलान किया। देशी राजाओं ने भी अपनी राय प्रकट करते हुए इंग्लैंड के साथ पूर्ण समर्थन का इहजार किया और इस भावना को सार्वजनिक बनाने के लिए वर्द्धमान के महाराजाधिराज की अध्यक्षता में कलकत्ता के टाउन हौल में एक बैठक हुई। अध्यक्षीय भाषण देते हुए महाराज ने सभी उपलब्ध साधनों से ब्रिटेन की मदद करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा "ग्रेट ब्रिटेन का हित हमारा हित है, उसका खतरा हमारा खतरा है, उसका गौरव हमारा गौरव है।" अत: मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप केवल ब्रिटिश सरकार की सेवा करने के लिए या राज सत्ता के प्रति केवल अपनी वफादारी दिखलाने के लिए उत्साह नहीं दिखलावें, बल्कि यदि ईश्वर न करे, यदि दुश्मन भारतवर्ष पर आक्रमण करता है, तो हम सबों को यूनियन जैक के नीचे मातृभूमि की रक्षा के लिए लड़ना चाहिए और इंग्लैंड को दिखला देना चाहिए कि भारत जानता है कि कृतज्ञ कैसे हुआ जा सकता है।[1] नटेसन ने भी इसकी पुष्टि निम्नलिखित शब्दों में की है–"देश को एक से ज्याद बार इस बात का भान हो चुका है कि सभ्यता के साथ भारत का राजनीतिक अभ्युदय ब्रिटेन की श्रेष्ठता और साम्राज्य की अखण्डता पर निर्भर करता है।"[2] एनीबेसेन्ट ने भी ब्रिटिश सरकार की इस भावना का समर्थन किया और कहा कि जर्मनी की सफलता साम्राज्य की शक्ति का प्रतीक है जबकि ब्रिटेन की सफलता का अर्थ केवल साम्राज्य या स्वतंत्र राष्ट्रों के राष्ट्रमंडल की सफलता नहीं है। इसका अर्थ है संवैधानिक राजसत्ता को कड़ी के रूप में स्वीकार करना। इसमें बुद्धिजीवियों ने भी अपनी पीड़ा को भूलकर सरकार का साथ दिया।[3] ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के सम्बन्ध में जो तर्क दिए उससे तत्कालीन भारतीय नेता काफी प्रभावित थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस की दोनों विचारधाराओं के नेताओं ने (गरम और नरम दलीय) ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति में खड़े हो गए। वायसराय को लिखे पत्रों एवं भेजे गए टेलीग्रामों से ऐसा पता चलता है कि उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ की नीति छोड़ दी थी। इसका प्रमाण दादाभाई नौरोजी का टाइम्स में लिखे गए एक पत्र जिसमें उन्होंने जोर देकर कहा कि "सम्पूर्ण जीवन में मैं भारत में ब्रिटिश शासन की प्रशंसा करने के बजाए आलोचक रहा हूँ और मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि मैंने समय-समय पर कठोर भाषा का इस्तेमाल किया है। लेकिन मैं पूरी निष्पक्षता और इमानदारी से कहना चाहता हूँ कि ब्रिटिश सरकार का चरित्र क्या है और विश्व-सभ्यता ब्रिटिश प्रतिभा का कितना ऋणी है और हम भारतीय वर्तमान लाभ एवं भविष्य में होने वाले लाभ के लिए ब्रिटिश जनता के कितना ऋणी हैं। मुझे यह कहने में शंका नहीं है कि भारत वर्ष का प्रत्येक व्यक्ति हृदय से चाहता है अपनी पूरी योग्यता एवं ताकत से न्याय, स्वतंत्रता, सम्मान और सौभाग्य संवृद्धि के लिए अंग्रेजों की मदद करें। भारत में राजकुमारों एवं जनता ने अपने आप सहायता करने की इच्छा प्रकट की है। भारतीय जनता को युद्ध में साम्राज्य की मदद करने के अलावा कुछ सोचना भी नहीं चाहिए।[4] इस तरह उन्होंने ब्रिटिश सत्ता की जोरदार वकालत की।

बम्बई की एक आम सभा में फीरोजशाह मेहता ने भी इसी दृष्टिकोण को प्रकट किया और कहा कि इस पवित्र अवसर पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जिस सत्ता के अधीन एक सदी से ज्यादा समय व्यतीत किया उसकी मदद करना हमारा सौभाग्य है। जिसके नेतृत्व में विवेक, सौभाग्य, कल्याण, सुख-संवृद्धि और देश का कल्याण हासिल किया, उस सत्ता का समर्थन करना हमारा परम कर्त्तव्य एवं दायित्व है।[5] मदन मोहन मालवीय सहित अनेक भारतीय नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के सिद्धान्तों की रक्षा की। उन्होंने इलाहाबाद की एक सार्वजनिक सभा में कहा "हमारा भाग्य ब्रिटेन के भाग्य से बँधा हुआ है। यदि ब्रिटेन को कोई नुकसान पहुँचता है तो उसका अर्थ है भारत को नुकसान पहुँचना। ख़ख़ यह कथन कहने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं होती कि मैं ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफादार हूँ एवं मैं अपने देश से प्यार करता हूँ।[6]

कांग्रेस के एक अन्य नेता महहरूल हक ने पटना में मुसलमानों को सम्बोधित किया "हमलोग मुसलमान हैं और भारतीय भी। हमारा कर्त्तव्य है कि दुहरे कर्त्तव्य की पूर्ति करें। हमें प्रसन्नता है कि हमारे हित आपस में टकराते नहीं हैं और एक तरह के हैं। ख़ख़ हमारी मातृभूमि आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ युद्ध में है और हमारा यह परम् कर्त्तव्य है कि हम अपने पवित्र ब्रिटिश सत्ता के समर्थन में उठ खड़े हों।"[7] मजहरूल हक का भाषण साम्प्रदायिक एकता को, जिसे ब्रिटिश सरकार हमेशा भंग करने का प्रयास करती रही थी, बनाने और एकताबद्ध होकर साम्राज्य की मदद करने की भावना वाला था। मजहरूल हक ने उस भाषण ने बिहार के लोगों को जबरदस्त प्रभावित किया और ब्रिटेन की जीत के प्रति आश्वासन दिया। कांग्रेस की वह कमिटी जो प्रशासनिक सुधारों की मांग को लेकर लंदन गई थी ने एक पत्र के जरिये ब्रिटिश सत्ता के प्रति अपनी गहरी वफादारी दिखलायी। उन्होंने स्पष्टत: कहा कि हम यह समझते हैं कि शान्तिपूर्ण समय में आन्तरिक प्रशासन की जो भी स्थिति हो किन्तु बाहरी आक्रमण के समय भारतीय जनता की एकमात्र इच्छा ब्रिटिश सत्ता का समर्थन करना होता है। इससे ब्रिटिश सत्ता की शीघ्र विजय की सम्भावना होती है।[8]

महात्मा गाँधी के प्रयास से इंग्लैंड में 50 से ज्यादा प्रवासी भारतीयों ने भारत के अवर सचिव को अपना पूर्ण समर्थन देने के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा। ब्रिटिश सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया एवं गाँधीजी सहित 80 स्वयं सेवियों ने भारतीय एम्बुलेन्स फोरम्स की स्थापना की। विदित है कि गाँधीजी ने संकट की इस घड़ी में इंग्लैंड की आवश्यकताओं को प्रधानता दी। अपने जीवन-चरित्र में उन्होंने लिखा है, "मैंने सोचा कि इंग्लैंड की आवश्यकताओं को अवसर का मुद्दा नहीं बनाना चाहिए। और जब तक युद्ध जारी है यह दूरन्देशी का तकाजा है कि हमें अपनी माँगों पर जोर नहीं डालना चाहिए। इसलिए मैं अपने वचन पर कायम रहा और उन लोगों से सहायता की माँग की जो स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं।"[9]

कांग्रेस ने सांगठनिक तौर पर भी युद्ध का समर्थन किया और दिसम्बर 1914 के अन्तिम सप्ताह में अपनी बैठक, जो भूपेन्द्र नाथ बसु की अध्यक्षता में हुई, उसमें इसी आशय का फैसला किया। अध्यक्ष श्री बसु ने कहा "मुख्य मुद्दे अभी आकाश में हैं क्योंकि ब्रिटिश और हमारे भारतीय भाई स्वतंत्रता और न्याय के लिए यूरोप के युद्ध-क्षेत्र में संघर्ष कर रहे हैं।[10] कांग्रेस ने सत्ता के प्रति वफादारी का परिचय दिया और किसी भी कीमत पर ब्रिटिश साम्राज्य को मदद करने का आश्वासन दिया।[11] एक दूसरे प्रस्ताव में इसने साम्राज्य के हितों के लिए कंधे से कंधा मिलाकर अधिकार और न्याय की रक्षा करने के लिए सरकार को धन्यवाद दिया।[12] इसी तरह के कई प्रस्ताव कांग्रेस की ओर से समय-समय पर पारित किये गये। यद्यपि तिलक और उनके समर्थक 1916 ई० में पुन: कांग्रेस में शामिल हुए। किन्तु कांग्रेस के युद्ध सम्बन्धी सहयोग की नीति में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ।

भारत की रियासतों ने अपना पूर्ण समर्थन ग्रेट ब्रिटेन को युद्ध सम्बन्धी कार्यों में दिया। बाहरी मुल्कों में युद्ध की कार्यवाहियों में भाग लेने के लिए 27 भारतीय रियासतों ने प्रारम्भिक काल में अपनी सेना ब्रिटिश सरकार को सौंप दी। तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अश्व सेना, पदाति सेना, पर्वतीय तोपखाना और सैयर्स ट्रान्सपोर्ट एवं डिस्पैच राइडर्स ने अपनी इच्छा से ब्रिटेन का साथ दिया। अलवर, भावनगर, भोपाल, ग्वालियर, हैदराबाद, इंदौर, जोधपुर, कश्मीर, मैसूर, नवानगर, पटियाला, रामपुर और उदयपुर रियासतों की ओर से अश्व सेना ब्रिटिश सरकार को पेश की गयी। अलवर, बहावलपुर, भरतपुर, ग्वालियर, जिन्द, कपूरथला, कश्मीर, खैरपुर, नामा, पटियाला, रामपुर, रियासतों की फौज में पदाति सेना ब्रिटिश सरकार को पेश की गयी। इसी तरह कश्मीर से पर्वतीय तोपखाना और बीकानेर से अश्व सेना प्रस्तुत की गयी। फरीदकोट, माटूकोटले, सिरमूर और टेहरी रियासतों की ओर से सैर्यस तथा बहावलपुर, भरतपुर, ग्वालियर, इन्दौर, जयपुर, खैरपुर और मैसूर रियासतों की ओर से परिवहन तथा इंदौर तथा रतलाम रियासतों की ओर से डिस्पैच राइडर्स, ब्रिटिश सरकार को प्रदान किय गये।[13] इन सेनाओं को फ्रांस, मेसोपोटामिया, मिस्र, पूर्वी अफ्रीका, उत्तर पश्चिम सीमान्त क्षेत्र और भारत में युद्ध के लिए भेजे गये।[14] भारतीय प्रयासों का समर्थन करते हुए श्री आर०बी० विलियम ने लिखा "31 मार्च 1917 को समाप्त होने वाले वर्ष में देशी रियासतों ने भारत सरकार और भारतीय सेना को लड़ाई लड़ने वाले 9,000 रंगरूट,

30 जून, 1918 को समाप्त होने वाले वर्ष में 33,000 सैनिक और 5000 गैर-सैनिक उपलब्ध कराये। इसके अतिरिक्त जिन राज्यों में ब्रिटिश सरकार का प्रत्यक्ष शासन था वहाँ से भी सैनिक भर्ती किये गये। 30 जून 1918 तक समाप्त होने वाले वर्ष में सभी राज्यों से 50,000 युवक लड़ाई में शामिल किये गये। यदि युद्ध से आरम्भ होने वाले दिन से इसकी कुल संख्या जोड़ी जाय तो सैनिकों की कुल संख्या एक लाख से कम नहीं होगी।"[15] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आम भारतीय ब्रिटिश युद्ध प्रयासों से प्रभावित थे और उन लोगों ने युद्ध में मदद दी।

बीकानेर, पटियाला, किशनगढ़, जोधपुर के महाराजा, रतलाम के राजा, जावरा, सचिन और भोपाल के नवाब और मलिक उमर हयात को अभियान दलों का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने गये।[16] जमीन्दारों ने भी युद्ध प्रयासों में अपना पूर्ण समर्थन देने का आश्वासन दिया। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री भारत के वायसराय और सम्राट ने युद्ध में भारतीय योगदान की प्रशंसा अपने संदेश में की।[17] कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन लोगों ने वादा किया कि भारत के राजनीतिक भविष्य पर गौर किया जायेगा और दूरगामी दृष्टिकोण से कोई निर्णय लिया जायेगा।[18] सरकार की उक्त संयुक्त घोषणा का स्वागत राष्ट्रवादी नेताओं ने भी किया।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री, सम्राट और वायसराय का रुख देखते हुए सरकारी अधिकारियों ने प्रजातंत्र और आजादी की रक्षा के लिए सभी तरह की मदद देने के लिए लोगों का आह्वान किया। इस मदद में आर्थिक एवं फौज में भर्ती होने वाली मदद भी शामिल थी। लोगों ने ब्रिटिश प्रशासन को सभी तरह से मदद प्रदान की।

भारत द्वारा सैनिक, आर्थिक और अन्य तमाम प्रकार की सहायता के कारण ब्रिटेन को सहायता तो मिली ही भारतीय सैनिकों ने अपनी बहादुरी से जंग की दिशा को मोड़कर अपना सिक्का दुनिया पर जमा दिया।[19] व्हाइट हेड ने भारतीय फौज की प्रशंसा करते हुए लिखा है "ख़ख़आगामी सैकड़ों वर्षों के लिए विश्व सभ्यता की प्रगति का निर्णय इस युद्ध में हो जायेगा।"[20] युद्ध में भारतीय अवदानों की चर्चा करते हुए 14 मार्च 1917 को भारत के सचिव श्री आस्टिन चेम्बरलेन ने कहा कि "सदन फ्रांस में अक्तूबर 1914 को नेवेचापेल्ले पर पुनर्कब्जा के लिए किए गए भारतीय फौज के अवदान को नहीं भूलेगा।ख़ख़ख़47वें सिक्ख बटालियन के 289 में 178 सैनिक मारे गये, 20वें और 21वें सैयर्स एवं माइनर्स कम्पनी में 300 में से 119 सैनिक मारे गए एवं वे, 10 मार्च को गढ़वाल ब्रिगेड के आक्रमण को भी नहीं भूलेंगे।[21] चालीस अस्पताल, 35 स्थायी अस्पताल, 18 सामान्य अस्पताल, 9 एक्स-रे विभाग, 8 सफाई विभाग, 7 अग्रिम डिपो और एक जेनरल मेडिकल स्टोर देश से बाहर युद्ध में सहायता के लिए भेजे गये। इसमें शाही सेना मेडिकल कार्प्स में 258 अधिकारी, भारतीय चिकित्सा सेवा के 704 अधिकारी, 10 महिला नर्स, 475 सहायक सर्जन, 720 ब्रिटिश नर्सिंग अर्दली, 2840 भारतीय अधिकारी और 20,000 समर्थक शामिल थे।[22]

होटनीमैन ने युद्ध में भारत के आश्चर्यजनक योगदान की चर्चा करते हुए लिखा, "अस्पतालों एवं दूसरे समाजिक कार्यों के लिए काफी बड़ी रकम का संग्रह किया गया। लगभग 15 लाख भारतीयों ने अपन रक्त यूरोप, अफ्रीका, रसिया और यहाँ तक कि तुर्कों के खिलाफ भी युद्ध के मैदान में बहाया।"[23] इसी बीच युद्ध में तुर्की भी शामिल हो गया। इस देश में बहुसंख्यक आबादी मुसलमानों की है। भारतीय मुसलमानों के समक्ष दुविधा की स्थिति उत्पन्न हो गयी। यह टर्की के सुल्तान का साथ दे या ब्रिटिश सरकार का, यह विचारणीय विषय हो गया। ब्रिटिश सरकार को भय हुआ कि कहीं मुसलमान टर्की का साथ नहीं दे। इस सम्बन्ध में मजुमदार ने लिखा कि ब्रिटिश सरकार भारतीय मुसलमानों की दुविधा को समझती थी। परिणामत: सरकार ने युद्ध के अन्त में तुर्की के साथ सहानुभूतिपूर्ण विचार करने का आश्वासन दिया।[24] इस सम्बन्ध में भारतीय मुसलमानों का समर्थन हासिल करने का भारत सरकार ने एक घोषणा-पत्र में कहा, "कुछ उपद्रवकारी तत्व जर्मनी और आस्ट्रिया के लाभ के लिए इंग्लैंड के खिलाफ टर्की को युद्ध में उतार रहे हैं।"[25] "इस युद्ध में इस्लाम खतरे में नहीं है। टर्की की तलवार एक अपवित्र कार्य के लिए उठायी गयी है।"

हिन्दुस्तान की मुस्लिम रियासतों ने भी ब्रिटिश सरकार का साथ दिया। हैदराबाद के निजाम ने एक घोषणा-पत्र में लिखा, "अन्तत: मैं आशा व्यक्त करता हूँ कि पूर्वजों के पथ का अनुसरण करते हुए मैं अपने राज्य के सेना, तमाम संसाधन सहित ब्रिटेन की सेवा के लिए तत्पर हूँ और भारतीय मुसलमान भी विशेषकर हमारी प्रिय प्रजा हार्दिक रूप से उसका समर्थन करेगी।[26] इसी तरह की भावनाओं का प्रदर्शन भोपाल की महिला मुसलमान शासक, रामपुर के नवाब, टोंक और पालनपुर के शासकों ने किया। उनलोगों ने अपनी प्रजा को ब्रिटेन के प्रति वफादारी दिखलाने का आदेश दिया।[27]

सेडिशन कमिटी[28] ने अपने प्रतिवेदन में स्वीकार किया है कि भारतीय मुसलमान टर्की के साथ अवश्य हो गये थे, किन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ब्रिटेन अरबिया एवं मेसोपोटामिया के पवित्र स्थलों पर तब तक बमबारी नहीं करेगा जब तक भारतीय तीर्थयात्रियों की पवित्रता सुरक्षित रहती है, तब वे ब्रिटिश सत्ता के पक्ष में हो गये।

आम तौर पर उन दिनों अधिकांश भारतीय मुसलमान युद्ध में ब्रिटेन के पक्ष में थे। बम्बई प्रेसीडेन्सी मुस्लिम लीग ने निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर सभा आयोजित की[29]:-

1. ब्रिटिश सत्ता के प्रति भारतीय मुसलमानों की अकाट्य एवं गहरी वफादारी
2. महामहिम वायसराय द्वारा जारी 'घोषणा-पत्र' को जनता के सामने विश्लेषण करना।
3. ऐसी सरकार के बारे में जनता को जिसमें मुहम्मद ने कहा है कि जो सरकार पवित्र मुस्लिम स्थलों की सुरक्षा कर सके एवं जिसमें धार्मिक सहिष्णुता हो।

12 जनवरी 1915 को भारतीय विधायिका परिषद् को सम्बोधित करते हुए लार्ड हार्डिंग ने आश्वासन दिया कि मेसोपोटामिया और अरबिया के पवित्र स्थानों को आक्रमण से मुक्त रखा जायेगा और ब्रिटिश सरकार विदेशी आक्रमणकारियों से हर हालत में रक्षा करेंगी।[30] ब्रिटिश प्रशासन भारतीय मुसलमानों को संदेह की पुष्टि से देखने लगा। संदेह के कई कारण थे-प्रथम, यह कि टर्की के सुल्तान मुसलमानों के खलीफ थे और दोनों में धार्मिक सम्बन्ध थे। द्वितीय, इटली और बाल्कन युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन के रुख से भारतीय मुस्लिम क्षुब्ध थे। तृतीय यह कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की सीमा पार कर वहाबी जेहाद की शिक्षा देते थे। जेहाद-ए-इस्लाम के माध्यम से टर्की का प्रभाव था। इससे मार्च 1914 में तुर्की भाषा में एक समाचार पत्र प्रकाशित होने लगा। कई अरबी और हिन्दी भाषा में इसके अनुवाद प्रशिक्षित किये गये। समाचार-पत्र गुप्त रूप से भारत लाये गये और सम्पूर्ण देश में इसे वितरित किया गया। इसमें ईसाई विरोधी लेख थें।[31] प्रथम कारण के संबंध में भार्गव ने लिखा, ख़ख़"एक समय ऐसा महसूस किया गया कि कहीं भारतीय मुसलमान भावना वश ब्रिटेन के खिलाफ हो जाय।"[32] तृतीय कारण के संबंध में बताया गया कि वहाबी अपने धर्मानुयायियों को इस्लाम के प्रचार के लिए ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को भड़काने के लिए भारत भेजने लगे।[33] जहान-ए-इस्लाम के 20 नवम्बर 1914 के अंक में अनवर पाशा का एक भाषण छपा। अपने भाषण में उन्होंने 32 करोड़ हिन्दू-मुसलमानों को 2 लाख अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए जेहाद छेड़ने का आह्वान किया। टर्की ने भारतीय मुसलमानों से एक अपील में आग्रह किया कि वे अंग्रेजों को निकाल फेंके। एक जगह अपील में कहा गया-"....अपने परिवार एवं बच्चों की चिन्ता नहीं करें। यदि अंग्रेज उन्हें नुकसान पहुँचाते हैं तो वे सीधे स्वर्ग जायेंगे क्योंकि खुदा का कहना है कि जो मारे जाते हैं, वे शहीद होते हैं, एवं वे खुदा के पास रहकर हर सुख-सुविधा का उपयोग करते हैं।"[34] पाँचवा कारा यह था कि बाल्कन युद्ध के दौरान जो रेड क्रेसेन्ट सोसायटी के सदस्य के रूप में टर्की गये थे, वे 1914 के अन्त में युवा तुर्क पार्टी के सदस्य के रूप में भारत आ गये थे।[35] इन लोगों ने भारत गुप्त सोसायटी स्थापित करने का निर्णय लिया। आशय यह निकाला जा सकता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ काम करने के लिए टर्की ने भारतीय मुसलमानों को प्रोत्साहित किया। किन्तु, इसमें सफलता का प्रतिशत अत्यंत कम था। हालिद एहिब ने इस सम्बन्ध में कहा, "जब भारतीय हित एवं धार्मिक भावना का प्रश्न हो, तो निश्चय ही भारतीय हित को प्रधानता दी जायेगी।"[36] मुस्लिम प्रेस ने भी ग्रेट ब्रिटेन के हित को प्रधानता दी। हबलल मैटिन (कलकत्ता) और पाशा अकबर (लाहौर) ने ब्रिटिश मत का समर्थन करते हुए लिखा है "हमें ग्रेट ब्रिटेन का समर्थन करना चाहिए, क्योंकि यह स्वतंत्रता और सम्मान के लिए युद्ध कर रहा है।"[37] आगा खाँ ने युद्ध के दौरान न केवल ब्रिटेन की आर्थिक सहायता की, बल्कि अपने लोगों को भी साम्राज्य की सेवा के लिए अर्पित किया।[38] आगा खाँ ने ब्रिटिश साम्राज्य में रह रहे तमाम मुसलमानों को युद्ध में ब्रिटेन का साथ देने के लिए अनुरोध किया। उनका तर्क था कि इस्लाम खतरे में नहीं है।[39] युद्ध में ब्रिटेन को समर्थन देने के प्रश्न पर भारतीय मानस पूर्णत: एकताबद्ध नहीं था, कई तबके ऐसे थे जो इस युद्ध को स्वतंत्रता संग्राम को आगे बढ़ाने तथा जब ब्रिटेन संकट में था, तब उस संकट का इस्तेमाल आजादी के संघर्ष को तेज करने के अवसर के रूप में इस्तेमाल करना चाहते थे। फिर भी यह सत्य है कि स्वतंत्रता संग्राम की गति धीमी हो गयी थी, किन्तु स्वतंत्रता के लिए चाहत कम नहीं हुई थी। देश की अच्छी संख्या आजादी के लिए इस अवसर का लाभ उठाने के पक्ष में थी। एक जगह इण्डियन नेशनल पार्टी ने लिखा है कि "अन्याय पर आधारित यह विदेशी सत्ता झूठ का पुलिन्दा है। उसे बदल देना चाहिए और राष्ट्रीय शासन की स्थापना करनी चाहिए।"[40]

इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्रथम विश्वयुद्ध ने विदेश में रह रहे क्रान्तिकारियों को स्वर्ण अवसर प्रदान किया। उनलोगों ने सोचा कि कभी न कभी भारतीय फौजों को दुनिया के विभिन्न कोनों में भेजा जायेगा और इस तरह भारत की आजादी के लिए क्रान्तिकारी अभियान में मदद मिलेगी। इस सम्बन्ध में वे विदेशी सहायता की भी अपेक्षा कर रहे थे। बर्नहार्डी[41] के अनुसार भारतीय

क्रान्तिकारी जर्मनी से सहयोग की अपेक्षा कर रहे थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी हर दयाल गदर पार्टी की स्थापना कर चुके थे। हर दयाल 1911 ई० से पूर्व अमेरिका में जर्मनों एवं यूरोप के भारतीय क्रान्तिकारियों की सहयोग से कैलिफोर्निया, ओरेगाँव और वाशिंगटन में गदर क्रान्तिकारी पार्टी के माध्यम से क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए तैयारी कर रहे थे। वे इस बात पर जोर दे रहे थे कि जर्मनी इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध शीघ्र प्रारम्भ करेगा। 31 दिसम्बर 1913 को सेक्रामेन्टो की एक बैठक में हर दयाल ने बताया कि "जर्मनी इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार हो रहा है और यह उचित समय है कि हमें क्रान्ति में शामिल होने के लिए भारत प्रस्थान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"[42]

संदर्भ

1. द बंगाली, अगस्त 15, 1914.
2. नटेशन जी०ए०, 'इण्डिया एण्ड द वार' द इण्डियन रिव्यू वार बुक, 1995, पृ०-5
3. बेसेन्ट ए०, 'इण्डिया : बाण्ड या फ्री' ? पृष्ठ सं०-165.
4. द टाइम्स, सितम्बर 5, 1914.
5. जी०जे० राय, जे०आर०बी० (सं०) सम अनपब्लिश्ड लेटर, स्पीचेज एण्ड राइटिंग ऑफ द ऑन सर फिरोज शाह मेहता, पृ०-467.
6. भार्गव में वर्णित, ए०बी०ए०, इण्डियाज सर्विसेज एण्ड ए वार, पृ०-43.
7. वही
8. एण्ड्रूज एण्ड मुखर्जी, पुर्वानुसार, पृ०-241.
9. गाँधी एम०के०, 'ऐन ओटोबायोग्राफी' या 'द स्टोरी आ माय एक्सपेरिमेंट विथ द ट्रूथ', पृ०-425.
10. रिपोर्ट ऑफ द ट्वेन्टी नाइन्थ इण्डियन नेशनल कांग्रेस (मद्रास : द मिनर्वा प्रेस, 1915), पृ०-23.
11. वही
12. वही
13. रसब्रुक विलियम्स, एल०एफ० इण्डिया इन द इयर्स 1917-18, पृ०-11
14. वही.
15. वही.
16. 'द टाइम्स', सितम्बर 10, 1914.
17. 'प्रोसेडिंग्स आ काउन्सिल ऑफ द गवर्नर जेनरल ऑफ इण्डिया', खण्ड-L 3, पृ०-3
18. चिरोल वेलेन्टाइन, 'इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू', पृ०-141
19. झा एल०एस० हिन्दुस्तानी, 'सिपाहियों की वीरता', सरस्वती (हिन्दी)
20. ह्वाइट हेड, 'इण्डिया आफ्टर द वार' सेल्फ गवर्नमेंट फार इण्डिया' द इण्डियन रिव्यू, सितम्बर, 1916 पृ०-649.
21. द टामठस ऑफ इण्डिया, 16 मार्च, 1917. पार्लियामेंटरी डिबेट्स (एच०सी०) खण्ड-ग्स्प्, 1917.
22. होटनीमैन, बी०जी०, 'अमृतसर एण्ड आवर ड्यूटी टू इण्डिया' (लन्दन, 1920), पृ०-22.
23. मजुमदार आर०सी०, 'हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया', खण्ड-प्प्, पृ०-53.
24. वही.
25. गृह विभाग प्रगति सं०-382, अक्तूबर 1917.
26. वही, पृ०-424-25.
27. भार्गव, पूर्वानुसार, पृ०-145.
28. द सेडिशन कमिटी रिपोर्ट, पृ०-174.
29. द बंगाली नवम्बर 5, 1914.
30. 'प्रोसीडिंग्स ऑफ काउन्सिल ऑफ द गवर्नर जेनरल ऑफ इण्डिया', खण्ड-L 3, पृ०-232.

31. द सेडिशन कमिटी रिपोर्ट, पृ०-169.
32. भार्गव, पूर्वानुसार, पृ०-139.
33. द सेडिशन कमिटी रिपोर्ट, पृ०-174.
34. चौधरी एल०के० द्वारा 'इण्डिया और टर्की' (शोध प्रबंध) में वर्णित
35. भार्गव, पूर्वानुसार, पृ०-142.
36. एहिब एच०, 'इनसाइड इण्डिया', पृ०-317.
37. 'द मुस्लिम वर्ल्ड', जनवरी 1915, पृ०-16.
38. वही.
39. दि एसियाटिक रिभ्यू, नवम्बर 1914, पृ० 423-24.
40. इण्डियन नेशन पार्टी, इण्डियाज लॉआयल्टी टू इंग्लैंड, पृ०-6.
41. सिडेशन कमिटी रिपोर्ट, पृ०-119, जर्मनी एण्ड द नेक्स्ट वार, बर्नहार्डी.
42. सिडेशन कमिटी रिपोर्ट, पृ०-119.

भारत में जनजातियों का भौगोलिक वितरण: एक अवलोकन

डॉ० राघवेन्द्र प्रसाद सिन्हा

एम०ए०, पी-एच०डी० (भूगोल), मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)

शोध पत्र का सार

भारत में भौगोलिक और सांस्कृतिक विविधता व्याप्त है। भारतीय समाज में प्राचीन जनजाति के लोग सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक रूप में अन्य लोगों से अलग दिखते हैं। इन्हें देश का मूल निवासी भी कहा जाता है। एल्विन नाम के वैज्ञानिक ने तो इन्हें ही राष्ट्र का मूल निवासी बताया है। भारत के जनजातियों में से जिनका राष्ट्रपति के आदेश से एक अनुसूची में सूचीबद्ध कर दिया गया है, उन्हें अनुसूचित जनजाति कहा जाता है। यह उल्लेखनीय है कि भारत की सभी जनजातियों को अनुसूचित जनजाति (ST) में शामिल नहीं किया गया है। भारत सरकार की कल्याणकारी कार्यक्रम अनुसूचित जनजाति तथा जनजाति के निर्धारित एवं क्रियान्वित किये जाते रहे हैं। भारतीय संविधान में भी अनुसूचित जाति तथा जनजाति समाज के कल्याण एवं विकास में अनेक संवैधानिक प्रावधान किये गये हैं। भारत की संघीय तथा राज्य विधायिका में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए स्थान सुरक्षित किया गया है अर्थात् आरक्षण का प्रावधान है। भारत में जनजातियों का जीवनयापन परम्परागत, जंगली तथा नैसर्गिक स्वरूप का है। भारत की जनजातियों की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन शेष समाज के लोगों से अलग प्रकार का होता है तथा सामान्यत: जनजाति समाज के लोग शहर से दूर ग्रामीण और जंगली क्षेत्रों में निवास करते हैं तथा उसी आधार पर इनका भौगोलिक वितरण दृष्टिगोचर होता है। भारतीय जनजातियों का वितरण उत्तरी, उत्तरी-पूर्वी, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी प्रदेश में देखने को मिलता है। असम, झारखण्ड, उड़ीसा, अरूणाचल प्रदेश, नगालैंड, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, बिहार, पश्चिम बंगाल, सिक्कम तथा तमिलनाडु जैसे राज्यों में अलग-अलग जनजातियों का निवास है।

मूल शब्द: जनजाति, अनुसूचित जनजाति, भागोलिक और सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक न्याय, सामाजिक सशक्तिकरण, सांस्कृतिक वातावरण, नगरीकरण, सांस्कृतिकरण, सभ्यता एवं संस्कृति आदि।

प्रस्तावना

भारत की अनुसूचित जनजातियों के लोग इस देश के आदिवासी या देशी लोग माने जाते हैं। ये लोग क्रमश: पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूरब से आने वाले द्राविड़ों, भारतीय आर्यों और मंगोलों के आक्रमण से अपनी रक्षा न करने के कारण धीरे-धीरे पीछे हटने के लिए बाध्य हो गये, क्योंकि आक्रमणकारी न केवल संख्या में सबसे अधिक रहे हैं, बल्कि हथियारों की शक्ति में भी उनसे अधिक सशक्त साबित हुए हैं। अत: इन आदिवासियों को पहाड़ी भागों और घने जंगलों में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा जहाँ आज भी वे बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इनमें से जो मैदानी क्षेत्रों में रह गये हैं, वे धीरे-धीरे बाहर से आने वाली जातियों में घुल-मिल गये हैं अथवा सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण लुप्त हो गये। जनजातियाँ भारतीय मानव के पुरखों में इतनी अधिक रम गयी हैं कि अब यह भारतीय जजनसंख्या का ही एक सम्मिश्रण बन गया है।[1]

भूगोलवेता सर हरबर्ट रिजले, लेसी, अलविन, ए०वी० ठक्कर ने इन्हें आदिवासी नाम दिया है। ग्रियर्सन ने उन्हें पहाड़ी जनजातियाँ और जंगली आदिवासी कहा है और शूबर्ट ने उन्हें आदिवासी कहा है। टैलेण्ट्स, सैजविक और मार्टिन ने उन्हें प्रतवादी माना है और डॉ० हट्टन ने उन्हें प्रचानी जनजाति अथवा जंगल निवासी कहा है। एल्विन ने बैगा लोगों को देश का आदि-स्वामी बतलाया है।

प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री डॉ० घुरिये ने उन्हें पिछड़ा हिन्दू कहा है। इधर कुछ समय से इन वर्गों को आदिवासी (आदि = प्रारम्भिक, वासी = निवासी), वन्य जाति, अरण्य वासी गिरिजन नाम से पुकारा जाने लगा है।[2] भारतीय संविधान की धारा-342 का सम्बन्ध अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित एक विशेष व्यवस्था से है। उसमें अनुसूचित जनजातियों की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि इनमें वे "जनजातियाँ, जनजातीय सम्प्रदाय या जनजाति और जनजातीय समुदायों के समूह या वर्ग शामिल होंगे, जिन्हें राष्ट्रपति सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा घोषित करेंगे।"

भारत की लगभग 900 जनजातियों में से लगभग 600 जनजातियों को अबतक राष्ट्रपति द्वारा अनुसूचित किया गया है। उन्हें ही अनुसूचित जनजातियाँ कहते हैं। अनुसूचित जनजातियों की संख्या लगातार बढ़ती रही है तथा उनकी समस्याओं का समाधान भी लगातार हो रहा है। इसके बाद भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर अबतक अनुसूची जातियों के विभिन्न समस्याएँ अभी भी दृष्टिगोचर हो रही है। मोदी सरकार के द्वारा इस दिशा में कल्याणकारी कार्यों का निष्पादन हो रहा है, परन्तु इसे और भी प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लोगों के लिए आरक्षण प्रदान किया गया है। लोक सभा तथा विधान सभाओं में भी इन्हें इनके जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण दिया गया है। ताकि यह समाज निर्माण की दिशा में बराबर की स्थिति में खड़े हों। आज स्वैच्छिक संगठनों, गैर-सरकारी संगठनों तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के द्वारा भी इनके कल्याण एवं विकास में कार्य किये जा रहे है।

भारत की अनुसूचित जातियों के मूल स्त्रोत की खोज करने पर जानकारी मिलती है कि वे प्रोटो-आस्ट्रेलायड जैसी प्रजातियों से निकली हैं जो कभी सारे भारत में छाई हुई थी। इनका दूसरा स्त्रोत मंगाल प्रजाति के लोगों को माना जाता है जो अब भी असम में पाये जाते हैं। इनका तीसरा स्त्रोत नीग्रीटो या हब्शी प्रजाति को माना जाता है। भारत की जनजातियाँ अनेक उपजातियों में विभाजित हैं जो स्वयं अपने आप में परिपूर्ण है। इनमें से प्रत्येक की ऐसी उपजातियाँ हैं जिनके अपने रीति-रिवाज हैं किन्तु इन सभी जनजातियों में कुछ सामान्य विशेषताएँ अलग पाई जाती हैं। ये जनजातियाँ एक भौगोलिक प्रदेश में, सभ्य जगत से दूर, एकाकी जीवन व्यतीत करती है जिनका निवास-स्थान मुख्यत: वनों तथा पहाड़ी भागों में है जहाँ सामान्यत: पहुँचना कठिन होता है। ये परम्परागत हिन्दू जाति के संगठन क्रम में सम्मिलित नहीं की जाती वरन् ये अपने आपको एक अर्द्ध-राष्ट्रीय इकाई का समूह मानती हैं, जिनके अपने विश्वास, रीति-रिवाज, नीति, आचार-विचार हैं और जो ऐसे प्राचीन धर्म को मानती है, जिसे जीववाद कहा जाता है। इनके विचार में ईश्वर एक है, परन्तु देवताओं की संख्या बहुत अधिक है। इन आदिवासी समाज के लोगों को आत्मा में विश्वास है तथा ये पहाड़ों, पौधों, पत्थरों आदि की पूजा करते हैं। इनको तो जादू-टोना, भूत-प्रेत इत्यादि में भी विश्वास है। अब ऐसे जनजाति समाज के लोग अधिकाधिक ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिए हैं तथा कुछ लोग बौद्ध धर्म को भी मानने लगे हैं। हिन्दू धर्म में इनकी आस्था लगातार कम हो रही है। हालांकि इनके पूर्वज अधिकाधिक हिन्दू समाज से ही जुड़े रहे हैं। ये लोग भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में जाकर अलग-अलग भाषा और संस्कृति को अपना रहे हैं तथा उसी परिप्रेक्ष्य में इनका धार्मिक दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो रहा है। ये पुराने ढंग की आर्थिक क्रियाओं से जीवन-यापन करते हैं-वनों से कन्द-मूल-फल एकत्रित करना, नदियों से मछलियाँ पकड़ना अथवा घने वनों से पशुओं का शिकार करना, प्राचीन ढंग से सरकती हुई खेती करना या कहीं-कहीं आधुनिक ढंग के औजारों से खेती करना। बिरहोर, खरिया, हिल-मारिया, मालापत्रम, कड़ार और पनियान शिकार और वन जन्तुओं संग्रहण करते हैं। भूमिया, जुआंग, खोंड, नागा, बैगा और पौटी जनजातियाँ सरकती हुई खेती करती है। हो, संथालल, ओराँव (उराँव), भील, गरासिया, गोंड, बैगा, मुँडा, मझवार एवं करवार एक स्थान पर स्थायी खेती करते हैं। अब संथाल, गोंड, भील, खोंड मध्य प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा और राजस्थान में खानों में भी काम करने लगे हैं। ये अधिकांशत: माँसाहारी होते हैं जो बन्दर, चूहे, खरगोश, गिलहरी और चिड़ियों का माँस खाते हैं; किन्तु मिलने पर मोटे अनाज, चावल, कंदमूल फल, बेर, वृक्षों की पत्तियाँ, शहर का भी उपयोग करते हैं। जो जनजातियाँ भीतरी क्षेत्रों में रहती हैं, वे आज भी प्राय: नग्न या अर्द्ध-नग्न अवस्था में रहती है और केवल अपने गुप्तांगों को अथवा वृक्षस्थल को वृक्षों के चौड़े पत्तों, छालों से ढक लेते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से ये एक ही जनजातीय भाषा बोलती हैं जिनका सम्बन्ध ऑस्ट्रोएशियाटिक, द्राविड़ियन-आदिवासी या तिब्बती-चीनी भाषा परिवार से हैं। ये प्राय: खानाबदोश होते हैं जो अपने पशुओं के झुण्डों के साथ घास के लिए घूमते रहते है। गद्दी, बंजारा, कुरूम्बा, कुरूबान, गारो आदि ऐसी ही प्रजातियाँ हैं।

भारतीय जनजातियाँ मुख्य रूप से वनों और पहाड़ों के ऐसे भागों में रहती है जो बंजर है या बहुत ही कम बसे हैं। ये क्षेत्र सम्पूर्ण पूर्वी सतपुड़ा पर्वत में फैले हैं और गुजरात की पूर्वी सीमा से होते हुए मध्य भारतीय पठार के दक्षिण से होते हुए विन्धयाचल पर्वत से पूरब और पश्चिम की ओर चले गये हैं। दूसरा बड़ा क्षेत्र, जहाँ ये बड़ी संख्या में पायी जाती है, असम के बाहर की ओर फैली

पहाड़ियाँ और वह पहाड़ी प्रदेश है जो असम को बर्मा से अलग करता है। भारतीय जनजातियों का वितरण तीन मुख्य प्रदेशों/क्षेत्रों में केन्द्रित पाया जाता हैं:

1. उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी प्रदेश: इस प्रदेश में हिमालय के उप-प्रदेश तथा भारत की पूर्वी और उत्तरी-पूर्वी सीमान्त की पहाड़ियाँ, तिस्ता घाटी और ब्रह्मपुत्र नदी का जमुना-पद्मा वाला भाग सम्मिलित होता है जो पश्चिम में लगभग 31°7" और 35° उत्तरी अक्षांश तथा पूरब में 23°30" और 28°O' उत्तरी अक्षांश और 77°33' और पूर्वी और 97°'0' पूर्वी देशान्तरों के बीच फैला है। इस प्रदेष्ठा की जनजातियाँ, असम, अरुणाचल प्रदेश, नगालैण्ड, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर और त्रिपुरा राज्यों में केन्द्रित पायी जाती है। पश्चिम की ओर जनजातीय क्षेत्र पूर्वी कश्मीर से लगाकर हिमाचल प्रदेश होता हुआ उत्तर प्रदेश की तराई तक फैला है।

असम, अरुणाचल प्रदेश और तिब्बत के निकटवर्ती भागों में ये प्रमुख जनजातियाँ निवास करती है[4]: (i) सुबनसिरी नदी के पश्चिम में आका, डफला, मीरी, गुरूंग और अपात्तानी। (ii) दिहांग नदी की घाटी में गलोंग, मिनीपांग, पासी, पदम और पांगी। (iii) दिहांग और लोहित नदियों की घाटियों में मिश्मी जनजातियाँ। (iv) पूर्वी क्षेत्रों में डिगारी और मेजू तथा पश्चिमी क्षेत्रों में चुलीकाटा और बेलजियास। (v) सुदूरपूर्व में खामती और सिंगपो। (vi) इन सबके भी आगे पटकोई श्रेणियों की घाटियों में अनेक नागा जातियाँ पायी जाती हैं। इनमें 5 मुख्य समूह है: (a) उत्तरी भाग में रंगपान और कोनायक; (b) पश्चिमी भाग में रेंगमा, सेमा और अंगामी; (c) मध्यवर्ती भाग में फोम ल्होटा, नागा, चांग, संताम और यिमसुंगर; (d) दक्षिणी भाग में कबुई और कच्छा; तथा (e) पूर्वी भाग में तुंगकुल और कोल्यो कैंगू।

नागा पहाड़ियों के दक्षिण में मणिपुर, मेघालय राज्यों वाले क्षेत्र में कूकी, लुशाई, लखेर, चिन, खासी और गारो जनजातियाँ रहती हैं जिनमें से अनेक पूर्वी सीमान्त की ओर से आयी हैं। उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी प्रदेश की जनजातियाँ मुख्यत: मंगोलॉयड प्रजातियों के अवशेष हैं। इनमें इन्हीं के शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं। मातृसत्तात्मक परिवारों की अधिकता है। हिमालय के उप-प्रदेश में सिक्किम और दार्जिलिंग के उत्तरी भागों में अनेक जनजातियाँ पायी जाती है, जिनमें लैपचा सबसे अधिक उल्लेखनीय है। तराई क्षेत्र में पारू, भोकसा, खासों, भोटिया, भुइया, मांझी, चेरी, राजी, बेजर और खरंधार जनजातियाँ मिलती हैं।

2. मध्यवर्ती प्रदेश: यह प्रदेश उत्तरी-पूर्वी प्रदेश से गारो और राजमहल की पहाड़ियों द्वारा पृथक हो गया है। इसके अन्तर्गत प्रायद्वीपीय भारत के पहाड़ी एवं पठारी क्षेत्र सम्मिलित किये जाते हैं जो उत्तर में गंगा और नर्मदा नदी तथा दक्षिण में कृष्णा नदी के बीच में फैले हैं। यह प्रदेश 20°O' उत्तर से 25°O' उत्तर अक्षांष्ठा और 73°O' से 90°O' पूर्वी देशान्तरों के बीच स्थित है। इस प्रदेश में जनजातियों के क्षेत्र मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, गुजरात, बिहार, झारखण्ड और उड़ीसा में फैले हैं। दक्षिणी गुजरात और बस्तर इस क्षेत्र की बाहरी सीमा बनाते हैं। इस क्षेत्र को सबसे महत्वपूर्ण जनजातियाँ घाट से लेकर उड़ीसा की पहाड़ियों तक निवास करती है। (i) उड़ीसा की पहाड़ियों में जुआँग, हड़िया, खोरे, भूमिज, अबर, भूईयाँ जनजाति रहती ह ।
(ii) उड़ीसा के गंजाम जिले में सवारा, गड़ावा और बोडो जनजाति के लोग निवास करते हैं। (iii) छोटानागपुर के पठारों पर मुण्डा, संस्थाल, ओड़ाव, अवर, बिड़होर जैसी जनजातियाँ निवास करती है। (iv) आंध्र प्रदेश तथा छतीसगढ़ में गोड जैसे जनजाति का निवास है। (v) पश्चिम की ओर विन्धयाचल की पहाड़ियों में कोल, कटकारी, भील जनजाति के लोग निवास करते हैं। इनका प्रसार अरावली की पहाड़ियों तक है। (vi) बस्तर क्षेत्र में भारत की सबसे अनोखी किस्म की जनजाति निवास करती है, जो शारीरिक रूप में भी अन्य जनजातियों से अलग दिखती है। ऐसे जनजातियों को मूरिया, पहाड़ी, विसनहार्न कहा जाता है।

3. दक्षिणी प्रदेश: जनजातियों का तीसरा प्रमुख वर्ग पश्चिमी घाट के सबसे दक्षिणी भाग में पाया जाता है। यह क्षेत्र वायनाड से कन्याकुमारी तक 8° से 20° उत्तरी अक्षांश और 75° से 85° पूर्वी देशान्तरों के बीच में फैला है। ये लोग आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु राज्यों में रहते हैं। इनका सीमान्त प्रदेशों पर रहना ही इस बात का प्रमाण है कि ये भारत के प्राचीनतम निवासी है जिन्हें अधिक सभ्य और उन्नत प्रजातियों ने पीछे हटाकर वर्तमान स्थान पर रहने के लिए बाध्य कर दिया। इन स्थानों पर उन्हें सुरक्षा और शरण प्राप्त हुई। (a) उत्तर-पूर्व में आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के पार नल्लामलाई पहाड़ियों के अर्द्धगोलाकार भाग में चेंचू जनजाति रहती है। (b) पश्चिमी घाट के सहारे दक्षिण कन्नड़, कुर्ग की पहाड़ियों के निचले ढालू इलाके में युरूवा और टोडा रहते हैं। (c) वायनाड में इरूला, चेंचू, पनियान और कुरुम्बा जनजातियाँ पायी जाती है। (d) केरल और वानकोर की पहाड़ी श्रेणियों से लगाकर कन्याकुमारी तक के सम्पूर्ण पहाड़ी भागों में भारत की कुछ प्राचीनतम जनजातियाँ मिलती है जिनमें कड़ार, कन्निकट,

मुथूवान, शेलीगा, यूराली, मालवदान, मालकुरवान और मामलापात्रम् मुख्य है। यूराली, कड़ार, पनियान और इरूला जनजातियों में नीग्रिटो प्रजाति के अंश है।

4. अण्डमान निकोबार द्वीपों का एकाकी प्रदेश: उपरोक्त तीन भौगोलिक क्षेत्रों के अतिरिक्त एक छोटा एकाकी क्षेत्र और है जिसके अन्तर्गत अण्डमान-निकोबार द्वीप सम्मिलित किये जाते हैं। इस क्षेत्र में ओंग, जरावा उत्तरी सण्टीली, अण्डमानी और निकोबारी जनजातियाँ रहती है। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से ये भारत के प्रमुख आदिवासियों से पृथक् है किन्तु जनजातीय विशेषताओं के दृष्टिकोण से ये भारत की प्रमुख जनजातियों से ही सम्बन्धित है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस रिसर्च आर्टिकल्स का उद्देश्य भारत में जनजाति की स्थिति तथा भौगोलिक वितरण का अवलोकन करना है। भारत में जनजाति समाज के सभी वर्गों को अनुसूचित जनजाति नहीं माना गया है। इस बात को भी स्पष्ट करना प्रस्तुत रिसर्च आर्टिकल का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। स्पष्टत: प्रस्तुत रिसर्च आर्टिकल के अध्ययन का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट और सर्वविदित है।

परिकल्पना

प्रस्तुत रिसर्च आर्टिकल का शीर्षक "भारत में जनजातियों का भौगोलिक वितरण: एक अवलोकन" है। इसके अनतर्गत भारत के जनजातियों के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी तथा भौगोलिक वितरण का वर्णन अपेक्षित है। इस रिसर्च आर्टिकल में यह परिकल्पना निर्धारित किया जाता है कि भविष्य में भारतीय समान में जनजातियों की विशिष्ट पहचान एवं संस्कृति विलुप्त हो जायेगी। 21वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में जनजातियों के जीवन स्तर में अपार सुधार होगा तथा उनका सामाजिक स्तरीकरण भी उच्च हो जायेगी।

साहित्य सर्वेक्षण

शोध अध्ययन के अंतर्गत निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मुख्यत: प्राथमिक आँकड़ों का सहारा लिया गया है तथा कुछ द्वितीयक आँकड़ों का भी उपयोग किया गया है। प्राथमिक आँकड़ों का संग्रहण स्वावलोकन किया गया है। साहित्य सर्वेक्षण के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का नाम प्रमुख है:

1. भारत का भूगोल, डॉ० चतुर्भज मामोरिया व जे०पी० मिश्रा, साहित्य भवन, आगरा।
2. मानवी व आर्थिक भूगोल, सिद्धार्थ सोनवर्ण, अथर्व पब्लिकेशन, महाराष्ट्र।
3. भारत लोग और अर्थव्यवस्था, छब्म्त्ज्
4. पर्यावरण भूगोल, डॉ० रतन जोशी, साहित्य भवन, आगरा
5. इंडिया, ए० कम्प्रीहैन्सीव ज्योग्राफी, डी० आर० खुल्लर, इंडियामार्ट

शोध की पद्धति

प्रस्तुत शोध आलेख का विषय भारत में जनजातियों का भौगोलिक वितरण: एक अवलोकन' है। इससे संबंधित पृष्ठभूमि तथा वर्तमान स्वरूप के विवेचन हेतु ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग उपयुक्त है। प्रस्तुत शोध आलेख में ऐतिहासिक पद्धति के अतिरिक्त तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक पद्धति का प्रयोग है।

निष्कर्ष

बाह्य सम्पर्क एवं आधुनिकीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप जनजातियों की सामाजिक संरचना और संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। बिहार के मुशार एवं भुइया, पालामऊ की पहाड़ी, दीनाजपुर और जलपाईगुड़ी के कूब; बिहार के पोलिया; उत्तर प्रदेश की थारू; छोटा नागपुर की मुण्डा और कोल जाति-व्यवस्था में सम्मिलित हुई है। ये जनजातियों सत्यनारायण की कथा एवं हनुमान चालीसा का पाठ करती हैं। शराब पीना एवं गौ-माँसा खाना छोड़ चुकी हैं तथा ग्रहण के समय पुरोहित की सेवाओं का उपयोग करती है। अब ये हिन्दुओं के त्योहारों एवं उत्सवों जैसे दीवाली, होली, दशहरा आदि मनाती है। विवाह के समय हवन करती है। एकादशी, पूर्णिमा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी आदि का व्रत रखती है। कई जनजातियों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया है। इनमें नागा, गारो,

भील, गोंड एवं छोटा नागपुर था उत्तर-पूर्वी सीमा प्रान्तों की अनेक जनजातियाँ हैं। हिन्दुओं एवं ईसाइयों से सम्पर्क के कारण इनकी परिवार, विवाह, गोत्र एवं नातेदारी संस्थाओं में परिवर्तन हुए हैं। कई क्षेत्रों की जनजातियाँ बहु-विवाही प्रथा के स्थान पर एक-विवाह को अपना रही हैं। संयुक्त परिवार प्रथा का पालन करने वाली जनजातियाँ एकाकी परिवार प्रणाली अपना रही है। इनकी गोत्र व्यवस्था शिथिल हो रही है। पहले गोत्र संगठन ही जनजातियों के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक जीवन का आधार था, परन्तु अब गोत्र का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण शिथिल होता जा रहा है। नातेदारी व्यवस्था आज भी अपनी भूमिका निभा रही है, यद्यपि ऐसे सम्बन्धों में शिथिलता एवं औपचारिकता आने लगी है। हठ विवाह, पलायन विवाह, क्रय विवाह, विनिमय विवाह, परीक्षा विवाह एवं परिवीक्षा विवाह की प्रथाओं में परिवर्तन आ रहा है और इस प्रकार के विवाहों की संख्या दिनोंदिन कम होती जा रही है साथ हीं जनजातीय सामाजिक स्तरीकरण में भी परिवर्तन हुआ है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. एल० पी० विद्यार्थी और बी०के० राज, ट्राइवल क्लचर इन इंडिया, 1977, पृष्ठ-29
2. सी०बी० मेमेरिया, इंडियाज पोपुलेशन पोब्लेज, 1981, पृष्ठ-193
3. तथैव, पृष्ठ-185
4. तथैव, पृष्ठ-201-203

बिहार का निर्माण एवं राष्ट्रवादी भावना का विकास

डॉ० राज भूषण उपाध्याय

एम०ए०, पी-एच०डी०, यू०जी०सी०, नेट (इतिहास)

भारत के इतिहास में बिहार का स्थान अद्वितीय है। बिहार भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की क्रीड़ा भूमि रहा है। युगों के अंतराल में मानव प्रतिभा यहाँ अभिनव रूपों में व्यक्त होती रही है, जिससे सारा विश्व लाभान्वित हुआ है। इसी भूमि ने दुनिया को सबसे पहला गणतंत्र दिया और सत्ता में जनता की भूमिका को उजागर किया। इसी धरती पर भारत का पहला सम्राज्य स्थापित हुआ, जिसके नेतृत्व में पूरे देश के एकीकरण का सफल प्रयास हुआ। बिहार ने प्रारंभ से ही रूढ़ीवादिता एवं शोषण के खिलाफ सघर्ष किया। आधुनिक काल में ब्रिटिश साम्राज्य के शोषणकारी नीतियों का विरोध करने में इसने अग्रणी भूमिका निभाई। वास्तव में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सबसे पहला चुनौती बंगाल के अपदस्थ नबाव मीरकासिम से मिला। मीरकासिम पटना के लोहानीपुर मुहल्ला का रहने वाला था।[1]

बिहार प्राचीन काल से ही सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक चेतना का केन्द्र-बिन्दु रहा है। चन्द्रगुप्त, अशोक जैसे महान शासक, गुरू गोविन्द सरीखे धर्मगुरू का सीधा संबंध बिहार की मिट्टी से रहा है। गौतम बुद्ध तथा महावीर को ज्ञान दीप्ति बिहार से ही मिली, जिसके फलस्वरूप उनका धर्म दुनिया के कोने-कोने तक पहुँचा। शिक्षा के क्षेत्र में नालन्दा और विक्रमशीला जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय बिहार में ही थी।

मध्यकाल में बिहार मुगल सत्ता के विरुद्ध अफगानों की चुनौती का केन्द्र रहा। महान शासक शेरशाह की कर्मभूमि बिहार में ही थी। यह क्षेत्र उसके प्रशासनिक सुधारों का प्रयोगशाला रहा। उन दिनों बिहार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र भी था। इसे पूर्वी हिन्दुस्तान की कुंजी समझा जाता था। अकबर के प्रशासनिक पुनर्गठन में बिहार को 'सूवा' का दर्जा मिला था जिसमें सात सरकारें तथा 199 परगना था। उत्तरवर्ती मुगल शासकों ने बिहार के लिए पृथक 'नयाब-नाजिम' की नियुक्ति की थी जो दिल्ली दरबार के प्रति उत्तरदायी होते हुए, प्रांतीय प्रशासन की देखभाल करता था। परन्तु 1764 ई० की बक्सर की लड़ाई के बार दिल्ली के एक कमजोर बादशाह शाह आलम ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप दी, फिर भी बिहार के लिए एक नायाब-नाजिम बहाल होता रहा।

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना 1600 ई० में हुई। अंग्रेजों ने बंगाल में अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) की स्थापना 1651 ई० में शाहशुजा की अनुमति के उपरान्त की।[2] उन दिनों बिहार बंगाल का हिस्सा हुआ करता था। शीघ्र ही अंग्रेजों ने कासिम बाजार, पटना तथा अन्य स्थानों पर कोठिया बना लीं। फिर 1717 ई० में सम्राट फर्रूखसियर ने पुराने सुबदारों द्वारा दी गई व्यापारिक रियासतों की पुनः पुष्टि कर दी तथा उन्हें कलकत्ता के आस-पास के अन्य क्षेत्रों को भी किराए पर लेने की अनुमति दे दी।[3] इस प्रकार हम पाते हैं कि अंग्रेजों की व्यापारिक गतिविधियाँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और आनेवाले दिनों में यह भारत के शासन का प्रमुख बन बैठा। यह अंग्रजों की कुटनीतिज्ञ चाल का परिणाम था। हालांकि ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का विरोध प्रारम्भ से ही होने लगा था। विभिन्न शोधों से ज्ञात होता है कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् ही बिहार में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय भावना निरंतर जागृत होती रही। 1764 ई० की बक्सर की लड़ाई के बाद दिल्ली के सम्राट शाह आलम ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप दी। बिहार ईस्ट इंडिया कम्पनी से कभी भी सामंजस्य नहीं कर सका और कम्पनी के शासन के विरुद्ध छिटपुट विद्रोह अक्सर होते रहे। इन विद्रोहों में 1781-82 में संथाल परगना जिले (महेशपुर) के सुल्तानाबाद की रानी

सर्वेश्वरी का विद्रोह, 1820–21 ई० का होज विद्रोह, 1831–33 का कोल विद्रोह, 1855–56 का संथाल विद्रोह, 1857 ई० की क्रांति, वहाबी आन्दोलन तथा बिरसा आन्दोलन महत्वपूर्ण हैं। इन सभी विद्रोहों का मुख्य कारण लगान की बढ़ोतरी, बेगारी तथा महाजनों द्वारा मनमाने सूद की वसूली थी। राजनीतिक चेतना के विकास में छोटानागपुर के बिरसा आन्दोलन ने काफी योगदान दिया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार द्वारा भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का बल मिला। अंग्रेजी भाषा जब शिक्षा का माध्यम बन गई, तब भारत के सभी प्रांतों में भाषा–विभिन्नता लुप्त हो गई और भारतीयों को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विचार–विनिमय करने की सुगता प्राप्त हुई। भारतीयों में विदेशी पुस्तकों के अध्ययन के प्रति जागरूकता आयी, जिससे लोगों को विदेशी गतिविधियों एवं उन सब की संस्कृति की जानकार हुई। इसी समय राजाराम मोहरन राय ने बंगाल में ब्रह्म समाज आन्दोलन प्रारंभ किया जिससे लोग देश और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगे। उन्हीं दिनों राजा राममोहन राय मुस्लिम धर्म–ग्रंथों के अध्ययन हेतु पटना आये थे। राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के अग्रदूत थे।[4] उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज की कई शाखाएँ भारत के कई भागों में खुल चुकी थी। परन्तु बिहार में ब्रह्म समाज का जोरदार प्रसार 1868 ई० से शुरू हुआ, जब केशवचन्द्र सेन मुंगेर आये। ब्रह्म समाज के अनुयायियों ने पाश्चात्य शिक्षा पर भी जोर दिया, जिसके फलस्वरूप धीरे–धीरे बिहार में विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की स्थापना होने लगी। उन दिनों बिहार में उच्च शिक्षा का केन्द्र पटना कॉलेज ही था, जिसकी स्थापना 1863 ई० में हुई। पटना कॉलेज बिहार में राजनीतिक गतिविधियों का भी केन्द्र रहा है। इस कॉलेज के प्रांगन में कई सभाओं का आयोजन किया गया था जो राजनीतिक गतिवधियों को एक नई दिशा प्रदान की। 1880 ई० के बाद टी०एन०जे० कॉलेज (भागलपुर), जी०बी०बी० कॉलेज (मुजफ्फरपुर), बी०एन० कॉलेज (पटना), आर०डी० एण्ड जे० कॉलेज (मुंगेर) तथा संता कोलम्बस कॉलेज (हजारीबाग) खोले गये। अधोर कामिनी देवी ने पटना में 1891 ई० में प्रथम बालिका विद्यालय की स्थापना की। इस प्रकार लोगों का ध्यान शिक्षा प्राप्ति के प्रति जागृत होने लगी। ब्रह्म समाज से प्रभावित होकर बिहार के कायस्थ तथा भूमिहर जाति के लोग सर्वप्रथम अंग्रेजी शिक्षा के सम्पर्क में आये, जिसके फलस्वरूप उनमें समाज सुधार की भावना जगी। उन्हीं दिनों शाहाबाद में मुंशी प्यारे लाल का समाज–सुधार आन्दोलन भी जोरों पर चल रहा था। मुंशी प्यारे लाल ने तिलक–दहेज की प्रथा का अन्त करने के लिए 'सदर अंजुमन–ए–हिन्द' नाम एक संस्था की स्थापना की थी, जिसकी शाखाएँ शाहाबाद, पटना, गया, सारण, चम्पारण, मुजफ्फरपुर आदि स्थानों में स्थापित हो गई थी। विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होता है कि इस संस्था में सभी जाति के सदस्य थे, फिर भी कायस्थों की संख्या सबसे अधिक थी। 1889 में प्रथम कायस्थ सम्मेलन हुआ और 1889 ई० में प्रथम भूमिहर सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इन सम्मेलनों का उद्देश्यों लोगों को आधुनिक राजनीतिक चेतना के प्रति आकर्षित करना था। साथ ही इन सम्मेलनों ने समाज–सुधार की दिशा में भी काफी पहल की।[5]

1885 ई० से भारत के इतिहास में एक नया युग का आरम्भ होता है, जब भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के नाम से एक अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था का जन्म हुआ। तब से भारतीयों के मन में राजनीतिक जागरण अधिकाधिक उभरता चला गया।[6] बिहारवासियों में भी राजनीतिक चेतना प्रबल होती गई। जैसा कि ज्ञात होता है कि काँग्रेस के कार्यकलापों में बिहार के लोग काफी दिलचस्पी लेने लगे तथा प्रतिवर्ष काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में बिहार का भी प्रतिनिधित्व होता रहा। फिर भी बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा का गठबन्धन बिहार के प्रगति के लिए बाधक सिद्ध हुआ। उन दिनों राष्ट्रीयता का केन्द्र बंगाल हुआ करता था और काँग्रेस की गतिवधि यों का संचालन भी वही से हो रहा था। अत: आगे चलकर बंगाल विभाजन की घोषणा के साथ ही बिहारियों ने बिहार बंगाल से अलग करने की माँग कर दी और जिसकी अन्तिम परिणति 1912 में हुई। पृथक बिहार की माँग आन्दोलन के नायक महेश नारायण, सच्चिदानन्द सिन्हा, नन्द किशोर लाल, कृष्णा सहाय ने इस आन्दोलन को गति प्रदान करने के लिए बिहार टाइम्स नाम पत्र निकालना आरम्भ किया।[7] बिहार टाइम्स के प्रकाशन के साथ ही बिहार पृथक्करण आन्दोलन की गति भी तीव्र हो गई। इस संबंध में अनेक लेख छपे, जिसमें लोगों को बतलाया गया कि बिहार और बंगाल का गठबंधन बिहार के सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक प्रगति के मार्ग में बाधक है। बिहार हेराल्ड के सम्पादक गुरू प्रसाद सेन ने बिहार के पृथक्करण के विरूद्ध अनेक लेख लिखें।

1894 ई० में जब सरकारी अधिकारियों के बीच बंगाल के विभाजन की बात चल रही थी, तब बिहारी नेताओं ने सरकार के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अगर प्रशासकीय दृष्टिकोण से बंगाल का विभाजन आवश्यक हो तो बिहार को ही बंगाल से अलग कर दिया जाय। इसी समय बंगाल के उप राज्यपाल अलेक्जेण्डर मैकेन्जी को एक ज्ञापन सौंपा गया, जिसमें बिहार को बंगाल से अलग करने की माँग को अस्वीकार कर दिया फिर भी बिहार नेताओं के प्रयास जारी रहे।

सच्चिदानन्द सिन्हा ने फरवरी, 1904 ई० के हिन्दुस्तान रिव्यू में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था, 'दि पार्टिशन ऑफ दि लोअर प्रोविन्सेज : ऐन अल्टरनेटिव प्रोपोजल'। इसी शीर्षक से दूसरा लेख अगस्त, 1905 ई० के हिन्दुस्तान रिव्यू में महेश नारायण

ने लिखा। दोनों लेखों को मिलाकर जनवरी, 1906 ई० में एक पुस्तक प्रकाशित की गई जिसका नाम 'पार्टिशन ऑफ बंगाल और सेपरेशन ऑफ बिहार' रखा गया। इस पुस्तक में इन्होंने यह प्रमाणित किया कि बंगाल और बिहार ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, भाषाई, जीवनशैली, खान-पान, सामाजिक रीति-रिवाज आदि दृष्टिकोणों से एक-दूसरे से अलग है।

1905 ई० में जब लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया, तब बिहारी नेताओं ने बंग-भंग के विरूद्ध चल रहे आन्दोलन में भाग नहीं लिया, क्योंकि वे समझते थे कि वैसा करने पर उनकी माँग कमजोर पड़ जायेगी। 1906 ई० में पहला बिहारी छात्र सम्मेलन पटना कॉलेज में पटना के प्रमुख बैरिस्टर शर्फुद्दीन के सभापतित्व में हुआ। इसमें बिहार के सभी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्र सम्मिलित हुए। बिहारी छात्र सम्मेलन ने बिहार में एक नया जागरण ला दिया। इस सम्मेलन ने सच्चिदानन्द तथा महेश नारायण के सपनों को साकार बनाने में गति प्रदान की। बिहार प्रदेश काँग्रेस कमिटी के अधिवेशनों में भी बिहार को अलग प्रान्त बनाने की माँग दुहराई जाती रही। बिहार की आकांक्षा उस समय पुरी हुई, जब 1908 में अली इमाम को कलकत्ता उच्च न्यायालय में भारत सरकार के स्थायी विधि परामर्शदाता के रूप में नियुक्त किया गया। पृथक बिहार आन्दोलन में उच्चवर्गीय शिक्षित मुसलमान जैसे सैयद अली इमाम, हसन इमाम, मो० फखरूद्दीन और मजस्ल हक आदि जुड़ गए।

12 दिसम्बर, 1911 ई० को जब दिल्ली में शाही दरबार का आयोजन इंगलैंड के सम्राट जार्ज पंचम् एवं महारानी मेरी के स्वागत में किया गया तब ब्रिटिश सम्राट ने बिहार और उड़ीसा को मिलाकर एक नए प्रान्त बनाने की घोषणा की। 22 मार्च, 1912 ई० को ब्रिटेन में यह विधेयक पारित कर दिया गया और 1 अप्रैल, 1912 ई० को विधिवत बिहार का अस्तित्व नए प्रदेश के रूप में कायम हो गया।

नए प्रांत के रूप में गठन के बाद बिहार में आधुनिक राजनीतिक चेतना का विकास काफी तीव्र गति से होने लगा। अलग प्रान्त के अस्तित्व में आते ही यहाँ काँग्रेस की गतिवधियों में काफी बढ़ोत्तरी हुई तथा राष्ट्रीय संचेतनाका विकास हुआ। इसमें कोई शक नहीं है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का पृष्ठाधार तैयार करने में बिहार के कई लोकप्रिय विद्रोहों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इन लोकप्रिय विद्रोहों में कोल विद्रोह[8], संथाल विद्रोह[9], वहाबी आन्दोलन[10] एवं 1857 में वीर कुँवर[11] के नेतृत्व में चलाए गए आन्दोलन प्रमुख माना जा सकता है। ये आन्दोलन निश्चित रूप से ब्रिटिश शासन तंत्र, जमींदार साहुकार, सूदखोर एवं गुमाश्तों के शोषण के खिलाफ थे। इनमें ब्रिटिश राज्य को भारत से उखाड़ फेंकने की राजनीतिक चेतना परिपक्व नहीं हुई थी, लेकिन धीरे-धीरे विद्रोहियों में यह चेतना पैदा होने लगी थी कि उनके शोषण के जड़ में किसी न किसी रूप में ब्रिटिश राज्य की संलिप्तता है।

1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों का उद्देश्य ब्रिटिश राज के साथ सहयोग करके भारत के लोगों के लिए अधिकाधिक सुविधा प्राप्त करना था। प्रारंभिक नेतागण प्रार्थना-पत्र एवं स्मार-पत्र के माध्यम से ब्रिटिश सरकार का ध्यान भारत के लोगों की समस्याओं की ओर आकर्षित करना चाहते थे और उनका समाधान संवैधानिक ढंग से करना चाहते थे। शीघ्र ही काँग्रेस के अन्दर ही ब्रिटिश राज के साथ सहयोग करने की नीति पर मतभेद पैदा हुआ और बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में जुझरू राष्ट्रवाद का जन्म हुआ, फिर भी काँग्रेस अपने कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए सड़कों पर उतरना शुरू नहीं किया था। काँग्रेस के स्वर धीरे-धीरे तेज हो रहे थे, लेकिन काँग्रेस के साथ जन साधारण का जुड़ाव नहीं हो पाया था। काँग्रेस को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने तथा इसे जनसाधारण के बीच ले जाने का श्रेय महात्मा गाँधी को दिया जाता है।

बिहार लम्बे समय तक बंगाल सूबा का अभिन्न अंग बना रहा था। बिहार का अपना स्वतंत्र अस्तित्व मिट सा गया था। बिहार के प्रशासनिक एवं अन्य ऊँचे पदों पर बंगाल के लोग काबिज थे। बिहार पुनर्जागरण के दौर से गुजार नहीं पाया था और यहाँ कोई ऐसा प्रतीक नहीं था, जिसके इर्द-गिर्द सारे बिहार के लोग एकजूट हो पाते और उनमें बिहारीपन की भावना पैदा हो पाती। जाति व्यवस्था यहाँ की सबसे बड़ी सामाजिक विशेषता थी और साथ ही साथ सबसे बड़ी सच्चाई भी। बिहार क्षेत्रवाद के नाम पर, जातिवादी के नाम पर एवं धर्म के नाम पर विभिन्न इकाइयों में बिखंडित था। सर्वत्र निराशा एवं जड़ता का वातावरण था। ऐसे ही निराशाजनक वातावरण में बिहार के मध्यमवर्गीय लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा को अपनाया। दूर-दराज के क्षेत्रों में जाकर अपनी शिक्षा पूरी की और वहीं पर नौकरी करने के लिए विवश हुए, क्योंकि उनके लिए अपने प्रान्त में कोई नौकरी नहीं थी, क्योंकि उनका प्रान्त कोई एक स्वतंत्र इकाई नहीं था। कुछ सीमांत जमींदारों ने भी आधुनिक शिक्षा को अपनाया और उनमें भी यह ललक पैदा हुई कि वे अपने बच्चों को सरकारी नौकरियों के लिए तैयार करें। इस तरह मध्यम व्यावसायिक वर्ग एवं सीमांत जमींदारों के बीच एक प्रगाढ़

संबंध कायम हुआ और उन्होंने मिलकर बड़े जमींदारों के खिलाफ वातावरण तैयार किया। उन्हें लगा कि बिहार को अपना स्वतंत्र हैसियत मिलना ही चाहिए और इसके लिए सच्चिदानन्द सिन्हा, महेश नारायण, सर अली इमाम जैसे प्रबुद्ध लोगों के नेतृत्व में अलग बिहार प्रान्त बनाओ आन्दोलन की शुरूआत हुई।[12]

नये बिहार प्रान्त के गठन का आन्दोलन ने बिहार के लोगों को पहली बार एक प्लेटफार्म पर आने का मौका प्रदान किया। बिहार के लोग अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी से भी जुड़े रहे। ब्रजकिशोर प्रसाद, सच्चिदानन्द सिन्हा, मौलाना मजहरूल हक, हसन इमाम सरीखे नेतागण काँग्रेस में सक्रिय भूमिका निभाते रहे, लेकिन उनकी गतिविधि अपने लिए एक अलग प्रांत बनाने पर ज्यादा थी। बिहार में इस समय एक नई सामाजिक चेतना ने जन्म लेना शुरू कर दिया था। कायस्थों ने सबसे पहले कायस्थ महासभा की स्थापना की और अपनी जाति के बच्चों को शिक्षित करने के लिए पाठशालाओं की स्थापन की। निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी, बिना दहेज लिए शादी करने पर जोर दिया गया। कायस्थों की देखादेखी भूमिहार ब्राह्मणों ने, राजपूतों ने, मैथिल ब्राह्मणाों ने भी अपने संगठन कायम किये और अपनी जाति के अन्तर्गत व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। पिछड़ी जातियों विशेषकर कुर्मी, कोयरी, ग्वालों एवं दुसाधों में भी जातिगत चेतना का उभार देखने को मिला। उनके बीच भी समाज सुधार आन्दोलन एवं शैक्षिक आन्दोलन जोर पकड़ने लगे। जातिगत संगठन सामाजिक हैसियत के साथ-साथ राजनीतिक भागीदारी के भी पर्याय बने। जातिगत मतभेदों के बावजूद जाति के नेताओं में आधुनिक राजनीतिक संचेतना का भी विकास होने लगे जो आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन को संबल प्रदान किया।

बंग-भंग आन्दोलन के दौरान बिहार में पृथक्करण आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। बिहार के सभी जिलों में सभा की गई तथा इसमें बिहार को बंगाल से पृथक् करने का प्रस्ताव पास किया गया। कई लोगों ने 16 अक्टूबर, 1905 को इस माँग पर प्रकाश डालने के लिए खाना तक नहीं खाया। इस आन्दोलन के दौरान बिहार के नेताओं ने बिहारियों के नाम एक अपील की थी, जिसमें बिहार के भूतपूर्व गौरव का ध्यान दिलाते हुए कहा गया था कि जिस बिहार ने अतीत में पूरे देश को अपने ज्ञान-प्रकाश से आलोकित किया था, वही आज उपेक्षित है तथा बंगाल के अनुसरण से अपने को गौरवान्वित महसूस करता है। अतः बिहारियों का आह्वान किया गया था कि बिहार को बंगाल से पृथक कर पुनः इसके अतीत के गौरव के पद पर आसीन करें। इसमें बिहार के अज्ञान के अंधकार से अलग करने के लिए अथक परिश्रम करने की अपील भी की गई।

बंग-भंग के दौरान ही अंग्रेजों द्वारा कुछ ऐसे लाभ बिहारियों को मिले जिससे पृथक् बिहार को बल मिला। इसके साथ बिहार के पृथक्करण आन्दोलन को एक आधार भी मिला। सर्फुद्दीन 1907 ई० में हाईकोर्ट के न्यायाधीश नियुक्त हुए। 1908 ई० में कलकत्ता हाईकोर्ट में अली इमाम को भारत सरकार के स्थायी परामर्शदाता नियुक्त किया गया। इन नियुक्तियों से बिहाररियों में आत्मसम्मान का विकास हुआ। यह नियुक्ति बिहारियों को पहली बार नसीब हुई थी। इस बात का भी संकेत था कि अंग्रेज का बंगालियों से मोहभंग होना शुरू हो गया है तथा बिहारियों के प्रति उनकी सोंच में परिवर्तन आने लगा है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द सिन्हा इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में बंगाल के लेजिस्लेटिभ कौंसिल के प्रतिनिधि चुने गए। इसी दौरान अली इमाम लार्ड एस०पी० सिन्हा के बदले भारत सरकार के विधि सदस्य चुने गए।

राज्यपाल को बिहारी नेताओं ने एक ज्ञापन सौंपा। इसमें बिहार लैंड होल्डर्स एसोसिएशन, बिहार प्रान्तीय संघ, बिहार प्रान्तीय मुस्लिम आदि थे।[13] इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह प्रतिनधिमंडल नम्र तथा वफादार होने के साथ-साथ सभी धर्म, जाति, वर्ग तथा समुदाय का प्रतिनधित्व करती है। इस ज्ञापन को पुरे बिहार की हार्दिक अभिव्यक्ति के रूप में माना जाना चाहिए। इसमें मुख्य रूप से बिहार में शिक्षा, स्वस्थ्य, विधि सेवा आदि में बंगालियों की अपेक्षा बिहारियों के प्रतिनिधित्व पर बल दिया गया। सरकारी नौकरियों में बिहारियों के उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने की बात कही गई थी।

राज्यपाल ने बिहारियों को हार्दिक धन्यवाद देते हुए यह स्वीकार किया कि कुछ दिनों तक बिहार में रहकर बिहारियों के कष्टों और व्यथाओं की जानकारी प्राप्त करेंगे। इन्होंने स्वीकार किया कि राजकीय पदों की नियुक्ति में बिहारियों का प्रतिनिधित्व काफी असंतोषजनक है। इसके लिए वे प्रयत्नशील रहेंगे। राज्यपाल ने यह आवश्वासन दिया कि बिहारी डाक्टरों तथा इंजीनियरों को बिहार में नियुक्तियाँ की जाएगी। इन्होंने पुनः कहा कि लोक सेवा की वर्तमान स्थिति बिहार के हितों के लिए अन्यायपूर्ण तथा घातक है।

सरकार को अपने समक्ष बिहार में बिहारियों की लोक सेवा के निर्माण का उद्देश्य रखकर कार्य करना चाहिए तथा यदि कोई बिहारी अन्य लोगों के समतुल्य योग्यता रखता हो तो राजकीय सेवाओं में उसे ही प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

राज्यपाल ने कहा कि बिहार में नियुक्ति पाने के लिए अन्य योग्यताओं के साथ-साथ बिहारी होना भी एक योग्यता होना चाहिए। क्योंकि एक योग्य न्यायाधीश, निपुण कार्यपालिका पदाधिकारी, सफल शिक्षक होने में स्थानीय भाषा की जानकारी काफी सहायक सिद्ध होती है।[14]

राज्यपाल के प्रत्युत्तर ने बिहार को बंगाल से पृथक् करने के आन्दोलन को एक आधार प्रदान किया। यह पहला अवसर था जब राज्यपाल जैसे सरकारी पदाधिकारी ने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया कि बिहार की भलाई तथा आवश्यकताएँ की सरकार ने अभी तक उपेक्षा की है। सरकार की इसी उपेक्षित नीतियों के कारण जहाँ एक ओर बंगाल राजनैतिक, बौद्धिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में पीछे होते गया है। इसका संपूर्ण दायित्व सरकार पर है तथा बिहार के हितों की यह उपेक्षापूर्ण नीति "अन्यायपूर्ण तथा घातक" है। राज्यपाल की इसी स्वीकारोक्ति में सरकार का यह दर्द भी छिपा था कि कहीं बिहारी छात्र भी बंगाली छात्रों की तरह राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा न बन जाए। परन्तु यह चिंता बिहार को बंगाल से पृथक् होने में काफी प्रमुख आधार साबित हुआ।

बंगाल के राज्यपाल ने बिहारियों द्वारा प्रेषित अभिवेदन तथा उसके प्रत्युत्तर को केन्द्रीय सरकार के पास भेज दिया।[15] केन्द्रीय सरकार ने इस अभिवेदन को अत्यंत ही महत्वपूर्ण और सारगर्भित बतलाया। केन्द्रीय सरकार ने इस आशयक का एक पत्र बंगाल सरकार के पास भेजा। इतना ही नहीं इसकी एक प्रतिलिपि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास लंदन भेज दी गई।[16]

इस दौरान बिहार में बंगाल से अलग होने का आन्दोलन और जोर पकड़ने लगा। बंगालियों ने इसे सरकार की संकीर्णता का द्योतक माना। इनका मानना था कि बिहार और बंगाल दोनों ही एक राष्ट्र के अभिन्न अंग है तथा वृहत्तर राष्ट्र की उपेक्षा कर प्रान्तीय स्तर पर सोचना सरकार की संकीर्णता मानसिकता को प्रदर्शित करता है। इनका यह भी कहना था कि पूर्वी एवं पश्चिमी बंगाल के रूप में बंगाल का विभाजन सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक शोकजनक एवं अशोभनीय कार्य था।

इस प्रकार बिहार का पृथक्करण आन्दोलन जोर पकड़ता गया। बिहारियों द्वारा बंगालियों के प्रति पक्षपात का आरोप लगातार लगते रहा। भागलपुर के जिला दंडाधिकारी हैमन्ड पर अभियोग लगाया जाता था कि वे सुयोग्य एवं दक्ष बिहारी उम्मीदवारों के रहते हुए भी बंगालियों के प्रभाव में आकर उन्हीं की नियुक्तियाँ करते हैं। इनके कार्यकलाप से ऐसा प्रतीत होता था कि ये जन्मजात बंगाली प्रेमी तथा बिहार-विरोधी है। इनके कार्यों से जिले के सभी बिहारी क्षुब्ध थे।[17]

बिहारियों के साथ भेदभाव कई अन्य तरीकों से भी किया जाता था। सरकारी मुकदमें की वकालत करने में भी सरकार पक्षपात दिखाती थी। योग्य बिहारी वकीलों को न लेकर बंगाली वकीलों को ही अधिकांश मुकदमें दिए जाते थे। इसके लिए बिहार के लोगों में बेहद क्षोभ था।[18]

बिहार के नेताओं द्वारा जैसे-जैसे बंगाल से बिहार को अलग करने का आन्दोलन तेज किया जा रहा वैसे-वैसे बंगालियां ने भी इसे कमजोर करने का प्रयास किया जा रहा था। सरकार को भी यह खतरा सताने लगा था कि अगर बिहार को बंगाल से अलग न किया गया तो हो सकता है कि 1857 से ज्यादा भयानक विद्रोह बिहार में शुरू हो जाए। एक बार बिहार पुनः विद्रोह की राह पकड़ लगा तो स्वाधीनता आन्दोलन यहाँ और जोर पकड़ लेगा। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर 1911 तक सरकार ने बिहार को एक अलग प्रांत के रूप में गठन कर निर्णय ले लिया। अगस्त 1911 में सरकार ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को लिखा कि बिहार के लोग अत्यंत ही बलिष्ट और राजभक्त हैं। ये लोग किसी भी कीमत पर बंगाल से अलग होना चाहत हैं। ये लोग किसी भी कीमत पर बंगाल से अलग होना चाहते हैं। बंग-भंग आन्दोलन में भी इन्होंने भाग नहीं लिया ताकि इनका आंदोलन कमजोर न पड़े। अतः बिहार को बंगाल से अलग कर इन्हें अपना विकास करने का अवसर दिया जाना चाहिए।[19]

भारत सरकार के इस पत्र का इंगलैंड में काफी प्रभाव हुआ तथा इसकी स्वीकृति मिल गई। 12 दिसम्बर, 1911 के दिल्ली दरबार से सरकार ने घोषणा की कि बिहार, उड़ीसा तथा छोटानागपुर को बंगाल से पृथक् किया जाता है। पहली अप्रैल 1912 ई० से भारत के मानचित्र पर बिहार नामक एक पृथक् प्रांत अस्तित्व में आ गया। इस प्रकार बिहार को बंगाल से अलग करने का आन्दोलन समाप्त हुआ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. दास, प्रमोदानन्द, बिहार का इतिहास, सुमित्रा प्रकाशन, पटना, 1993, पृष्ठ-1
2. वर्मा, हरिश्चन्द्र, मध्यकालीन भारत 1540-1761, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1996, भाग-2, पृष्ठ-703
3. वही, पृष्ठ-707
4. सिन्हा, एस०एन०पी०, बिहार में राष्ट्रीयता का विकास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 19998, पृष्ठ 1-5
5. वही, पृष्ठ 5-6
6. ग्रोवर, बी०एल०, आधुनिक भारत का इतिहास, एस चाँद एण्ड संस, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ-290
7. हिन्दुस्तान रिव्यू, अगस्त 1907, पृष्ठ-79
8. झा, जे०सी०, कोल इनटेरेक्शन इन छोटानागपुर, कलकत्ता, 1964 ई०, पृष्ठ-81
9. दत्त, के०के०, दि संथाल इनसेरेक्शन, कलकत्ता, 1965, पृष्ठ-16
10. अहमद, क्यामुद्दीन, दि वहाबी मूवमेंट इन इंडिया, कलकत्ता, 1966, पृष्ठ-62
11. दत्त, के०के०, बायोग्राफी ऑफ वीर कुंअर सिंह एण्ड अमर सिंह, कलकत्ता, 1967, पृष्ठ-79
12. चौधरी, भी०सी०पी०, क्रियेशन ऑफ मार्डन बिहार, पटना, 1966, पृष्ठ-70
13. बंगाल के राज्यपाल को दिनांक-14 अगस्त, 1908 के अभिवेदन में।
14. राज्यपाल का प्रत्युत्तर, दिनांक-14 अगस्त, 1908
15. केन्द्रीय सरकार का पत्र बंगाल सरकार के नाम, 23 सितम्बर, 1908
16. केन्द्रीय सरकार का पत्र सेक्रेट्री ऑफ स्टेट के नाम, 1 अक्टूबर, 1908
17. 'बिहारी' दिनांक-14 अप्रैल, 1911
18. बिहारी, दिनांक-23 नवम्बर, 1911
19. सेक्रेट्री ऑफ स्टेट को 25 अगस्त, 1911 में इस आशय का पत्र भारतीय ब्रिटिश सरकार ने लिखा।

भारत की परमाणु नीति

राजीव रंजन कुमार

शोध प्रज्ञ, एम०ए०, राजनीति विज्ञान, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)

शोध आलेख का सार

भारत एक महान लोकतांत्रिक देश रहा है, जो हमेशा ही विश्वशृांति, सहयोग एवं सौहार्द का समर्थन करता रहा है। भारत की वैदेशिक नीति में अंतर्राष्ट्रीयतावाद, सामूहिक सुरक्षा, नि:शस्त्रीकरण, लोकतंत्रीकरण तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रयोग का समर्थन किया गया है। भारत 'शस्त्र नियंत्रण' से आगे बढ़कर पूर्णत: हथियारों की समाप्ति अर्थात् नि:शस्त्रीकरण का समर्थक है। वर्ष 1974 में भारत के द्वारा अघोषित परमाणु परीक्षण किया गया, जिसका उद्देश्य सकारात्मक था। वर्ष 1998 में भारत में घोषित परमाणु परीक्षण किया तथा राष्ट्र को एक परमाणु संपन्न देश बना लिया। अभी भारत के पास लगभग 130 से अधिक परमाणु बम है, परन्तु इसे विश्व के लिए तथा मानव जीवन के लिए सही नहीं मानता है। भारत का मानना है कि कालबद्ध रूप में दुनिया के सभी परमाणु सम्पन्न देशों में इस बात पर सहमति होनी चाहिए कि परमाणु बम को समाप्त कर दिया जाए। भारत परमाणु बम बना लिया है, लेकिन वह इसका आत्मरक्षा में प्रयोग करेगा। नॉट फस्ट यूज के सिद्धान्त पर भारत चलता है। भारत की परमाणु नीति शांति, आत्मरक्षा तथा विश्व में सुरक्षा की भावना को अपने में समेटे हुए है। सार रूप में, भारत की परमाणु नीति के अवलोकन से यह सभी बातें बिल्कुल स्पष्ट हो जाएंगी।

मूल शब्द: उपनिवेशवाद, सामूहिक सुरक्षा, आतंकवाद, वैदेशिक नीति, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, सामरिक रणनीति, क्षेत्रीय संगठन, कूटनीति, पड़ोसी नीति, गुजराल डॉक्टरीन

प्रस्तावना

भारत ने मई 1974 में राजस्थान की मरुभूमि में पोखरण के नजदीक अपना प्रथम 'शांतिपूर्ण' सफल परमाणु परीक्षण किया। इस परीक्षण ने फिर परमाणु यंत्र पर वैज्ञानिकों के कार्य के चरम बिंदु तथा एक अनुमोदक राजनीतिक परिवेश को दर्शाया। यह भारत की सुरक्षा परिस्थिति में किसी क्षय के प्रति एक निकटवर्ती प्रतिक्रिया नहीं थी। वास्तव में, परमाणु परीक्षण से पूर्व की अवधि में भारत की अवस्थिति में कुछ सुधार जरूर दृष्टिगोचर हो रहा था। सन् 1971 में पाकिस्तान के साथ एक युद्ध, जिसके प्रतिफल में बांग्लादेश (पूर्वी पाकिस्तान) को स्वतंत्रता प्राप्त हुई तथा 'भारत इस महाद्वीप में एक प्रभावी शक्ति के रूप में विश्व समाज के सामने आया।[1] दूसरी ओर पाकिस्तान की प्रलयंकारी पराजय ने उसे उत्तेजित किया कि वह अपने बम की खोज को तेजी प्रदान करे।

भारत वर्ष 1962 तथा 1965 के चीन और पाकिस्तान के आक्रमण से अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति गम्भीर एवं चिन्तित था ही कि वर्ष 1971 में बांग्लादेश के मुद्दे पर पाकिस्तान ने पुन: भारत के सामने युद्ध को लाकर खड़ा कर दिया। अब भला भारत अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को कैसे अनदेखा कर सकता था? भारत ने राष्ट्रीय सुरक्षा के पाकिस्तानी चुनौती को स्वीकार किया और पाकिस्तान को हार का सामना करना पड़ा। अब भारत के परमाणु निर्णयन को बहुत बल मिला। दूसरी ओर 1971 के युद्ध में भारत की विजय इंदिरा गाँधी के लिए राजनीतिक रूप से लाभप्रद थी तथा इस विजय ने दृढ़-निश्चयी नेता की छवि को भी प्रोत्साहित किया, जो शक्ति के समेकन की उनकी लोक लुभावन रणनीति को सार्थक करती थी। इन्दिरा गाँधी ने स्पष्ट रूप से सन् 1972 में परमाणु परीक्षण हेतु राजनीतिक निर्णय ले लिया था; यह निर्णय, उनकी सरकार द्वारा लिए गए कई निर्णयों की भांति, गोपनीयता के साथ लिया गया था, जिसमें परमाणु वैज्ञानिकों तथा कुछ विश्वासी राजनीतिक सलाहकारों का परामर्श शामिल था, जबकि सेना तक को इसकी सूचना से बाहर रखा गया था।[2]

भारत धीरे-धीरे ही प्रथम पोखरण परीक्षण तक पहुँचा तथा 'परमाणु बनाने की प्रदर्शनीय क्षमता के साथ उभरा, किंतु आगे बढ़ने तथा ऐसा करने हेतु बिना किसी नीति के साथ'।[3] इसके बाद भी भारत के पास परमाणु योजना का कोई वैज्ञानिक रूप रेखा निर्धारित नहीं हो पाया था।

वर्ष 1974 को भारत के कार्यक्रम में प्रथम क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है। इस वर्ष परमाणु परीक्षण के निर्णय ने नैतिक परमाणु नीति ने संशयशील परमाणु नीति को व्यावहारिक राजनीति की ओर उन्मुख कर दिया।[4]

भारत की राजनीतिक व्यवस्था वर्ष 1975 से 1980 तक राजनीतिक अस्थिरता और अन्य कई चुनौतियों से प्रभावित होती रही। इंदिरा गाँधी ने राजनीतिक नेतृत्व की समस्या से जुझते हुए समस्याओं के निदान के लिए राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा भी कर दिया।[5] वर्ष 1971 में जनता पार्टी की सरकार अस्तित्व में आई, जो मोरारजी देसाई तथा चौधरी चरण सिंह के प्रधानमंत्रित्व में अस्थिरता से जुझती रही तथा पुनः वर्ष 1980 में इंदिरा गाँधी को स्थापित कर दिया। इंदिरा गाँधी ने पुनः वर्ष 1980 से वर्ष 1984 तक काँग्रसी सरकार का नेतृत्व किया। इस काल में एक पहेली बनी हुई है कि भारत ने इन्दिरा के नेतृत्व में एक और परमाणु परीक्षण नहीं किया, इस बात के मद्देनजर कि परमाणु वैज्ञानिकों ने ऐसा करने हेतु स्पष्ट रूप से अनुमति की मांग की थी तथापि उन्होंने 'बैलिस्टिक प्रक्षेपशास्त्रों के विकास, परीक्षण तथा उत्पादन के एक महत्वकांक्षी कार्यक्रम की स्वीकृति दी थी'।[6] उनके नेतृत्व तथा राजीव गाँधी (1984-89) के नेतृत्व ने नई क्षेत्रीय सुरक्षा चिंताओं का मुकाबला किया।

भारत के लिए वर्ष 1980 के बाद अनेक चुनौतियाँ थी तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति भी व्यापक रूप में परिवर्तित हो रही थी। वस्तुतः 1980 के दशक के अंत तक भारतीय क्षमताएँ ऐसा बिंदु पर पहुँच रही थीं कि नई दिल्ली के पास एक संकलित तैयार शस्त्रगार नहीं था, दक्षिण एशिया के भीतर तथा बाहर, दोनों में यह आम समझ थी कि पाकिस्तान के साथ संघर्ष में परमाणु अस्त्र एक प्रमुख स्थान ले सकता है। सापेक्षिक शांति की अवधि के उपरांत, दोनों देशों के संबंध लगातार बिगड़ने लगे। जब भारत को कश्मीर में एक देशीय विद्रोह का सामना करना पड़ा, जिसे पाकिस्तान ने अपने प्रतिद्वंद्वी के धीरे-धीरे दर्द का अनुभव करवाने तथा अपने संशोधनवादी उद्देश्यों को उन्नत करने हेतु उकसाया था। कश्मीरी विद्रोह प्रथम तौर पर देश में ही उपजा था, बाद में इस्लामाबाद ने सक्रियता से इसका समर्थन आरंभ करने के अवसर'[7] के रूप में किया। पाकिस्तान का यह भी मानना था कि उसकी अपनी उत्पन्न होने वाली परमाणु क्षमता भारत को कोई भी गंभीर सैन्य प्रतिक्रिया के आरोहण से विरत करेगी तथा अंततोगत्वा 'भारत तथा अंतराष्ट्रीय समुदाय को कश्मीर विवाद पर दोबारा चर्चा करने हेतु अग्रसर करेगी'।[8]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 1990 का दशक उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण से प्रभावित रहा, जहाँ विश्व के देशों की सामरिक और राजनीतिक आवश्यकता से आर्थिक आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण एवं निर्णायक हो गई। भारत भी इसका अपवाद नहीं थी। 1990 के दशक के मध्य में, छच्च् की एक समीक्षा हुई, जो क्लिंटन प्रशासन की अगुआई में एक नवीन अप्रसार संधि के प्रोत्साहन का हिस्सा थी। क्लिंटन की एक अन्य प्राथमिकता के संबंध में, व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) की सफलता जिस पर लंबे समय तक वाद-विवाद चला।[9] कई भारतीयों ने इसे अमरीकी-नेतृत्व वाले उस अंतर्राष्ट्रीय प्रयास के रूप में देखा जो 'भारत के परमाणु विकल्प पर स्थायी रूप से रोक लगाने' हेतु था।[10] जैसा यह देखा गया है कि बम के प्रति भारतीय मनोभाव नैतिकतावादी विरोध की वकालत तक रहा है। भारत में एक मनोभाव जो हमेशा पूरे राजनीतिक वर्णक्रम भर में रहा है, वह है वैश्विक अप्रसार व्यवस्था में सन्निहित भेदभावपूर्ण सिद्धान्तों के प्रति असहिष्णुता। जब यह भेदभाव एक बार फिर से परमाणु विकल्प पर भारत के वाद-विवाद का सबसे प्रमुख मुद्दा बना, 'भारतीय सामरिक समुदाय में नए गठबंधनों तथा साझेदारियों का निर्माण हुआ'।[11] यहाँ एक प्रसंग महत्वपूर्ण है जो भारत के राजनेता जॉर्ज फर्नांडिस से जुड़ी हुई है। फर्नांडिस वामपंथी श्रमिक संघ के एक भूतपूर्व नेता थे सन् 1974 के परमाणु परीक्षणों के कठोर आलोचक थे, भारत के सबसे मुखर आक्रमणशीलों में से एक में रूपान्तरिक हुए तथा जिन्होंने अंततः उस भारत सरकार में रक्षा मंत्री का पदभार संभाला, जिसने सन् 1998 में परमाणु परीक्षण किए।

11 मई, 1998 को, वाजपेयी ने 'संक्षेप में यह घोषणा किया भारत ने तीन परमाणु परीक्षण किए हैं, जिनमें एक में ताप-नाभिकीय यंत्र का विस्फोट शामिल था।[12] जिसकी उत्पादन क्षमता सन् 1974 के परीक्षण की तुलना में बहुत से अधिक थी। दो दिनों के बाद, जब तक अमरीका यह समझने का प्रयास कर रहा था कि उनसे परीक्षण हेतु भारत की तैयारी कैसे छूट गई, भारत ने दो और विस्फोट किए। पाकिस्तान ने अपने परमाणु परीक्षणों के साथ उत्तर दिया। अमरीका, चीन, जापान तथा अन्य देशों ने पाकिस्तान तथा भारत के इस परीक्षण की आलोचना किया।

मई, 2019 में भारत ने एक अभूतपूर्व सफलता प्राप्त किया है। अमरीका, रूस और चीन के बाद भारत चौथा अंतरिक्ष की शक्ति बन गया है। भारत ने राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु अंतरिक्ष में 300 किलोमीटर दूर लो अर्थ ऑर्बिट (एलइओ) सेटलाइट को मार गिराया है। यह भारत की सामरिक शक्ति का परिचायक है। भारत ने भले ही राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए परमाणु विस्फोट किया, परन्तु वह हमेशा ही विश्व शांति अर्थात् सामूहिक सुरक्षा के प्रति चिन्तित रहा। इस बात की जानकारी हमें भारत की परमाणु नीति में देखने को मिलती है।

27 मई, 1998 को संसद में घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया गया, जिसमें निम्नलिखित परमाणु नीति की घोषणा की गई।[13]

(i) 1998 में पोखरन में जो विस्फोट हुआ, वह हमारी परमाणु नीति की निरंतरता का द्योतक है। इससे भारत आत्मनिर्भर होगा और उसकी सोच में स्वतंत्रता आयेगी।

(ii) 1990 से 1998 तक हमारे सुरक्षा पर्यावरण में बहुत गिरावट आयी। भारत के दोनों ओर परमाणु और मिसाइल व्यवस्थाएँ बढ़ रही थी। उसके अतिरिक्त भारत बाहर की सहायता से होने वाले अघोषित युद्ध को भी सहन कर रहा था।

(iii) विश्व के सन्दर्भ में परमाणु अप्रसार सन्धि (N.P.T.) पर हस्ताक्षर करने के बाद भी परमाणु सज्जित राष्ट्रों ने कोई ऐसा निर्णय नहीं किया जिससे यह साबित होता कि हम लोग किसी नि:शस्त्रीकरण के सिद्धान्त का पालन कर रहे हैं।

(iv) इस वातावरण में अपने राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दे को सामने रखने के अतिरिक्त भारत के पास कोई उपाय नहीं था।

(v) भारत नि:संदेह एक परमाणु सुज्जित राष्ट्र है। यह दर्जा हमको किसी राष्ट्र ने नहीं दिया अपितु हमारे वैज्ञानिकों ने ही हमें गौरवान्ति किया है।

(vi) भारत के परमाणु अस्त्र केवल स्वत: सुरक्षा (Self Defence) में काम आयेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि हम किसी प्रकार की परमाणु धमकी या दबाव में न आयेंगे और न शस्त्रों की होड़ में पड़ेंगे।

(vii) भारत की परमाणु नीति अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में संयम और खुलेपन का अपने आप में ही एक अद्वितीय उदाहरण है। यह शक्ति संयम किसी तरह की अनिश्चय, दुविधा में उत्पन्न नहीं होगा।

(viii) इस तरह का कदम उठाने के बाद सरकार ने अपनी ओर से ही यह घोषणा भी कर दिया है कि इस कार्यक्रम को यहीं स्थगित किया जाता है।

(ix) भारत सरकार सभी तरह के परमाणु नि:शस्त्रीकरण की वार्ता एवं सम्मेलन में शामिल होने को तैयार है। भारतीय विदेश नीति का नि:शस्त्रीकरण एक विशेष तत्व है और भारत सरकार अब भी उसका प्रतिपादन करती है।

(x) भारत के लोगों ने और विदेश में रहने वाले भारतीयों (छत्प) ने एक स्वर में और जोरदार ढंग से भारत सरकार की परमाणु विस्फोट का स्वागत किया। इस निर्णायक कार्य में राष्ट्र भी एकमत एवं एकजूट है।

भारत के द्वारा 11 और 13 मई, 1998 को परमाणु सफल विस्फोट किया गया, जिसे द्वितीय पोखरन कहा जाता है। अब भारत दुनिया के सामने घोषित परमाणु बम सम्पन्न देश बन गया है। इसके बाद अगस्त, 1999 में देश में परमाणु नीति का प्रारूप प्रस्तुत किया गया, जिसमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातें कही गई है:

(i) भारत का परमाणु बल विश्वसनीय न्यूनतम प्रतिरोधक क्षमता का अवधारणा के अनुरूप प्रभावी, स्थायी, लचीला, उद्देश्यपरक तथा विभिन्नता के स्तर पर निर्धारित किया जायेगा।

(ii) राष्ट्र पर परमाणु हमले की चेतावनी और नुकसान के आंकलन की जानकारी देने वाला अंतरिक्ष आधारित सूचना तंत्र एवं अन्य प्रणालियों को विकसित किया जायेगा।

(iii) भारत का परमाणु बल ऐसा होगा जो जमीन, आकाश और समुद्र तीनों जगह से मार करने में सक्षम होगा, इसके लिए विमानों, जमीन और चलायमान प्रक्षेपास्त्रों और समुद्र में पनडुब्बियों पर आणविक अस्त्रों को कार्य में शामिल किया जायेगा अर्थात् इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य निष्पादित किया जायेगा।

(iv) भारत अपनी ओर से किसी देश के खिलाफ परमाणु हमला तो नहीं करेगा, लेकिन संयम टूटने की स्थिति में आक्रमणकारी देश को मुँहतोड़ जबाव दिया जायेगा। परमाणु शक्ति का राष्ट्रीय सुरक्षा में प्रयोग संभव है।

(v) भारत किसी भी ऐसे देश पर परमाणु हथियारों का इस्तेमाल नहीं करेगा, जिसके पास परमाणु हथियार न हो। इसके साथ ही जो किसी परमाणु हथियार सम्पन्न ताकत से जुड़ा न हो उस पर भी भारत हमला नहीं करेगा।

(vi) परमाणु बल को इस ढंग से तैनात किया जायेगा कि दुश्मन ने अचानक हमले की स्थिति में वह पूरी तरह सुरक्षित रहे। देश पर परमाणु हमले की स्थिति में दुश्मन को इन बलों के द्वारा अविलम्ब मुँहतोड़ जबाव दिया जायेगा।

(vii) भारत का परमाणु संयम सिद्धान्त मूलत: पाँच बिन्दुओं पर आधारित है।[14]

(क) भारत न्यूनतम परमाणु प्रतिरोधक क्षमता के तहत पर्याप्त और कार्रवाई के लिए परमाणु बम तैयार रखेगा।

(ख) एक सशक्त कमान और नियंत्रण कायम की जायेगी। परमाणु अस्त्रों के प्रयोग का आदेश देने का अधिकार प्रधानमंत्री या उनके द्वारा नाभिक पदाधिकारी के पास होगा। इस प्रकार आण्विक हथियारों का अंतिम नियंत्रण प्रधानमंत्री के पास रहेगा।

(ग) प्रभावी खुफिया और पूर्व चेतावनी हमला का अध्ययन किया जाता रहेगा।

(घ) कार्रवाई के लिए व्यापक योजना और प्रशिक्षण की व्यवस्था होगी।

(ङ) परमाणु बम और हथियारों की तैनाती के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति का परिचय दिया जायेगा।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य भारत की परमाणु नीति की तथ्यगत जानकारी प्राप्त करना तथा नि:शस्त्रीकरण पर भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करना है। इस शोध आलेख में भारत की परमाणु नीति में जो परिवर्तन आया है, उसको भी स्पष्ट करना इसका उद्देश्य है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक भारत की परमाणु नीति है। इसमें भारतीय परमाणु विषयक परिवर्तनशील नीतियों को विवेचित किया गया है तथा इस सम्बन्ध में यह परिकल्पना की जाती है कि भारत की परमाणु नीति अपने मौलिक सिद्धान्तों को हमेशा ही केन्द्र में रखकर कार्य करती है। अन्तर्राष्ट्रीय परिपेक्ष्य में कुछ परिवर्तन जरूर हुए हैं, परन्तु वह आंशिक है। भारत की परमाणु नीति भविष्य में भी शांतिपूर्ण कार्यों को समर्थन करती रहेगी। आत्मरक्षा में भारत परमाणु शक्ति का प्रयोग कर सकता है, परन्तु यह पहले प्रयोग न करने का शपथ लेता है तथा भविष्य में इसी प्रकार की अपेक्षा की जायेंगी।

साहित्य सर्वेक्षण

इस विषय पर सम्पन्न अबतक के महत्वपूर्ण अध्ययन में कुछ साहित्य का सामान्य अवलोकन अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख लेखन कार्य को सार्थकता प्रदान करता है। वस्तुत: शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए साहित्य सर्वेक्षण को अनिवार्य माना जाता है। इसी अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध आलेख की तैयारी में निम्नलिखित प्रमुख साहित्य का सर्वेक्षण किया है:

1. वी०एन० खन्ना, लिपाक्षी अरोड़ा, भारत की विदेश नीति, तृतीय संशोधित संस्करण, निकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा० लि०, नई दिल्ली, 2004
2. प्रो० बी०एम० जैन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003
3. डॉ० एस०पी० सिंहल, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2019
4. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा एवं शशी के० जैन, राजनय के सिद्धान्त, कॉलेज बुक्र डिपो, जयपुर, 2006
5. भोला चटर्जी, ए स्टडी ऑफ रिसेन्ट नेपालीज पॉलिटिक्स, द वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1967
6. लियो ई० रोज, नेपाल स्ट्रैटजी फॉर सरवाइवल, आक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1991

शोध आलेख की पद्धति

प्रस्तुत शोध-आलेख के लेखन में ऐतिहासिक पद्धति तथा वस्तु-विश्लेषणात्मक पद्धति का प्राथमिक रूप में प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष

अबतक के विवेचन एवं विशद् अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत सर्वदा अपने राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति चिन्तित रहा है, परन्तु इसके साथ ही साथ विश्व शांति एवं सौहार्द को भी महत्वपूर्ण माना है। वस्तुतः भारत के द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को पृथक् न मानकर उसे सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा से जोड़ा गया है। भारत का निःशस्त्रीकरण पर उचित दृष्टिकोण है तथा हमेशा यह विश्व शांति के लिए गठित एवं कार्यरत अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को सहयोग दिया है। वर्ष 1998 के बाद भले ही इसने परमाणु बम बना लिया है, परन्तु अभी भी पूर्णतः निःशस्त्रीकरण की जोरदार माँग करता है। भारत की परमाणु नीति में भी सामूहिक सुरक्षा और विश्व शांति की भावना सन्निहित हैं, यह अलग बात है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की भी उसमें चिन्ता है। ऐसी चिन्ता स्वाभाविक भी है। भारत विश्व का एक लोकतांत्रिक एवं उत्तरदायी देश है तथा इस बात की झलक भारत की सामरिक रणनीति और परमाणु नीति में भी दृष्टिगोचर होती है।

सन्दर्भ-सूची

1. सुमित गाँगुली (2002), कनफ्लिक्ट अनएन्डिंग : इण्डिया-पाकिस्तान टेंशन्स सिन्स 1947 (नई दिल्ली : ऑक्स्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृष्ठ 71
2. पर्कोविच, 'वॉट मेक्स द इण्डियन बॉम्ब टिक्क?', पृष्ठ 177-78
3. पर्कोविच, 'वॉट मेक्स द इण्डियन बॉम्ब टिक्क?', पृष्ठ 34
4. भरत कर्नाड (2002), न्यूक्लियर विपन्स एंड इण्डियन सिक्यूरिटी : द रियलिस्ट फाउन्डेशन्स ऑफ स्ट्रैटजी (नई दिल्ली : मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड), पृष्ठ-गगगपप
5. अनुच्छेद-352, भाग-18 भारतीय संविधान
6. पर्कोविच के अनुसार, सन् 1982 में इंदिरा गाँधी ने वैज्ञानिकों के निवेदन पर एक परमाणु परीक्षण को अधिकृत किया, किंतु 24 घंटों के भीतर उन्होंने अपने निर्णय को बिना किसी स्पष्टीकरण के पलट दिया; 'वॉट मेक्स द इण्डियन बॉम्ब टिक्क?' पृष्ठ 36
7. एस० पॉल कपूर (2007), डेन्जरस डिटर्रेन्टः न्यूक्लियर विपन्न प्रोलिफरेशन एंड कनफ्लिक्ट इन साउथ एशिया (स्टैनफोर्ड, कैलिफोर्निया: स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृष्ठ-99
8. तथैव
9. दिनशॉ मिस्त्री (2003) 'द अनरियलाइज्ड प्रॉमिस ऑफ इंटरनैशनल इंस्टीटयूशन्स : द टेस्ट बैन ट्रीटी एंड इण्डियाज न्यूक्लियर ब्रेकआउट', सिक्यूरिटी स्टडीज, 12(4), पृष्ठ 116-51
10. कोहेन, इण्डिया, पृष्ठ 173
11. तथैव, पृष्ठ 174
12. ऐशली जे० टेल्लिस (2003), 'टुवॉर्ड्स अ "फर्स-इन-बीइंग": द लॉजिक, स्ट्रक्चयर एंड युटिलिटी ऑफ इण्डियाज इमर्जिंग न्यूक्लियर पोश्चर', सुमित गाँगुली (सं०), इण्डिया एज़ इन इमर्जिंग पावर (लंदन:फ्रैन्क कैस पब्लिशर्स) में, पृष्ठ 61-108
13. डॉ० पुष्पेश पंत, श्रीपाल जैन एवं राखी पंचौली, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृष्ठ 402 और 403
14. तथैव

समाजशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा और हिन्दी साहित्य

डॉ० संजय कुमार सिंह

पी०एच०-डी० (JNU)

साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन की शुरुआत बीसवीं शताब्दी में हुई। ऐसा नहीं है कि इसके पहले साहित्य का संबंध समाज से नहीं था किंतु समाजशास्त्रीय अध्ययन जैसी कोई परंपरा नहीं थी। 'साहित्य का समाजशास्त्र' के संस्थापक के रुप में एलिजाबेथ टायबर्न्स ने फ्रेंच विदुशी 'मैडम द स्टेल' का नाम प्रस्तुत किया है। मैडम ने सर्वप्रथम साहित्य पर धर्म और कानून के प्रभाव का निरीक्षण किया था। मैडम द स्टेल के बाद एच. तेन पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने समाजशास्त्र और आलोचना को संबद्ध करने का प्रयास किया। वस्तुत: बीसवीं शताब्दी में साहित्य का समाजशास्त्र एक पृथक शाखा के रुप में अस्तित्व ग्रहण कर अपने स्वरुप और प्रकृति निर्धारण हेतु प्रयत्नशील हुआ। यहीं से साहित्यिक मूल्यांकन का आधार बाह्य कारकों से हटकर कृति और उसकी संरचना के अध्ययन पर केन्द्रित हो गया। यहीं से आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ। इसी के आसपास से हिन्दी साहित्य में भी समाजशास्त्रीय आलोचना के उत्स दिखाई देने लगे थे। यह अलग बात है कि इसका विस्तार काफी देर से हुआ।

किसी भी समाज में परिवर्तन सामाजिक चेतना के आने से आता है और सामाजिक चेतना नवीन विचारधाराओं, प्रवृत्तियों एवं संस्कृतियों के संपर्क में आने पर आती है। ''उनमें नैतिक प्रवृत्तियों के विकास, अवसान और संघर्ष के द्वन्द्व से सामाजिक चेतना की अक्षुण्ण धारा निरंतर प्रवाहमान होती रहती है। इस विकास क्रम में व्यक्ति की सत्ता और उसकी चेतना घुल-मिलकर अजस्र सामूहिकता का रुप धारण कर लेती है।"[1] सामाजिक चेतना का मूल कार्य रूढ़िग्रस्त समाज और कुंठाग्रस्त लोगों के जीवन में आशा, प्रेरणा, जिजीविषा का संचार करना है। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज 'सामाजिक चेतना' संपन्न रहा है। वहां प्रत्येक व्यक्ति का कार्य 'बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय' की भावना से प्रेरित होता था। चेतना का अर्थ ही है, जो जड़ नहीं, परिवर्तनशील एवं गतिमान हैं। चेतना का एक अन्य अर्थ ज्ञान के संदर्भ में है। जब व्यक्ति किसी सामाजिक उद्देश्य के लिए ज्ञान का संचय करता है, तब यह जागृत भाव सामाजिक चेतना कहलाती है। इस चेतना को जागृत करने में मत, वाद, सिद्धांत, साहित्यिक कृति, घटना विशेष का मुख्य योगदान रहता है।

साहित्य कभी भी समाज में हो रहे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक संघर्ष से अछूता नहीं रह सकता। जिस संघर्ष को रचनाकार स्वयं प्रतिपल भोग रहा होता है, उसे वह अपनी संवेदना से दूर कैसे रख सकता है। अत: साहित्यकार प्रयासपूर्वक सामाजिक चेतना से समन्वित रचनाओं का निर्माण नहीं करता, बल्कि वह अनायास सहज रुप से रचना का अंग बन जाती है। 'साहित्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति है, समष्टि के लिए। वह किसी आदेश पर लाखों हाथों का एक हाथ की तरह उठ जाना नहीं है, वह तो किसी अन्त:करण का हजारों लाखों अन्त:करण में एक हो जाना है।'[2]

चूंकि साहित्य समाज के उत्थान-पतन की गाथा है। समाज की विकास प्रक्रिया साहित्य की समस्त विधाओं में अंकित होती है। अत: युगचेता साहित्यकार जनसाधारण के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं को आधार बनाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि प्रत्येक घटना या समस्या का विश्लेषण सामाजिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में करती है तथा वह घटनाओं और समस्याओं के पारस्परिक संबंधों के फलस्वरुप होने वाले परिवर्तनों पर भी नजर रखती है।

हालांकि प्रत्येक संबंध को सामाजिक संबंध नहीं माना जा सकता। किन्तु पारस्परिक प्रतीक से जो क्रिया-प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उससे सामाजिक संबंधों का उद्भव होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि इन्हीं सामाजिक संबंधों तथा समाज में होने वाली क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, परिवर्तनों, प्रकार्यों आदि का विवेचन-विश्लेषण करती है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि साहित्यिक समीक्षा का एक रुप है। इसके अन्तर्गत कला नियमों को वरीयता दी जाती है तथा इस बात पर बल दिया जाता है कि साहित्य को एक सामाजिक निर्मिति के रुप में देखा-परखा जाए। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह का कथन दृष्टव्य है- ''साहित्य के इतिहास में भौतिकवाद का प्रयोग करते समय ऐतिहासिकत्र भौतिकवाद की पहली चेतावनी यह है कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला की भांति साहित्य के भी अपने नियम हैं। इसलिए उन नियमों की जानकारी पहले होनी चाहिए।"[3] समाजशास्त्रीय अध्ययन दृष्टि साहित्य एवं कला के सौन्दर्य का विश्लेषण समूची ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत करती है। यह दृष्टि साहित्य को मात्र आस्वाद अथवा उपभोग की वस्तु न मानकर एक सामाजिक कर्म मानती है और इसे इसी रुप में देखने दिखाने का प्रयास करती है। संक्षेप में साहित्य एवं कला-सौन्दर्य दोनों ही जीवन सापेक्ष है और समाजशास्त्रीय दृष्टि उन्हें इसी रुप में विश्लेषित करती है।

वस्तुत: साहित्य बाह्य जीवन से प्रेरित एवं संचालित होता है। उसकी समाजबद्धता और जीवन सापेक्षता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साहित्य का समग्र विश्लेशण करने वाली समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य को साहित्य के भीतर से विश्लेषित करने वाली एकांगी दृष्टि का निषेध करती है। साहित्य की स्वयत्तता के साथ-साथ यह कला नियमों को वरीयता प्रदान करती है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का कथन दृष्टव्य है- ''जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक, मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते हैं, वे समूची मानव सत्ता के प्रति अनुभूति न रख सकने के अपराधी तो हैं ही, साहित्य के मूलभूत तत्व उनके मानवीय अभिप्राय तथा मानव विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान, अर्थात् दूसरे शब्दों में, साहित्य के स्वरुप विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी हैं।"[4] इसी के साथ उन्होंने दूसरे पक्ष को भी सावधान किया है कि 'मात्र ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय परिवेश को महत्व देकर साहित्य के सौन्दर्यात्मक- मनोवैज्ञानिक पक्ष की अवहेलना करना एक तरह की एकांगिकता या अतिवाद है। वस्तुत: साहित्य-विश्लेषण एक ही प्रकार का हो सकता है और इसलिए जरुरी है कि साहित्य-विश्लेषण के समाजशास्त्रीय दृष्टि को कुत्सित समाजशास्त्र की दिशा में बढ़ने से रोका जाए। उसकी परिधि में ही साहित्य तथा कला के स्वायत्त संसार तथा कला नियमों की आवश्यकता को अन्तर्भूत किया जाए। इस प्रकार उसे वह रुप दिया जाए जो उसका वास्तविक स्वरुप है।"[5]

इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि साहित्य विश्लेषण की यह समाजशास्त्रीय दृष्टि आज तक स्वतंत्र सौन्दर्यशास्त्र के रुप में स्थापित हो चुकी है। इसमें इतिहास बोध तथा समाज-बोध के साथ साहित्य की कलात्मक सत्ता की भी खरी पहचान है। इसकी अहम उपलब्धि यह है कि इसने जीवनमूल्यों के बीच की खाई को पाट दिया है। इसी कारण यह परम्परागत तथा समकालीन दूसरी सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं से इसी मायने में विशिष्ट है।

वर्तमान हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में मुख्यत: चार समीक्षा पद्धतियां प्रचलित हैं-व्यक्तिवादी, मनोविश्लेषणवादी, रुपवादी और समाजशास्त्रीय। व्यक्तिवादी, मनोविश्लेषणवादी और रुपवादी समीक्षा की अनुगूंज साहित्य में यत्र-तत्र सुनाई देती रही है। लेकिन इनमें समग्रता का अभाव है, जिसके कारण इनको बहुत अधिक महत्व नहीं मिला। एक समय विशेष के बाद इनका प्रभाव क्रमश: घटने लगा। लेकिन समाजशास्त्रीय समीक्षा अपनी व्यापक एवं संतुलित दृष्टि के कारण साहित्य की सम्पूर्ण सत्ता का बोधा कराने में सक्षम रही है। जिसके कारण इसका महत्व निरंतर बढ़ रहा है। असल में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों के विश्लेषण के अभाव में किसी भी रचना के अन्त:स्वरुप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। जब यह कहा जाता है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिंब है तो समीक्षक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसका तटस्थ हो मूल्यांकन करे। सही गलत की पहचान वास्तविक जीवन के संवेदनात्मक स्तरों से जुड़कर समीक्षा को ऊँचा उठाती है और यह पहचान जीवन के वास्तविक अनुभवों की गहराई में उतरे बिना संभव नहीं है। सबसे पहले यह कार्य 'मार्क्सवादी साहित्य और कला चिंतकों ने किया। उन्होंने पहली बार साहित्य एवं कला को समस्त लोकोत्तर प्रभावों और व्याख्याओं से मुक्त करके मानवीय और लौकिक संदर्भो में विश्लेषित करने का प्रयास किया। साहित्य एवं कला को विशुद्ध मानवीय सृजन स्वीकार करते हुए, उसकी निर्मिति एवं उपकरणों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने-दिखाने का प्रयास किया। साहित्य एवं कला के मूल्यांकन के सामाजिक प्रतिमान प्रामाणिक अनुभव पर आधारित हैं। संक्षेप में समाजशास्त्रीय विश्लेषण को पुष्पित-पल्लवित करने वाले समस्त सूत्र मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में समाहित हैं।'[6]

अब सवाल यह उत्पन्न होता है कि साहित्य-समीक्षा के विशुद्ध साहित्यिक प्रतिमान साहित्य को उसकी समग्रता में उसकी अर्थवत्ता को उद्घाटित करने में कहां तक समर्थ हैं। धर्म, दर्शन, राजनीति, नैतिकता आदि को विजातीय घोषित कर विशुद्ध साहित्यिक

प्रतिमानों पर बल देने वाली समीक्षा पद्धति इसका सटीक उत्तर नहीं दे पाती है। इस सिद्धांत में निर्मला जैन कहती हैं कि, ''स्पष्ट है कि साहित्य में सौन्दर्य बोध का निर्णय भी भावबोध और संदर्भ पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में साहित्य को समस्त अनुषंगों से काटकर, शुद्ध साहित्यिक मूल्यों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करने का दावा विडंबना ही है।''[7] इसी प्रसंग में डॉ० नामवर सिंह का मत है कि ये नितांत शुद्ध कलावादी धाारणाएं एक विशेष प्रकार की अर्थव्यवस्था की देन हैं और एक निश्चित समाज-व्यवस्था के नियमों के अंतर्गत उत्पन्न और प्रचलित हुई हैं।'[8] विशुद्ध साहित्यिक मूल्यों पर आधारित समीक्षा पद्धति के अक्षम होने का मूल कारण यह है कि उसने स्वयं को एक सीमित दायरे में आबद्ध कर लिया था। समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्य को इस सीमित दायरे से मुक्त कर सामाजिक जीवन के व्यापक संदर्भों से जोड़ता है। साहित्य की सही समझ के लिए हमें समाज में खड़े होकर देखने की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति समाजशास्त्रीय आलोचना करती है जो अपने व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि के कारण विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा-पद्धतियों से भिन्न हो जाती हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन अपनी क्रमबद्ध और समग्र दृष्टि के कारण साहित्य और उसके सामाजिक स्रोतों, उसकी सूक्ष्म सामाजिक अन्तर्वस्तु को उद्घाटित करता है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन की अनेक भ्रामक व्यवस्थाओं के कारण उस पर कई निराधार आरोप लगाए गए हैं। इनमें से प्रमुख हैं कि साहित्यिक समीक्षा की यह समाजशास्त्रीय दृष्टि कला और साहित्य की स्वायत्तता और उसके आंतरिक नियमों की अवमानना करती है, लेकिन वास्तविकता यह है कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण साहित्य की स्वायत्तता को मद्देनज़र रखते हुए कला-नियमों को वरीयता प्रदान करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि साहित्य को एक सामाजिक निर्मिति के रुप में देखा-परखा जाए।

यहां डॉ० नामवर सिंह की चेतावनी स्मरणीय है कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला की भांति साहित्य के भी अपने नियम हैं, जिनकी जानकारी पहले होनी चाहिए। अत: स्पष्ट है कि साहित्य एवं कला की स्वायत्तता को समाजशास्त्रीय दृष्टि पूरी तरह स्वीकारती है परंतु वह इस स्वायत्तता को जीवन निरपेक्ष न मानकर जीवन सापेक्ष मानती है। चूंकि साहित्य जीवन से प्रेरित और संचालित होता है, इसलिए उसकी समाज सम्बद्धता और जीवन सापेक्षता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही मुक्तिबोध ने समाजशास्त्र के सिद्धांतों पर बल न देकर सामाजिक जीवन के संदर्भ में कृति के मूल्यांकन पर अधिक बल दिया है। उन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययन को समाजशास्त्र के रूढ़ नियमों से मुक्त कर, उसे सामाजिक जीवन की गहराई में उतार कर साहित्य के स्रोतों और समूचे मानव परिवेश के उद्घाटन पर बल दिया है। वस्तुत: साहित्य के विवेचन विश्लेषण के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति की आवश्यकता है, न कि समाजशास्त्र के सिद्धांतों की।

समाजशास्त्रीय अध्ययन ने आलोचना के क्षेत्र में नवीन वैज्ञानिक दृष्टि, नवीन सौन्दर्यबोध, एवं नवीन सामाजिक संवेदनशीलता का समावेश किया है। ज्यों-ज्यों साहित्य में जीवन का आग्रह बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि अधि क व्यापक होती जा रही है। समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्य को उदात्त लोकमंगल की भावना से समन्वित कर सामाजिक जीवन की भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। समाजशास्त्रीय अध्ययन रचना के सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन पर विशेष बल देता है। यही कारण है कि आज अधिकांश समाजशास्त्रियों का यह मत है कि साहित्य का अध्ययन सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों के परिवेश में होना चाहिए, क्योंकि साहित्य बा]य परिस्थितियों के संश्लिष्ट प्रभाव की प्रतिक्रिया है।

वस्तुत: समाजशास्त्रीय अध्ययन उस केन्द्रीय बिंदु पर पहुंच कर अपनी सार्थकता सिद्ध करता है जिसमें कथा वस्तु की सर्जना सामाजिक जीवन के विविध राग-रंगों से हुई हो तथा इसकी सटीक परख सामाजिक प्रतिमानों में ही हो सकती है। कुल मिलाकर विकास के लम्बे और कठिन दौर से गुजरते हुए साहित्य विश्लेषण की यही पद्धति आज एक भरे-पूरे सौन्दर्यशास्त्र में रुपायित हो गई है, जो परंपरागत अथवा समकालीन दूसरी सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं से इस मायने में विशिष्ट है कि इसमें इतिहासबोध तथा समाज बोध के साथ साहित्य की कलात्मक सत्ता की भी खरी पहचान है।'[9] साहित्य एवं कला की जीवन्त परख सही ढंग से सामाजिक संदर्भों में ही हो सकती है और समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति इसी तथ्य की पूर्ति करती है। जिस प्रकार मानव जीवन विविधता का समुच्चय है, उसी प्रकार समाजशास्त्रीय आलोचना का क्षेत्रभी अत्यंत व्यापक है। इसीलिए समाजशास्त्रीय अध्ययन के अनेक सूक्ष्म पक्ष हो सकते हैं। सामाजिक जीवन की तरह इस पद्धति की सुनिश्चित रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती। इसलिए सामाजिक जीवन के जितने पहलू संभव हो सकते हैं, उतने ही इस पद्धति के भी संभव हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. हिन्दी साहित्य : सामाजिक चेतना, डॉ० रत्नाकर पाण्डेय, पृष्ठ-159
2. साहित्य और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया - सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृष्ठ-83
3. इतिहास और आलोचना - डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ-183
4. नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - गजानन माधव 'मुक्तिबोध' - पृष्ठ-112
5. वही, पृष्ठ-140
6. रेणु के कथा साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन - डॉ० जोगेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-53
7. आलोचना (पत्रिका) - डॉ० निर्मला जैन, जुलाई-सितम्बर, 1971
8. वही, अक्टूबर-दिसम्बर-74, पृष्ठ-4
9. साहित्य और सामाजिक संदर्भ - डॉ० शिव कुमार मिश्र, पृष्ठ-28

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता

डॉ० संजय कुमार

एम०ए०, पी-एच०डी० (राजनीति विज्ञान), गेस्ट फैक्लिटी, राजनीति विज्ञान विभाग,
पटना कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध आलेख का सार

भारत का संविधान भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करता है। भारतीय संविधान के भाग-3, अनुच्छेद-25 से 28 द्वारा सभी व्यक्तियों को, वे चाहे विदेशी हों या भारतीय हों, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-35 के अनुसार, प्रत्येक को अपने अन्त:करण एवं मान्यता के अनुसार किसी भी धर्म को अबाध रूप में मानने, उपासना करने और उसके प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गई है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-26 के द्वारा सभी धर्मों के अनुयायियों को धार्मिक एवं दान देने वाली संस्थाओं की स्थापना और उनके संचालन, धार्मिक मामलों के प्रबन्धन, धार्मिक संस्थाओं द्वारा चल एवं अचल सम्पत्ति अर्जित करके राज्य के कानून के अनुसार प्रबन्ध करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई हैं। भारतीय संविध ान के अनुच्छेद-27 के अनुसार, कोई धर्म विशेष की उन्नति के लिए कर या चन्दा देने के लिए स्वतंत्र है, परन्तु किसी नागरिक को कर देने हेतु बाध्य नहीं किया जा सकता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-28 के द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया जाता है, जो धार्मिक क्षेत्र में निष्पक्ष रहता है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि किसी राजकीय शिक्षण संस्था में किसी ध र्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती है, परन्तु सरकार द्वारा मान्यता एवं सहायता प्राप्त व्यक्तिगत शिक्षण संस्थाएँ, जो गैर-सरकारी ध न से स्थापित हुई हैं, में धार्मिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है, परन्तु ऐसी संस्थाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को उस धार्मिक शिक्षा या उपासना-प्रार्थना में भाग लेने के लिए के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। भारतीय संविधान भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करता है, परन्तु धार्मिक कट्टरता एवं धार्मिक संकुचन की भावना को प्रतिबंधित करने हेतु राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य से सार्वजनिक हित में सरकार द्वारा इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है तथा आर्थिक, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत धर्मनिरपेक्षतावाद की अवधारणा को स्वीकार किया गया है इस अवधारणा को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए 42वें संविधान संशोधन, 1976 द्वारा प्रस्तावना के अन्तर्गत तीन शब्दों में 'पंथनिरपेक्ष' शब्द को जोड़ दिया गया है। स्पष्टत: मूल भारतीय संविधान में भी भारत में धर्मनिरपेक्ष अवधारणा को स्वीकार किया गया था और बाद के दिनों में भी इस मान्यता को अधिक प्रभावी बनाने के लिए 'पंथनिरपेक्ष' शब्द को स्वीकार किया गया है।

मूल शब्द: सामाजिक न्याय, समाजवाद, पंथनिरपेक्षता, धर्मनिरपेक्षता, संसदीय शासन, संघवाद, न्यायिक पुनर्वालोकन, गणतंत्र, लोकतंत्र।

प्रस्तावना

भारतीय संविधान की एक आधारभूत मान्यता धर्मनिरपेक्षता है। भारत प्रजातांत्रिक तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य है। 42वें संविधान संशोधन, 1976 के द्वारा संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को प्रभावी बनाने के लिए पंथनिरपेक्षता शब्द का प्रयोग किया गया। धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को भारतीय संविधान में बेहतर रूप में समझा जाए, उसके पूर्व इसके तात्पर्य को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। 'धर्म निरपेक्ष' (Secular) शब्द का अर्थ उससे है, जो 'आध्यात्म से विलग हो, धार्मिक या आध्यात्मिक विषयों से असम्बद्ध हो या कोई भी ऐसी वस्तु हो जो धार्मिक वस्तुओं से पृथक् हो या आध्यात्मिक या धर्म संबंधी

मामलों के विपरीत सांसारिक हो।' ऐरिक एस० वाटरहाऊस (Eric S. Waterhouse) के अनुसार, ''धर्मनिरपेक्षवाद (Secularism) धर्म द्वारा प्रस्तुत धारणाओं के विपरीत, जीवन व आचरण की धारणा का दर्शन है।" एक इंग्लिश शब्दकोश (A New English Dictionary) के अनुसार, 'धर्म निरपेक्षता से आशय धर्म के साथ किसी भी प्रकार के संबंधों से अभाव है।' धर्म निरपेक्ष साहित्य का तात्पर्य ऐसे साहित्य से है, जो धार्मिक उपासना से असंबंधित अथवा उसके प्रति असमर्पित हो, इसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष शिक्षा से तात्पर्य ऐसे पाठ्यक्रम से है, जिसमें धार्मिक शिक्षा न हो, और एक धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण वह है जहाँ सामान्य जन-जीवन के प्रमुख क्षेत्रों से धर्म को पृथक् करने की प्रगतिशील चेष्टा हो। सरल व सहज शब्दों में, "धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय राज्य व धर्म का पृथक्करण है।" स्पष्ट रूप में "यह विचार अपनी प्रवृत्ति से भौतिकवादी है और यह प्रतिपादित करता है कि मानव का विकास केवल भौतिक साधनों द्वारा संभव है।" स्मिथ ने इसकी यह परिभाषा दी है, "धर्मनिरपेक्ष राज्य ऐसा राज्य है जो व्यक्तिगत व सामूहिक रूप से धर्म स्वतन्त्रता की सुरक्षा करता है, व्यक्ति को किसी धार्मिक भेदभाव के बिना एक नागरिक के रूप में देखता है, संवैधानिक दृष्टि से किसी धर्म विशेष से असंयुक्त रहता है। यह किसी धर्म के प्रसार में सहायक या बाधक नहीं होता। सूक्ष्म परीक्षण से यह देखा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा में तीन विभिन्न, परन्तु अन्तः सम्बन्धित सम्बन्धों के स्तर-राज्य, धर्म एवं व्यक्ति-निहित है।"

धर्मनिरपेक्षवाद का विचार संविधान की आधार संरचना में देखा जा सकता है। इसका प्राथमिक प्रमाण हमें प्रस्तावना (Preamble) में देखने को मिलता है, जिसका विस्तृत दिग्दर्शन समानता व धर्म संबंधी विभिन्न मौलिक अधिकारों (Fundamental Rights) के प्रावधानों में भी मिलता है। भारतीय संविधान में निहित धर्मनिरपेक्षवाद की धारणा उन सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका गाँधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस दल ने दृढ़ता से वरण किया। यह स्थिति दिखाती है कि भारतीय संविधान ने देश को विभाजित करने वाले जिन्ना के द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के पाप को धोने का सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया है। अस्तु, एक वरिष्ठ सदस्य आयंगार ने 7 दिसम्बर, 1948 को संविधान सभा में कहा, 'हम राज्य को धर्मनिरपेक्ष बनाने के लिए कृत-संकल्पित हैं। मेरा 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द से तात्पर्य किसी भी धर्म को न मानने और दैनिक जीवन में उससे कोई सम्बन्ध न रखने से नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि राज्य या सरकार किसी भी धर्म की सहायता नहीं करेगी या किसी धर्म को अन्य वर्गों के विरुद्ध प्राथमिकता नहीं देगी। अतः शासन अपनी प्रकृति से पूर्णतया धर्मनरिपेक्ष ही रहेगा।' संविधान की धर्मनिरपेक्षता के प्रमाण निम्नलिखित उपबन्धों में दृष्टिगोचर होते हैं:

1. प्रस्तावना में कहा गया है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है तथा यह सभी नागरिकों की विभिन्न स्वतन्त्रताओं (जैसे विश्वास, आस्था एवं उपासना की स्वतन्त्रता) के सम्बन्ध में प्रतिभूत करता है।
2. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-14 के अनुसार, राज्य भारत की सीमाओं के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता तथा कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।
3. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-15 के अनुसार, राज्य किसी व्यक्ति के साथ उसकी नस्ल, धर्म व जाति के आधार पर विभेद नहीं करेगा। आगे यह प्रावधान भी किया गया है कि धर्म, जाति व नस्ल आदि के आधारों पर किसी भी नागरिक को दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, जलपानगृहों, मनोरंजन स्थलों आदि में प्रवेश करने पर या राज्य के कोष द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप से सहायता प्राप्त, कुओं, तालाबों, सड़कों व सार्वजनिक विश्राम स्थलों के उपयोग पर कोई बाध्यता या अयोग्यता लागू नहीं की जा सकेगी।
4. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-16 के अनुसार किसी नागरिक को धर्म, जाति या नस्ल के आधार पर सार्वजनिक सेवाओं के लिए आयोग्य व अपात्र घोषित नहीं किया जाएगा और नहीं राज्य द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप से सहायता प्राप्त किसी शैक्षिक संस्था में प्रवेश से वंचित किया जाएगा।
5. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-17 के अनुसार, छुआछूत समाप्त कर दी गई है और किसी भी रूप में इसका पालन वर्जित है। अस्पृश्यता के आधार पर किसी प्रकार की अयोग्यता को लागू करना कानून के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध होगा।
6. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-25 के अनुसार, सभी व्यक्ति समान तौर से विश्वास या धर्म की स्वतंत्रता के अधिकारी हैं और उन्हें अपनी पसंद के किसी धर्म के पालन, आचरण, व शान्तिपूर्ण तरीकों से उसका प्रचार करने का अधिकार है।
7. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-26 के अनुसार, प्रत्येक धार्मिक समुदाय व उसका कोई सम्प्रदाय धर्म व कल्याण संबंधी कार्यों के लिए अपनी संस्थाओं की स्थापना व संचालन करने का अधिकारी है व धार्मिक कार्यों को स्वयं संचालित करने,

उसकी चल व अचल सम्पत्ति के स्वामित्व व अधिग्रहण करने तथा कानून के अनुसार अधिशासित करने के अधिकारी है।

8. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-27 के अनुसार, कोई व्यक्ति ऐसे करों का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जिनसे प्राप्त आय किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विनियुक्त है।
9. भारतीय संविधान अनुच्छेद-28 के अनुसार, राज्य द्वारा आंशिक या पूर्णरूप से सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षा संस्थानों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य रूप से नहीं दी जाएगी।
10. भारतीय संविधान के अनुच्छेद-29 के अनुसार, राज्य किसी समुदाय या सम्प्रदाय की संस्तुति के अतिरिक्त उस पर अन्य संस्कृति नहीं थोपेगा और सभी समुदायों या सम्प्रदायों को स्वेच्छा से अपनी शिक्षण संस्था स्थापित करने व उन्हें संचालित करने का अधिकार होगा। शैक्षिक संस्थानों को अनुदान देने में राज्य किसी विद्यालय के प्रति इस आधार पर भेद नहीं करेगा कि वह संस्था किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा संचालित हो रही है व किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रबन्ध के अन्तर्गत संचालित है।

भारतीय संविधान के उपर्युक्त सभी प्रावधान दृढ़तापूर्वक यह घोषित करते हैं कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। जैसा डी०डी० बसु ने कहा है, उपर्युक्त प्रावधान समग्र रूप से भारतीय राज्य को संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक धर्मनिरपेक्ष बनाते हैं।

राजनीति के धर्म से स्पष्टत: विलग होने के सिद्धान्त पर भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद आधारित है, फिर भी, गहन अध्ययन करने पर इसकी तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित रूप में दृष्टिगोचर होती है:

1. यह उदारवादी है, जबकि भारत एक मुख्यत: हिन्दू देश है, संविधान द्वारा सभी लोगों को न केवल धार्मिक स्वतंत्रता और समानता प्रदान की गई है, वरन् विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों के आवश्यक अधिकारों और विशेषाधिकारों को भी संरक्षित किया गया है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान के भाग-3, अनुच्छेद-25 में यह कहा गया है कि व्यक्ति किसी धर्म का पालन या आचरण व उसका प्रचार कर सकता है। ईसाई समाज के लिए 'प्रचार' शब्द का बहुत महत्त्व है जो इसमें विश्वास रखते हैं। धर्मान्तरण के लिए मिशन द्वारा चलाए जाने वाले आन्दोलन राज्य द्वारा बाधित नहीं होंगे। अत: संविधान में यह स्वीकार कर लिया गया है कि जब तक धर्म, धर्म है, अपनी अन्तरात्मा की आवाज से धर्मान्तरण करने की मान्यता भी है। इसी प्रकार, कृपाण का धारण करना व साथ रखना सिख धर्म के पालन का एक अंग माना जाएगा।
2. भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद निर्बाध नहीं है। धार्मिक स्वतंत्रता सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और जन स्वास्थ्य की दृष्टि से परिसीमित की जा सकती है। अनुच्छेद -25 के अनुसार, "सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता तथा जन-स्वास्थ्य के नियमों के अधीन रहते हुए सभी नागरिकों को अन्त:करण तथा धर्म को अबाध मानने, आचरण तथा प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्र होगी।" भारतीय धर्म निरपेक्षवाद के सिद्धान्त में लोगों की बढ़ती सामाजिक व नैतिक जागरूकता के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। दूसरी ओर, यह निर्धारित करने का अधिकार न्यायपालिका पर छोड़ दिया गया है कि वह देखे कि राज्य द्वारा अनुच्छेद-25 के अनुसार आत्मा की स्वतंत्रता पर जो प्रतिबन्ध लगाए हैं वे संविधान में निहित धर्मनिरपेक्ष धारणा के अनुकूल है अथवा नहीं।
3. भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद धर्म को राज्य के क्षेत्र से पृथक् ही नहीं करता, वरन् साम्प्रदायिकता से मुकाबला करने के लिए वह आगे भी बढ़ा है। इसीलिए, भारतीय संविधान के अनु०-17 द्वारा किसी भी प्रकार से अस्पृश्यता के आचरण पर पाबन्दी लगी है। इस उपलब्धि को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए 1955 में सरकार द्वारा अस्पृश्यता अपराध अधिनियम (Untouchability Offences Act) बनाया गया। यद्यपि संविधान या किसी अधिनियम में कहीं भी 'अस्पृश्यता' शब्द की व्याख्या नहीं की गई है, फिर भी सामान्य तौर पर इस शब्द का आशय ऐसी सामाजिक परम्परा से हैं, जिनमें कुछ दलित वर्गों को उनके जन्म के आधार पर नीचा देखा जाता है और उन्हें तथाकथित ऊँची जातियों या वर्गों से किसी प्रकार के सम्बन्ध रखने से वंचित किया जाता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत अस्पृश्यता का व्यवहार अग्रलिखित स्थितियों में माना जाता है, जैसे सार्वजनिक संस्थाओं में किसी के प्रवेश पर निषेध, सार्वजनिक पूजागृहों में पूजा या प्रार्थना करने से किसी को रोकना, और किसी व्यक्ति को किसी दुकान, सार्वजनिक भोजनालय, होटल या मनोरंजन केन्द्र में जाने से रोकना। इस कानून के अनुसार, अस्पृश्यता को एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। इस गतिशील धर्मनिरपेक्षतावादी व्यवस्था के कारण भारत में न केवल सार्वजनिक संस्थाओं के प्रवेश में पिछड़े व दलित वर्गों के लोगों के लिए विशेष स्थानों को सुरक्षित रखा जाता है, वरन् सार्वजनिक नौकरियों व निर्वाचन में भी स्थान सुरक्षित कर दिए जाते हैं। भारत में कमजोर

वर्गों के विकास के लिए विशेष सुविधायें दी जाती है। केन्द्रीय व राज्यों के मंत्रीमण्डलों में अल्पसंख्यक समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। भारत की व्यवस्थापिका सभाओं व न्यायिक संस्थाओं में भी इसी प्रवृत्ति का पालन होता है।

भारतीय धर्म-निरपेक्षवाद का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि हमारे धर्मनिरपेक्षवाद का नमुना मध्य युग में पाए जाने वाले सनातनी नमूने से भिन्न है अर्थात् हमारी व्यवस्था किसी ऐसे नमूने से बहुत भिन्न है जिसमें राज्य सभी धर्मों के प्रति पूर्णतया तटस्थता व निष्पक्षता का दृष्टिकोण रखता है। पुराने विचारों के अनुसार, एक धर्मनिरपेक्ष राज्य इस विचार पर अधारित है कि 'व्यक्ति और भगवान का संबंध व्यक्तिगत अन्तरात्मा का मामला है।' पाश्चात्य विचारक जो धर्मनिरपेक्षवाद को मध्यकालीन चश्मे से देखते हैं, भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद की वास्तविक प्रकृति को समझने में असफल रहे हैं। इसलिए, वे भारत को 'एक विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं मानते हैं।'

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता तथा पंथनिरपेक्षता के मौलिक उद्देश्य एवं स्वरूप को स्पष्ट करना है। इस आलेख में धर्मनिरपेक्षता को संवैधानिक एवं वैधानिक दोनों रूपों में देखा गया है तथा इसके व्यापक परिप्रेक्ष्य एवं प्रभाव को अध्ययन का विषय बनाया गया है। शोध आलेख का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट व सर्वविदित है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक 'भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता' है। भारत दुनिया का एक महान लोकतंत्र इसलिए है कि यह गणतंत्रात्मक है तथा यहाँ धर्मनिरपेक्षता को राज्य ही नहीं व्यक्ति तक स्वीकार करने की संविधानवादी मांग सामने रखी गई है। राजनीतिक-प्रशासनिक प्रतिबद्धता धर्मनिरपेक्षता के प्रति रही है। शासन के द्वारा भी धर्मनिरपेक्षता को प्रभावी बनाने के लिए संविधान में संशोधन किया गया है तथा न्यायपालिका के द्वारा दिये गये निर्णय के अनुरूप यह अवधारणा संविधान की मूल ढांचा के अंतर्गत शामिल हो चुकी है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है तथा यह भविष्य में भी धर्मनिरपेक्ष बना रहे। शासन के वर्तमान कार्यों से धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पर किसी प्रकार की चोट नहीं दिख रही है तथा वर्तमान शासन वास्तविक अर्थ में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को प्रभावी बना रही है।

साहित्य सर्वेक्षण

भारतीय संविधान में प्रस्तावना पर अबतक अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन सम्पन्न हुए हैं। इस विषय पर साहित्य सर्वेक्षण का सामान्य अवलोकन अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए भी महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रस्तुत शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख साहित्य सर्वेक्षण किया है:

1. भारतीय संविधान- एक परिचय 'ब्रजकिशोर शर्मा, पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, प्रकाशन वर्ष 2015 (11वाँ संस्करण)।
2. भारतीय शासन और राजनीति, डॉ० अमरजीत सिंह नारंग, गीतांजली पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 1998
3. भारतीय शासन और राजनीति, डॉ० जे०सी० जौहरी और डॉ० आर०के० पूर्वार, विकास पब्लिकेशन, जालंधर एवं नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1988
4. भारत का संविधान, बसंती लाल बाबेल, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहाबाद, सोलहवाँ संस्करण, वर्ष 2019
5. भारतीय राज व्यवस्था, डॉ० जयप्रकाश शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, वर्ष 2000
6. राजनीतिक सिद्धान्त, डॉ० अशोक कुमार, नोवेल्टी एण्ड कम्पनी, पटना।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख के लेखन में ऐतिहासिक एवं वस्तु-विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है। शोध आलेख की तैयारी में पूर्व का साहित्य सर्वेक्षण का अवलोकन किया गया है, जिसके सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि इसमें तुलनात्मक पद्धति का भी आंशिक प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष

भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद प्रगतिशील राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए एक गतिशील व्यवस्था है। यह सामान्य काल में, न केवल धर्म और राजनीति को एक दूसरे से विलग रखती है, बल्कि असाधारण परिस्थितियों में सामाजिक सुधारों की आवश्यकता के लिए धर्म को राजनीति के अधीन भी बना देती है। संविधान साम्प्रदायिकता का हर स्तर पर, चाहे वह धार्मिक, जातिगत या प्रजातिगत या अन्य किसी रूप में हो, मुकाबला करने में सक्षम है। भारत की धर्मनिरपेक्षता के प्रगतिशील व गतिशील रुझान के प्रति सदस्यों द्वारा व्यक्त संदेह व भय को निराधार बताते हुए डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में बड़ी स्पष्टता से कहा कि "यह किसी के लिए सोचना असंभव है कि किसी सम्प्रदाय के निजी कानून राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर होंगे। अतः, राज्य का कोई समुदाय यह न सोचे कि वह संसद की सम्प्रभु सत्ता की सीमा से बाहर है।"

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. डी०डी० बसु, इन्ट्रोडक्शन टू द कॉन्सीट्यूशन ऑफ इंडिया, वॉल्यूम-VIII पृ०-112
2. डी०एन० बनर्जी : आवर फंडामेन्टल राइट्स, पृ० 273
3. तथैव, पृष्ठ-275
4. डी०डी० बसु, भारतीय संविधान, पृष्ठ-90
5. बसु, पूर्वोद्धृत, पृ०-108
6. अर्नेस्ट बार्कर, प्रिंसिपल ऑफ सोशल एण्ड पॉलिटिकल थ्योरी, पृ०-77

राष्ट्रीय सुरक्षा और भारत

डॉ० श्रीनिवास पांडेय

एम०ए०, पी०एच०-डी० (राजनीति विज्ञान), जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

शोध आलेख का सार

राष्ट्र-राज्य की अवधारणा के आगमन के साथ ही प्रत्येक राष्ट्र के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा महत्वपूर्ण एवं मार्मिक राष्ट्रीय हित के रूप में स्वीकृत रही है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत राष्ट्रीय सुरक्षा केन्द्रीय विषय रहा है तथा वैश्विक सन्दर्भ में अन्य राष्ट्रों की भाँति भारत में भी यह राजनीतिक व कूटनीतिक रणनीति की केन्द्रीय विषय बना रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले कारकों में राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय हित की अवधारणा पूरक रूप में सर्वोपरि हो गई है। विभिन्न राष्ट्रों तथा राष्ट्र-समूहों के बीच राजनीतिक, आर्थिक, वैचारिक एवं सामरिक, शक्ति-संतुलन तथा शस्त्रीकरण की प्रक्रिया के राष्ट्रीय सुरक्षा एक महत्वपूर्ण उपागम की तरह है। भारत की वैदेशिक नीति, आन्तरिक रणनीति तथा सभी संगठनात्मक गतिविधियों में राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रथम, अनिवार्य एवं प्राथमिक माना जाता है।

मूल शब्दः सामूहिक सुरक्षा, आतंकवाद, उपनिवेशवाद, वैदेशिक नीति, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, सामरिक रणनीति, क्षेत्रीय संगठन, कूटनीति, पड़ोसी नीति, गुजराल डॉक्टरीन

प्रस्तावना

राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा प्रत्येक काल व परिस्थिति में महत्वपूर्ण रही है, हालांकि प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) और द्वितीय विश्व (1939-45) के समय इसे गंभीरता से स्वीकार किया गया है। शीत युद्ध काल तथा उत्तर शीतयुद्ध काल में राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा विश्व समाज के सामने विचारणीय प्रश्न बन गया, जब परमाणु शस्त्रीकरण के कारण परमाणु युद्ध और तृतीय विश्व युद्ध की संभावना व्यक्त की जाने लगी। यह चिन्ता और भी बढ़ गई थी, जब वर्ष 1979 में पूर्व सोवियत संघ का अफगानिस्तान में हस्तक्षेप हुआ तथा नवीन शीत युद्ध का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। वर्ष 1990 के बाद सोवियत संघ के विघटनोपरान्त एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में अमरीकी प्रभुत्त्व ने भले ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामरिक पक्षों को कमजोर तथा आर्थिक पक्षों को महत्वपूर्ण बना दिया है, परन्तु अब भी राष्ट्रीय सरुक्षा की चिन्ता समाप्त नहीं हुई है। हाल के वर्षों में तो आतंकवाद ने भारत की ही नहीं, विश्व के अन्य शक्तिशाली देशों के सामने भी राष्ट्रीय सुरक्षा के सामने कई चुनौतियों को खड़ा कर दिया है।

भारत के लिए राष्ट्रीय हित में राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा महत्वपूर्ण है, जैसा कि अन्य देशों के लिए यह अवधारणा महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक प्रसिद्ध विद्वान आर०ई० ओसगर ने राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को पूरक तथा पयार्यवाची तक बताया है। उन्होंने राष्ट्रीय हित की प्राप्ति को ही राष्ट्रीय सुरक्षा मानते हुए कहा है कि "अनिवार्यतः प्रत्येक कीमत पर राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करने के दशढ़ संकल्प को ही राष्ट्रीय सुरक्षा कहते हैं। राष्ट्रीय हितों में निहित राष्ट्र की प्रादेशिक अखंडता, राजनैतिक स्वतंत्रता और सरकार की मूल संस्थाओं जैसे तत्वों में न केवल राष्ट्र की उत्तरजीविता अपितु उसकी सामर्थ्य भी समाविष्ट होती है।" राष्ट्रीय सुरक्षा शासकीय रणनीति का महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय विषय होता है तथा प्रत्येक राष्ट्र के समान भारत भी अपनी वैदेशिक नीति व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भागीदारी के माध्यम से इस अनिवार्यता को सुरक्षित रखना चाहता है। वस्तुतः राष्ट्र की आन्तरिक एवं बाह्य रणनीति में राष्ट्रीय सुरक्षा को ही केन्द्रीय रूप में देखा जा सकता है। स्पष्टतः राष्ट्रीय सुरक्षा

के सुदृढ़ ढाँचा (framework) के निर्माण हेतु सर्वप्रथम राष्ट्र की मार्मिक मूल्यों की पहचान तथा बाद में आंतरिक व बाह्य सुरक्षा के विभिन्न खतरों के स्वरूप एवं प्रकृति का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है। आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा कारक एक-दूसरे से सम्बद्ध होने के साथ-साथ एक दूसरे को प्रभावित (interact) भी करते हैं। जहाँ एक ओर विभिन्न बाह्य राजनैतिक, आर्थिक व सैनिक दबाव राष्ट्र की आंतरिक सुरक्षा व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, वहीं विभिन्न आंतरिक समस्याएँ बाह्य खतरों को जन्म देती है। यही कारण है कि सुदृढ़ सुरक्षा ढाँचें के निर्माण में सुदृढ़ अर्थ तंत्र, सैन्य क्षमता, राजनैतिक स्थिरता, सामाजिक सशक्ति तथा सुदृढ़ सांस्थानिक ढाँचा आदि कारक प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं।[1]

राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को निर्धारित एवं प्रभावित करने वाले कारकों में विचारधारा, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय मनोबल, सैनिक शक्ति आदि कारक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा में भले ही विचारधारा को द्वितीयक बताया जाये, परन्तु गुटनिरपेक्षता, पंचशील, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व भी एक प्रकार की विचारधारा ही है। कार, जिर्मन, बेकर, रसेल और शॅटबेल जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने विश्व शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को ही विचारधारा माना है, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण होता है।[2] राष्ट्रीय सुरक्षा एवं सुदृढ़ सैनिक तंत्र की स्थापना में विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान होता है।[3] वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह यथार्थ विचारधारा ही केन्द्रीय विषय है जो राष्ट्र के नागरिकों को एक-दूसरे के निकट लाने, एकता की भावनाओं को सुदृढ़ करने तथा राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु सब कुछ न्योछावर करने की भावनायें जागृत करती है। जबकि स्पष्ट विचारधारा के अभाव में किसी राष्ट्र की सुरक्षा नीति व विदेश नीति का कोई ठोस आधार निर्मित ही नहीं हो सकता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रभावित करने वाले कारकों में विचारधारा के साथ-साथ राष्ट्रीय चरित्र को भी महत्वूपर्ण कारक बताया जा सकता है। वस्तुतः राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण मानवीय कारक है। प्रो० मार्गेन्थो के शब्दों में "राष्ट्रीय सुरक्षा व शक्ति पर राष्ट्रीय चरित्र की अनिवार्यतः प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जो भी व्यक्ति युद्ध तथा शान्ति में राष्ट्र की ओर से कार्य करते हैं, चुनते हैं अथवा चुने जाते हैं, जनमत पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं तथा उत्पादन और खपत में वृद्धि करते हैं। ये सभी लोग अधिक या कम स्तर पर उन बौद्धिक तथा नैतिक गुणों की छाप से युक्त रहते हैं, जो राष्ट्रीय चरित्र को निर्मित करते हैं।[4] प्रत्येक राष्ट्र के निवासियों में कुछ विशिष्ट गुण, कुछ सामान्य गुण तथा कुछ अवगुण अवश्य पाये जाते हैं जिन्हें सामूहिक रूप से राष्ट्रीय चरित्र के नाम से जाना जाता है। यह राष्ट्रीय चरित्र का ही परिणाम है कि जहाँ एक ओर अमरीका व ब्रिटेन अपने राष्ट्रीय चरित्र के कारण सैनिकवाद व अनिवार्य सैन्य-पद्धति के विरोधी है, वहीं जर्मनी व रूस सैन्यीकरण पर आधारित विदेश नीतियों के सरलता से निर्धारित कर सकते हैं। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, शान्ति, अहिंसा व पंचशील का समर्थक भारत मूलतः शान्ति का पक्षधर है किन्तु राष्ट्रीय संकट की घड़ी में यहाँ का जन-मानस बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। उधर पाकिस्तान अपनी युद्ध प्रिय प्रवृत्ति के कारण सतत् रक्षा तैयारी एवं युद्ध के वातारवरण के निर्माण व संचालन को श्रेयस्कर मानता है। यह राष्ट्रीय चरित्र का ही परिणाम है कि जर्मनी, जापान व इजराइल आदि देश शान्तिकाल में भी अपने राष्ट्रीय संसाधनों का एक बड़ा भाग रक्षा तैयारियों पर लगाने हेतु उद्यत रहते हैं।

मनोबल, राष्ट्रीय सुरक्षा का ऐसा अमूर्त तत्व है जो अपनी विशिष्ट निष्ठा, साहस, विश्वास, व्यक्तित्व तथा गरिमा को सुरक्षित रखने की भावना से प्रेरित होता है।[5] राष्ट्र का सम्पूर्ण औद्योगिक व कृति उत्पादन, कूटनीतिक सेवाएँ तथा सैन्य तैयारियाँ इसमें समाहित होती है। वास्तव में, यह एक ऐसा अदृश्य महत्वपूर्ण तत्व है, जिसके अभाव में कोई सरकार अपनी नीतियों को प्रभावी ढंग से संचालित नहीं कर सकती। राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में तो मनोबल सम्पूर्ण राष्ट्र का ऐसा विकसित सामूहिक दृष्टिकोण है जिस पर राष्ट्र की आंतरिक व बाह्य नीतियों की स्कलता निर्भर करती है। सैन्य-सक्रियताओं में तो मनोबल का विशेष महत्व होता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा को निर्धारित, प्रभावी एवं सक्रिय बनाने में विभिन्न भौगोलिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक व सामाजिक पहलुओं की महत्वपूर्ण भूमिका होता है। इसके बाद भी राष्ट्रीय सुरक्षा व शक्ति का मूल्यांकन मूलतः सशस्त्र सैन्य शक्ति से ही किया जाता है। सैन्य शक्ति ही वह महत्वपूर्ण निर्धारक है जो राष्ट्र के समक्ष उत्पन्न होने वाले खतरों का मुँहतोड़ जबाव देने के साथ-साथ न केवल आंतरिक सुरक्षा को स्थायित्व प्रदान करती है, बल्कि क्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उस राष्ट्र की भूमिका व महत्व को स्थापित करती है। अपने पड़ोसी राज्यों से द्विपक्षीय संबंधों के निर्धारण व क्षेत्रीय शान्ति की स्थापना में सैन्य शक्ति की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण तथा निर्णायक होती है। एशिया में चीन के विशाल आण्विक भण्डार, पाकिस्तान के शस्त्रोन्मुख आण्विक कार्यक्रमों एवं चीन-पाक आण्विक सहयोग के दूरगामी प्रभावों व परिणामों से चिन्तित होकर भी भारत न केवल विदेशी दबावों की परवाह किये

बिना अपने मिसाइल कार्यक्रम को जारी रखे हुये हैं, अपितु अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान में रखकर वर्ष 1998 में द्वितीय पोखरण यानी परमाणु परीक्षण का निर्णय लिया।

राष्ट्रीय सुरक्षा की स्थापना में राष्ट्र के नेतृत्वकर्त्ता की सोंच, रणनीति एवं व्यक्तित्व को भी महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। आधुनिक सन्दर्भों में सफल राष्ट्रीय सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा नीति के निर्धारण में राजनैतिक स्थिरता एवं प्रशासनिक कुशलता भी एक महत्वपूर्ण कारक है। राष्ट्र की बौद्धिक अभिक्षमता के विकास, मजबूत वैदेशिक नीति के निर्धारण, आन्तरिक समस्याओं के सही समाधान, राष्ट्रीय मनोबल का विकास तथा जन-भावनाओं की संतुष्टि कुशल नेतृत्व के द्वारा ही पंडित जवाहर लाल नेहरू, इंन्दिरा गाँधी तथा नरेन्द्र मोदी का नेतृत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र के स्वरूप को निर्धारित किया है तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को प्रभावित भी किया है। यहाँ यह कहना गलत नहीं है कि पिछले कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत को एक मजबूत देश माना जा रहा है, जिसके मूल में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व की अहम् भूमिका रही है। इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो रहा है तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को भी बल मिला है। आज भारत के राष्ट्रीय सुरक्षा के सामने सबसे बड़ी चुनौती आतंकवाद को दुर्बल करने में राष्ट्र को मोदी का नेतृत्व निर्णायक माना जा रहा है।

वर्तमान परिस्थिति में "सुरक्षा तथा विदेश नीति के मध्य अटूट सम्बन्ध है, जिसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।"[6] सच तो यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा एवं विदेश नीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्र अन्तिम हथियार के रूप में युद्धों का सहारा लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि युद्ध व विदेश नीति एक-दूसरे के ऊपर आश्रित हैं। विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय हितों को सुरक्षा प्रदान किया जाये, यदि उसके पीछे पर्याप्त सैन्य शक्ति नहीं है तो वह सफल नहीं हो सकती है। इसीलिए कहा गया है कि युद्ध एक रक्तरंजित संघर्ष है और राजनीति एक अरक्तरंजित युद्ध जिन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। "किसी भी राष्ट्र की युद्ध नीति राजनीति की शाखा मात्र है-वह साधन है, साध्य नहीं, लेकिन दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर हैं और ये दोनों ही भौगोलिक तना की दो शाखाओं के समान है।"[7] वस्तुतः किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का मूल्यांकन राष्ट्रीय सुरक्षा के सन्दर्भ में किया जाता है। वर्तमान में तो राष्ट्रीय शक्ति के बिना राष्ट्रीय सुरक्षा की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इस सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने लिखा है कि "कूटनीति एवं सैनिक शक्ति, राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रमुख तत्व है।"[8]

भारत की विदेश नीति की यह मान्यता है कि शान्ति, सुरक्षा और विश्व व्यवस्था के लिए संयुक्त राष्ट्र मानवता की आशा है। भारत के संविधान में निर्देश दिया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति को प्रोत्साहन देगी और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान का प्रयास करेगी।[9] भारत इस महत्वपूर्ण आदर्श के अनुसार आचरण करने का प्रयास करता है। संयुक्त राष्ट्र, संप्रभुता-सम्पन्न देशों का संगठन है जो विश्व शान्ति के लिए समर्पित है तथा यह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान और मानव समाज को युद्धों से रक्षा के लिए कार्यरत है। संयुक्त राष्ट्र में विश्वास और इस विश्व संगठन के साथ सहयोग, भारत की विदेश नीति का प्रमुख स्तम्भ माना जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जब भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक पराधीन देश था, उस समय भारत राष्ट्र संघ (League of Nations) का सदस्य बन गया। भारत परतंत्र था, इसलिए स्वतन्त्र रूप से निर्णय नहीं ले सकता था। उसका प्रतिनिधि वही कहता था जो ब्रिटिश सरकार आदेश देती थी। जब द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने, राष्ट्र संघ को पुनर्जीवित करने के स्थान पर एक नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का निर्णय लिया, उस समय भी भारत स्वाधीन नहीं था। इसके बाद भी सैन फ्रांसिस्को में, अप्रैल-जून, 1945 में आयोजित सम्मेलन में भारत को अपना प्रतिनिधि मंडल भेजने के लिए आमंत्रित किया गया। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को अन्तिम रूप देकर अंगीकृत किया गया। 15 अगस्त, 1947 को भारत एक स्वतंत्र एवं सम्प्रभु राष्ट्र के रूप में दुनिया के सामने आने के बाद स्वयं को गुटीय राजनीति से अलग रखा तथा स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं सक्रिय वैदेशिक नीति के रूप में गुटनिरपेक्षता को अपनाया।

विदेश नीति का निर्माण वास्तव में राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय सुरक्षा के साध्य और साधन के चयन से आरम्भ होता है। भारत ने स्वतंत्रता के तुरन्त बाद जो आदर्श स्वीकार किए वे थे, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, सभी नस्ल एवं जातियों की समानता, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष ताकि पराधीन देशों को स्वतन्त्र कराया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान एक अन्य प्रमुख उद्देश्य था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारत के राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा, देश का तेजी से आर्थिक

विकास और हमारी संप्रभुता तथा प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा भी आवश्यक थे। भारतीय दर्शन और परम्परा के अनुसार तथा गाँधी जी के नैतिक सिद्धान्तों के प्रभाव में नेहरू सरकार ने यह तय किया कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केवल पवित्र साधनों का प्रयोग किया जायेगा। इसलिए भारत ने शांतिपूर्ण साधनों पर बल दिया। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नेहरू सरकार ने कुछ सिद्धांतों की रूपरेखा तैयार की थी। उनके उत्तराधिकारियों ने आमतौर पर इन सिद्धान्तों के अनुसार ही आचरण किया है। गुटनिरपेक्षता भारत की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है। शक्ति गुटों से दूर रहने और शीतयुद्ध से बचने के आज इस सिद्धान्त को 120 देशों ने अपनाया है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध आलेख का उद्देश्य भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा के सभी पक्षों के साथ-साथ वैदेशिक नीति और कूटनीति के पक्षों को स्पष्ट करना है। प्रस्तुत आलेख में इस बात को भी देखा जाएगा कि भारत वर्तमान में राष्ट्रीय सुरक्षा को लेकर किस रणनीतिक और कूटनीतिक गतिवधियों को सम्पन्न कर रहा है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक 'राष्ट्रीय सुरक्षा और भारत' है। इस शोध आलेख में निम्नलिखित परिकल्पनाएँ की गई है:

1. भारत की वैदेशिक नीति के मूल में राष्ट्रीय सुरक्षा हमेशा ही निहित रहा है तथा भविष्य में भी इसी प्रकार की स्थिति कायम रहेंगी।
2. राष्ट्रीय सुरक्षा को लेकर वर्तमान की नरेन्द्र मोदी सरकार पूर्व की तुलना में अधिक सशक्त रणनीतिक एवं कूटनीतिक पक्षों को महत्व दे रही है।
3. राष्ट्रीय सुरक्षा विषय वर्तमान में महत्वपूर्ण है तथा विभिन्न प्रकार की चुनौतियों की सामना कर रही है। भविष्य में भारत राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति अधिक सशक्त होगा तथा समस्याओं का समाधान भी हो जाएगा।

साहित्य सर्वेक्षण

इस विषय पर अबतक के महत्वपूर्ण अध्ययन में कुछ साहित्य का सामान्य अवलोकन अनिवार्य प्रतीत होता है। ऐसा करना शोध आलेख लेखन कार्य को सार्थकता प्रदान करता है। वस्तुत: शोध आलेख को प्रभावी बनाने के लिए साहित्य सर्वेक्षण को अनिवार्य माना जाता है। इसी अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए हमने अपने प्रस्तुत शोध आलेख की तैयारी में निम्नलिखित प्रमुख साहित्य का सर्वेक्षण किया है:

1. वी०एन० खन्ना, लिपाक्षी अरोड़ा, भारत की विदेश नीति, तृतीय संशोधित संस्करण, निकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा० लि०, नई दिल्ली, 2004
2. प्रो० बी०एम० जैन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003
3. डॉ० एस०पी० सिंहल, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2019
4. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा एवं शशी के० जैन, राजनय के सिद्धान्त, कॉलेज बुक्र डिपो, जयपुर, 2006
5. भोला चटर्जी, ए स्टडी ऑफ रिसेन्ट नेपालीज पॉलिटिक्स, द वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1967
6. लियो ई० रोज, नेपाल स्ट्रैटजी फॉर सरवाइवल, आक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1991

निष्कर्ष

भारत दुनिया का एक महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक देश है; विकासशील देश है तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं न्यायपूर्ण आचरण का समर्थन करता है। भारत अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान चाहता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत की सक्रिय भूमिका का वास्तविक उद्देश्य सामूहिक सुरक्षा में राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राप्त करना रहा है। भारत, राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति हमेशा ही प्रतिबद्ध रहा है तथा मोदी सरकार तो इस दिशा में अधिक प्रतिबद्धता का परिचय दे रही है।

सन्दर्भ सूची

1. रणनीतिक विश्लेषण (अंग्रेजी में), नवम्बर, 1987, वोल्यूम-XI, नं०-8, पृष्ठ-888
2. मदोदर राव, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृष्ठ-89
3. एच० जे० मार्गेन्थो, पोलिटिक्स अमंग नेशन्स, पृष्ठ-130
4. तथैव, पृष्ठ-130
5. मदोदर राव, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृष्ठ-93
6. के० एम० पन्निकर, पॉब्लेम ऑफ इंडियन डिफेन्स, पृष्ठ-115
7. मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ : युद्ध के साधान और साध्य, पृष्ठ-4
8. एल० सी० पेल्टीयर तथा जी० ई० पीयरी, मेलेट्री ज्योग्राफी, पृष्ठ-8
9. भारतीय संविधान, भाग-4, अनुच्छेद-51

भारत में प्रजातियों का वर्गीकरण विशेषतः बी० एस० गुहा के विचारों का अवलोकन

डॉ० विजय मिस्त्री

एम०ए०, पी-एच०डी० (भूगोल), मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

शोध पत्र का सार

भारत विविधताओं का देश है, यहाँ सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा अन्य रूप में विविधताएँ दृष्टिगोचर होती है। भारत में प्रागैतिहासिक काल से ऐतिहासिक काल तक विविधताएँ विशेषत: प्रजातियों के मामलों में दिखता रहा है। एशिया भूखण्ड के सुदूर दक्षिण में हिन्द महासागर पर स्थित उत्तर, उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम में पर्वतमालाओं द्वारा आवेष्ठित और दक्षिण में समुद्रों द्वारा विलग भारत भौगोलिक दृष्टि से एक ऐसी सुरक्षित इकाई है जिसमें यदि कोई प्रवेश करना चाहे तो वह केवल पर्वतीय दर्रों द्वारा अथवा तटीय भागों से ही कर सकता है। इन भू-अवस्थाओं के फलस्वरूप भारत में काफी समय पूरब और दक्षिण-पूरब की ओर हटती गयी और इस प्रकार पहाड़ियों और वन क्षेत्रों ने बड़े परिमाण में जनजातियों को अपने अंक में स्थान देकर उन्हें सर्वनाश से बचाये रखा है। भारत की जनसंख्या में मानव की समस्त प्रमुख प्रजातियों के वे तत्व मौजूद हैं।

मूल शब्दः आर्य, प्रजातिवाद, नस्लवाद, भू-राजनीति, सवर्ण, अवर्ण, द्रविड़, संस्कृतिकरण, सामाजिकरण, नगरीकरण।

प्रस्तावना

शोध आलेख के अन्तर्गत भारतीय प्रजातियों का वर्गीकरण अपेक्षित है तथा इसमें गुहा के द्वारा प्रस्तुत भारतीय प्रजातियों का वर्गीकरण विशेषत: किया जायेगा। भारत में मानवशास्त्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम भारतीय प्रजातियों का वर्गीकरण वर्ष 1901 के जनगणना के अनुसार किया गया।[1] सर हरबर्ट रिजले ही वह प्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने बहुत ही व्यवस्थित रूप में भारतीय प्रजातियों का वर्गीकरण किया तथा उन्होंने 1901 के जनगणना को आधार बनाया। इनके अतिरिक्त भारत की प्रजातियों का वर्गीकरण अन्य कई विद्वानों के द्वारा किया गया है, जिनमें ग्यूफ्रीडा (Giuffrida), हैडन (Haddon), ईक्सटैड (Eicktedt), गुहा (Guha), हट्टन (Hutton) का नाम लिया जा सकता है। गुहा के भारतीय प्रजातियों के वर्गीकरण में सभी विद्वानों के विचारों की मौलिक बातों का समन्वय दिखता है। इसलिए प्रस्तुत आलेख में गुहा के वर्गीकरण को ही अध्ययन किया गया है। सर हरबर्ट रिजले ने भारतीय जनसंख्या में विभिन्न मानव प्रजातियों के सात अग्रलिखित वर्गीकरण किया गया है।[2] रिजले के अनुसार भारतीय प्रजातियों में द्राविड़, भारतीय आर्य, मंगोल, आर्य-द्राविड़, मंगोल-द्राविड़, सीथो द्राविड़, द्राविड़ तथा तुर्क ईरानी। ग्यूफ्रीडा ने नीग्रिटो आदि द्राविड़, टोडा और कड़ार प्रजातियों की चर्चा किया है। ईक्सटैड ने प्राचीन भारतीय, काले भारतीय, नवीन भारतीय और पूर्व मंगोल भारतीय की चर्चा किया है। सबसे मुख्य और सर्वमान्य वर्गीकरण डॉ० बी०एस० गुहा द्वारा (1931 की जनगणना रिपोर्ट में) प्रस्तुत किया गया है।[3]

(1) नीग्रिटो (Negritos): भारतीय जनसंख्या में नीग्रिटो तत्व का समावेश एक संदिग्ध और विवादास्पद विषय है। वास्तविक नीग्रिटो प्रजाति फिलीपाइन, न्यूगिनी, अण्डमान द्वीप और मलेशिया प्रायद्वीप के सेमांग और सकाई लोगों के रूप में मिलती है। भारत में इन लोगों की उपस्थिति के बारे में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। लैपीक के अनुसार भारत में नीग्रिटो जाति का अंश दक्षिण भारत के आदिवासियों में पाया जाता है। ट्रावनकोर-केरल के कडार और पनियान और और वायनाड की प्राचीन जनजाति

इरूला लोगों के सिर पर प्राय: ऊन जैसे बाल देखे जाते हैं जो नृतत्वशास्त्र के दृष्टिकोण से नीग्रो को इंगित करते हैं किन्तु थर्स्टन महोदय ने उपरोक्त मत का खण्डन किया है। इसके विपरीत ग्यूफ्रीडा रूजीरी का विचार है कि दक्षिण भारत की जनजातियों में पाये जाने वाले नीग्रिटो आज भी विद्यमान है। प्रजातीय दृष्टि से ये लोग श्रीलंका के वेद्दा, सुमात्रा के वाटिन और सुलाबेसी के तोला लोगों से सम्बन्धित हैं।[4] इस मत को हैडन ने भी स्वीकार किया है कि यद्यपि दक्षिण में नीग्रिटो प्रजाति होने की शंका की जाती है किन्तु इसकी वास्तविक सत्यता अभी ज्ञात नहीं है।[5]

डॉ० हट्टन ने नीग्रिटो समस्या पर विशेष ध्यान दिया है। उनके अनुसार भारत के पूर्वी सीमान्त की जनसंख्या में नीग्रिटो तत्व पाया जाता है। उन्होंने मणिपुर और कछार की पहाड़ियों के कुछ अंगामी नागाओं से विशेष ऊन जैसे बाल देखे हैं।[6] डॉ० गुहा के कडार और अन्य पहाड़ी जातियों में नीग्रिटों तत्व को स्वीकार किया है। डॉ० सरकार के अनुसार राजमहल पहाड़ियों की आदिम जातियों में घुँघराले बाल पाये जाते है। डॉ० हट्टन ने इन सब तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त लिखा है कि भारतीय प्रायद्वीप के सबसे पूर्व के निवासी सम्भवत: नीग्रो जाति के ही थे किन्तु बाद में उनका शीघ्रता से ह्रास होता चला गया। यद्यपि वे अण्डमान द्वीप में आज भी विद्यमान हैं परन्तु भारतीय भूमि पर उनके बहुत कम अंश शेष हैं। सुदूर दक्षिण के वनों के कडार और यूराली लोगों में यदाकदा छोटे कद, घुँघराले बाल और नीग्रो आकृति के लोग देखे जाते हैं जो वास्तव में भारत में नीग्रिटो प्रजाति के अवशेष को स्पष्ट करते हैं।[7] ग्यूफ्रीडा भारत और फारस की खाड़ी के बीच नीग्रिटो लोगों की उपस्थिति ऐतिहासिक काल के पूर्व मानते हैं।

बंगाल की खाड़ी, मलेशिया प्रायद्वीप, फिजी द्वीपसमूह, न्यूगिनी, दक्षिण भारत और दक्षिणी अरब में नीग्रिटो अथवा आंशिक नीग्रो लोगों की उपस्थिति यह मान लेने को प्रेरित करती है कि किसी पूर्व-ऐतिहासिक काल में नीग्रिटो लोग एशिया मालद्वीप के बहुत बड़े भाग विशेषकर दक्षिणी भाग को घेरे हुए थे। बाद में पूर्व-द्राविड़ों और द्राविड़ों के आने पर (जो उनसे अधिक शक्तिशाली थे) इन लोगों की समाप्ति हो गयी अथवा वे उनमें विलीन हो गये। वर्तमान समय में ये लोग कहीं-कहीं पर अवशेष रूप में ही पाये जाते हैं।

नीग्रिटो तत्व मुख्यत: अण्डमान द्वीपवासियों में मिलता है।[8] इनके अन्य प्रतिनिधि इरूला, कडार, पुलायन, मुथुवान और कन्नीकर आदि हैं। प्रो० कीन्स कडार, मुथुवान, पनियान, सेमांग, उराँव और ऑस्ट्रेलियाई आदिवासियों को उन लोगों की सन्तान मानते हैं जो किसी समय सम्पूर्ण भारत में निवास करते थे।[9] ये लोग ही सबसे पहले मलेशिया से भारत की ओर बंगाल की खाड़ी के द्वार से घुसे और उत्तर हिमालय की तलहटी तथा दक्षिण में प्रायद्वीप पर फैल गये।[6] इन लोगों की मुख्य विशेषता यह है कि ये कद में बहुत छोटे होते हैं। इनका सिर छोटा किन्तु ललाट उभरा हुआ होता है। इनके बाल सुन्दर और ऊन जेसे छल्लेदार (Pepper Corn) होते हैं। ये रंग में काले होते हैं। सिर की बनावट गोल से लगाकर म्बी अथवा मध्यम होती है। इनके हाथ-पैर कोमल होते हैं। चेहरा छोटा, नाम चपटी और चौड़ी, माथा आगे की ओर निकला हुआ, भौं की हड्डियाँ सपाट और दाढ़ी छोटी और होंठ मोटे और मुड़े हुए होते हैं।

नीग्रिटो लोगों की सभ्यता बहुत अविकसित दशा में थी। ये पूर्व-पाषाण युग की सभ्यता लेकर भारत में आये थे। पत्थर, हड्डी के अनगढ हथियार तथा तीर-कमान के सिवाय इन्हें किसी अन्य हथियार का ज्ञान न था। ये लोग गुफाएँ बनाकर रहते थे और भोजन के लिए वस्तुएँ एकत्रित करने का काम करते थे। खेती करना इन्हें न आता था किन्तु ये लोग वट वृक्ष (पिबने जतमम) की पूजा करते थे। इस पूजा का उद्देश्य सन्तान प्राप्त करना तथा मृतकों की सद्गति प्रदान करना था। भारतीय संस्कृति में वट-पूजा का चलन एवं गुफाओं का निर्मा इन्हीं लोगों की देन है।

(2) प्रोटो-ऑस्ट्रलॉइड (Proto-Australoids): सम्भवत: भारत में आने वाली दूसरी प्रजाति आदि-द्राविड़ थी। यद्यपि इनके आदि-पूर्वज फिलीस्तीन में देखे जा सकते हैं परन्तु भारत में ये कब और कैसे आये यह अभी भी ज्ञात नहीं है किन्तु भारत की वर्तमान जनजातियों में इस प्रजाति का अंश ही सर्वाधिक है। इन लोगों में श्रीलंका के वेद्दा, ऑस्ट्रेलियाई और मलेशियाई लोगों के रंग, चेहरे और बालों आदि में इतनी समानता पायी जाती है कि उससे यह स्पष्ट है कि ये चारों एक प्रजाति के वंशज हैं। भारत में ये लोग बाहर से आये हैं अथवा भारत से ही ये बाहर के देशों में पहुँचे हैं, यह अभी भी वावादास्पद है। ये ऑस्ट्रेलियाई लोगों से बहुत मिलते-जुलते हैं। अत: इन्हें आदि-द्राविड़ नाम दिया गया है। वास्तविक ऑस्ट्रेलियाई लोगों की नाक चेहरे से चिपकी हुई, छाती मजबूत और शरीर पर घने बाल होते हैं जो भारतीय जनजातियों में प्राय: नहीं देखे जाते किन्तु दक्षिण भारत के चेंचू, मलायन,

कुरूम्बा, यरूबा, मुण्डा, कोल, संथाल और भील समूहों में ऐसे बहुत से लोग पाये जाते हैं जिनमें उपरोक्त विशेषताएँ हैं। अनुसूचित जातियाँ प्रधानत: इस प्रजाति से बनी हुई मानी जाती है। ये लाग कद में नाटे और गहरे, भूरे अथवा काले रंग के होते हैं। इनका सिर लम्बा और नाक चौड़ी, चपटी या पिचकी हुई होती है। इनके बाल घुँघराले और होंठ मुड़े और मांसल (Fleshy) होते हैं।

(3) मंगोलॉइड (Mongoloids): प्रजाति का आदि-स्थान इरावदी नदी की घाटी, चीन, तिब्बत और मंगोलिया को माना जाता है। यहीं से ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य ये लोग भारत में आये और धीरे-धीरे उत्तरी-पूर्वी बंगाल के मैदान और असम की पहाहड़यों तथा मैदान में घुसते चले गये। यद्यपि उत्तर और उत्तर-पूरब के कठिन स्थल-मार्गों ने उनके यहाँ बड़ी मात्रा में प्रवेश में रोड़े अटकाये परन्तु फिर भी वे निरन्तर आगे बढ़ते रहे। यही कारण है कि भारत के उत्तरी-पूर्वी भागों में नेपाल, असम और पूर्वी कश्मीर में तीन प्रकार के मंगोल लोग पाये जाते हैं। मंगोल प्रजाति अन्य प्रजातियों से इन बातों में भिन्न है-इनका मुँह चपटा और गाल की हड्डियाँ उभरी हुई होती है। आँखें बादाम की आकृति की हाती है। चेहरे और शरीर पर बाल कम होते हैं। इनका कद छोटे मध्यम तक तथा सिर चौड़ा और रंग पीलापन लिए होता है। मंगोल समूह में निम्नलिखित तीन प्रजातियाँ हैं:

(क) *पूर्व मंगोलॉइड (Palaeo-Mongoloids):* बहुत ही प्राचीन प्रजाति है। यह शीघ्रता से पहचानी नहीं जाती। सिर की बनावट, नाक और रंग से ही इन्हें पहचाना जा सकता है। यह दो श्रेणियों में बँटी है-(1) लम्बे सिर, मध्यम आँखें, छोटा और चपटा मुँह तथा हल्के-भूरे रंग वाली मंगोल प्रजाति लम्बे सिर वाली होती है। ये उप-हिमालय प्रदेश, असम और बर्मा की सीमा पर रहने वाले आदि लोगों (जैसे-नागा) में बहुत अधिक पायी जाती है। (2) इस समूह की दूसरी प्रजाति चौड़े सिर वाली (Broad-headed Type) है। बंगला देश में चिटगाद्व पर्वतीय जनजाति (जैसे-चकमास) इसी श्रेणी के हैं। कलिम्पोंग की लैपचा जनजाति भी इसी समूह में सम्मिलित की जाती है। इनका सिर चौड़ा, रंग काला और नाक मध्यम आकार की होती है। चेहरा छोटा और चपटा होता है। सिर के बाल सीधे परन्तु कुछ घुँघराली प्रवृत्ति लिये होते हैं।

(ख) तिब्बती मंगोलॉइड लोग लम्बे कद, चौड़े सिर और हल्के रंग के होते हैं। चौड़ी चपटी नाक, लम्बा चपटा मुँह और शरीर पर बालों का अभाव इनकी अन्य विशेषताएँ हैं। ये लोग सिक्किम और भूटान में पाये जाते हैं। ये तिब्बत की ओर से भारत में आये माने जाते हैं।

मंगोल प्रजाति ने भारत की संस्कृति पर बड़ा प्रभाव डाला है। दूध, चाय, चावल, कागज सुपारी की खेतरी, सामूहिक घरों की प्रथा, सीढ़ीनुमा खेती, शेर का शिकार करना आदि का प्रयोग इन्हीं लोगों की देन है।

(4) भूमध्यसागरीय या द्राविड़ प्रजाति (Mediterraneans or Dravidians): भारत के आदिवासियों में तीन प्रमुख प्रजातियों (नीग्रिटो, पूर्व-द्राविड़ और मंगोल) के तत्व ही अधिक हैं। इनके अतिरिक्त साधारण जनसंख्या मुख्यत: भूमध्यसागरीय, एल्पो-दिनारिक और नार्डिक प्रजातियों से बनी है। इनमें भूमध्यसागरीय समूह सबसे बड़ा है। यह प्रजाति उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और मालाबार तट पर पायी जाती है। इस प्रजाति की कोई एक किस्म नहीं वरन् अनेक किस्में हैं जो लम्बे सिर, काले रंग और नहीं वरन् अनेक किस्में हैं जो लम्बे सिर, काले रंग और नहीं वरन् अनेक किस्में हैं जो लम्बे सिर, काले रंग और अपनी ऊँचाई द्वारा पहचानी जाती है।

भारतीय संस्कृति को इनकी देन बहुत अधिक है। मिट्टी के बर्तन बनाना, तीर-कमान चलाना, देशी नावें बनाना, मोर, घोड़े, टट्टू आदि पशुओं को पालना, गन्ने के रस से शक्कर बनाना, कौड़ी के अनुसार प्रत्येक वस्तुओं को बीस की संख्या में गिनना, विवाह आदि अवसर पर कुमकुम और हल्दी का प्रयोग करना भी इन्होंने ही भारत को दिया है। पाषाण युग कीस्मृति को बनाये रखने के लिए पत्थर को देवता मानकर उनकी पूजा करना, उसे सिन्दूर और चन्दन लगाना, उसके सम्मुख धूप-दीप जलाना, घण्टा-घड़ियाल बजाना, उसके समक्ष नाच-गान करना, मूर्ति को भोग लगाना और उस पर चढे भोग को प्रसाद के रूप में बाँटना। ये सभी भारत के इन लोगों की ही देन है। इनके साथ स्त्रियाँ कम थीं अत: इन्होंने यहाँ की स्त्रियों से विवाह कर उनकी संस्कृति को भी अपना लिया। शिवलिंग की पूजा भी आरम्भ हो गयी। योग क्रियाएँ, दवाइयों का उपयोग, नगर निर्माण की सभ्यता, उच्च श्रेणी की खेती करने के ढंग, सुधरे ढंग की नावें, युद्ध में प्रवीणता, वस्त्र बुनना एवं कातना, औजारों का निपुणता सेप्रयोग, सर्प और पशुओं एवं वृक्षों की आत्माओं की पूजा, मातृ शक्ति का आदर, विवाह के रीति-रिवाज भी इन्हीं लोगों की देन हैं।

(5) पश्चिमी चौड़े सिर वाली (The Western Brachy-Cephals): प्रजाति भारत में मध्य एशियाई पर्वतों से पश्चिम की

आरे से आयी है। इनको एल्पोनॉइड, दिनारिक और आरमोनॉयड तीन भागों में विभक्त किया गया है। इनके ये नाम यूरोप में जिस प्रदेश से ये सम्बन्धित है उस आधार पर रखे गये हैं:

(क) एल्पोनॉइड (Alponoids) प्रजाति के मूल लोग यूरोप के मध्य में आल्प्स पर्वत के आसपास बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। यह लोग मध्यम छोटे कद के होते हैं। इनके कन्धे चौड़े, छाती गहरी, टाँगें लम्बी और चौड़ी तथा अँगुलियाँ छोटी होती है। इनका सिर और चेहरा गोल तथा नाक पतली और नुकीली होती है। रंग भूमध्यसागरीय लोगों से हल्का और शरीर मोटा और मजबूत बना होता है। शरीर और चेहरे पर बाल बहुतायत से होते हैं। सम्भवत: यह लोग दक्षिणी बलूचिस्तान से सिन्ध, सौराष्ट्र, गुजरात और महाराष्ट होकर कर्नाटक, तमिलनाडु, श्रीलंका और गंगा के सहारे बंगाल में पहुँचे हैं। यह प्रजाति सौराष्ट्र (काठी), गुजरात (बनिया), पश्चिम बंगा (कायस्थ), महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, बिहार और गंगा के डेल्टा में पूर्वी उत्तर प्रदेश में पायी जाती है।

(ख) दिनारिक (Dinaric) प्रजाति का आदि-स्थान आल्पस है। ये लोग लम्बे कद और काले रंग के होते हैं। सिर बहुत छोटा परन्तु अधिक चौड़ा नहीं होता। नाक लम्बी और प्राय: नतोदर होती है। गठीला शरीर, भारी और लम्बी टाँगें, मोटी गर्दन, होंठ अधिक चौड़े, त्वचा का रंग हल्का, आँखें हल्के भूरे रंग की, बाल काले, भूरे और घुँघराले होते हैं। यह प्रजाति पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, केरल, तमिलनाडु, गुजरात (सौराष्ट्र) और कर्नाटक (कन्नड़) प्रदेश में भूमध्यसागरीय लोगों के साथ मिली हुई पायी जाती है।

(ग) आरमिनॉइड (Armenoids) लोग गोरी चमड़ी और छोटे अथवा मध्यम कद के होते हैं। इनका सिर चौड़ा और नाक पतली होती है। मुम्बई के पारसी लोग इनके मुख्य प्रतिनिधि हैं। बंगाली कायस्थ और वेद्दा लोगों में भी इस प्रजाति के लोग पाये जाते हैं।

(6) नॉर्डिक (The Nordics or Indo-Aryans): प्रजाति के लोग भारत में सबसे अन्त में आये। ये अपने निवास-स्थान उत्तरी स्टेपी प्रदेश को छोड़कर धीरे-धीरे दक्षिण-पश्चिम की ओर खिसकने लगे और ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में भारत के उत्तरी भाग में घुस आये। ये लोग पहले पंजाब में आकर बसे, फिर यमुना और गंगा की घाटी में रहने लगे। बाद में ये सारे भारत में फैल गये। इन्होंने यहाँ आकर द्राविड़ों को अधिक दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। इन्हें ये दस्यु कहते थे। धीरे-धीरे इन्होंने द्राविड़ सभ्यता को भी आत्मसात कर लिया। आर्यों की सभ्यता वैदिक थी। इनके देवता इन्द्र, वरूण और पूषा थे। ये यज्ञ-हवन करते थे तथा संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे। बाद में ये शिव, विष्णु, उमा, गणेश, हनुमान, शीतला आदि द्राविड़ देवताओं को भी पूजने लगे। द्राविड़ों की पूजा विधि, शिवलिंग पूजा, मूर्ति पूजा, घण्टा-घड़ियाल बजाना, भोग लगाना, तुलसी को पवित्र मानना, वट-वृक्ष की पूजा करना आदि सभी बातें इन्होंने ग्रहण कर लीं। वैदिक लोग दूध पीते, मक्खन खाते और जौ का प्रयोग करते थे किन्तु यहाँ आकर गेहूँ, दाल, घी और तेल, सूती वस्त्र आदि का उपयोग करने लगे। भाषाशास्त्रियों के अनुसार भारत की वर्तमान संस्कृति में 25% ही वैदिक अंश है और 75% अवैदिक अंश है। वर्तमान काल में आर्य लोग उत्तरी भारत में पाये जाते हैं विशेषकर समाज की उच्च श्रेणी में। राजपूत, सिक्ख आदि मुख्य प्रतिनिधि है जो काफी बलिष्ठ है। भारतीय संस्कृति को इन लोगों का बड़ा योग मिला है। ये लोग घोड़े, अच्छे किस्म के गेहूँ, लोहे का उपयोग, दूध, मद्य पदार्थों का उपयोग, जुआ खेलना, रथ दोड़, पैतृक कुटुम्ब प्रणाली और आर्य भाषा अपने साथ लाये थे। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय साहित्य भारतीय दर्शन और भारतीय कला की उज्जवलत के कारण भी ये लोग हैं।

भारत की वर्तमान जनसंख्या आधुनिक विश्व की लगभग समस्त मानव प्रजातियों का सम्मिलित रूप है। इसमें जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतिकूलताएँ दिखाई पड़ती हैं वे यहाँ की जलवायु और वातावरण के प्रभाव का ही प्रतिफल है। यद्यपि नेतृत्व विज्ञान की दृष्टि से भारत प्रजाति विशेष को प्रमुखता के आधार पर कई क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है किन्तु यह एक स्पष्ट तथ्य है कि प्रजातियों का आपस में मेल-जोल इतना अधिक हुआ है कि प्रजातियों को आपस में मेल-जोल इतना अधिक हुआ है कि सही रूप में उनको पृथक् करना संभव नहीं है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य भारत की प्रजातियों के स्वरूप तथा वर्गीकरण का अवलोकन करना है। इस शोध आलेख में गुहा के द्वारा भारतीय प्रजातियों के वर्गीकरण को स्पष्ट करना है।

परिकल्पना

शोध आलेख में अग्रलिखित परिकल्पनाएँ निर्धारित की गई है:

1. भारतीय प्रजातियों की मौलिक विशेषताएँ वर्तमान में भी देखी जा रही है और भविष्य में भी इसकी आंशिक उपस्थिति रहेंगी।
2. भारतीय समाज में प्रजातियों का स्वरूप शहरीकरण और आधुनिकीकरण से प्रभावित होकर लगभग समानता की ओर जा रहा है।
3. भारत में प्रजातियों का वर्गीकरण शैक्षणिक अध्ययन का विषय बना रहेगा, लेकिन व्यवहार में इसमें कमी आयेंगी।

साहित्य सर्वेक्षण

शोध अध्ययन के अंतर्गत निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मुख्यत: प्राथमिक आँकड़ों का सहारा लिया गया है तथा कुछ द्वितीयक आँकड़ों का भी उपयोग किया गया है। प्राथमिक आँकड़ों का संग्रहण स्वावलोकन किया गया है। साहित्य सर्वेक्षण के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का नाम प्रमुख है:

1. भारत का भूगोल, डॉ० चतुर्भज मामोरिया व जे०पी० मिश्रा, साहित्य भवन, आगरा।
2. मानवी व आर्थिक भूगोल, सिद्धार्थ सोनवर्ण, अथर्व पब्लिकेशन, महाराष्ट्र।
3. भारत लोग और अर्थव्यवस्था, NCERT
4. पर्यावरण भूगोल, डॉ० रतन जोशी, साहित्य भवन, आगरा
5. इंडिया, ए० कम्प्रीहैन्सीव ज्योग्राफी, डी० आर० खुल्लर, इंडियामार्ट

शोध की पद्धति

भारत में प्रजातियों का वर्गीकरण से संबंधित पृष्ठभूमि तथा वर्तमान स्वरूप के विवेचन हेतु ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग उपयुक्त है। प्रस्तुत शोध आलेख में ऐतिहासिक पद्धति के अतिरिक्त तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक पद्धति का प्रयोग है।

निष्कर्ष

भारत की वर्तमान जनसंख्या आधुनिक विश्व की लगभग समस्त मानव प्रजातियों का सम्मिलित रूप है। इसमें जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतिकूलताएँ दिखाई पड़ती हैं वे यहाँ की जलवायु और वातावरण के प्रभाव का ही प्रतिफल है। यद्यपि नेतृत्व विज्ञान की दृष्टि से भारत प्रजाति विशेष को प्रमुखता के आधार पर कई क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है किन्तु यह एक स्पष्ट तथ्य है कि प्रजातियों को आपस में मेल-जोल इतना अधिक हुआ है कि सही रूप में उनको पृथक् करना संभव नहीं है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. एच० एच० रिजले, पिपुल्स ऑफ इंडिया, 1968, पृष्ठ-36
2. तथैव, 37
3. बी०एस० गुहा, रेसियल एलिमेन्टस इन इंडियन पोपुलेशन, 1944, सेनसस 1935, Vol.-I, P-III.
4. जे०रापसोन, कैम्ब्रीज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, Vol.-I, P-36.
5. ए०सी० हैडन, रेसेज ऑफ मैन, पृष्ठ-107
6. जे० एन० हट्टन, मैन इन इंडिया, 1927, पृष्ठ-7
7. जे०एच० हट्टन, सेन्सस ऑफ इंडिया रिपोर्ट, Vol.-I, 1931, P-460.
8. आर० एच० लोवि, प्रिमीटिव सोसाईटी, पृष्ठ-303
9. ए० केइनी, मैन-पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट

मानवाधिकार की अवधारणा-एक अध्ययन

डॉ० दिलीप कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर (गेस्ट फैकेल्टी) , राजनीति विज्ञान विभाग, एम.एस. कॉलेज, मोतिहारी

शोधसार- प्रथम विश्वयुद्ध के साथ ही मानवाधिकारो का हनन शुरु हुआ और इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसकी स्थापना हुई। अमेंरिकी राष्ट्रपति रुजबेल्ट की अध्यक्षता में इस आयोग की स्थापना 1948 में हुई। राष्ट्र निर्माण के साथ नीति निर्माण हेतु पुरे विश्व में शिक्षक छात्रों एवं नीति निर्माताओं का ध्यान मनवाधिकारो पर केन्द्रित हुआ है। ब्रिटेन में 15 जून 1215 ई0 में मैग्नाकर्टा के रुप में मानवाधिकारो के धोषणा-पत्र की शुरुआत होती है जो आज के समय में सभी व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हो गया है। आज मानवाधिकार आयोग के कारण ही सभी देशों के नागरिक उत्पीड़न के शिकार होने से बच रहे है।

शब्द संकेत- मैग्नाकर्टा, उत्पीड़न, अनुसंधानकर्त्ता, समष्टिपरक, समीक्षा, सम्पादन, अगड़ीजाति, दोजून, दीवार, पतली

देश में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग करने के साथ-साथ

मानवाधिकारों का हनन भी हुआ, जिसे रोकने के लिए सर्वप्रथम राष्ट्रसंध की स्थापना की गम्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की स्थापना काप्रथम दस्तावेज संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति कीस्थापना और विवादों के हल के लिए बनी इस संस्था की मौजूदगी के बादभी द्वितीय विश्व युद्ध लड़ा गया, जिसमें गंभीर रूप से मानवाधिकारों का हनन हुआ। वर्ष 1945 में सेन फांसिस्को सम्मेलन में भी मानवाधिकारों के रक्षाकी बात उठायी गयी, जिसमें कहा गया कि विश्व के सभी देशों के नागरिकोंके समान अधिकार, सम्मान और गरिमा प्रदान की जानी चाहिए। इन्हीं कोशिशों के बाबजूद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना और मानवाधिकारों की रक्षा के लिए 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ नामक संस्था की स्थापना की गयी। 1946 में एलोनोर रूजबेल्ट की अध्यक्षता में मानवाधिकार आयोग की स्थापना की गयी 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की गयी, जिस घोषणा पत्र द्वारा रूजबेल्ट ने कहा था कि ''विश्व के अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित हैं, जिन्हें विश्व व्यक्ति के परम्परागत अधिकारों के रूप में स्वीकार कर चुका है और इनके बिना कोई भी सम्मान एवं स्वतन्त्रता के साथ नहीं रह सकता।'' इसके बाद वर्ष 1950 में एक प्रस्ताव पारित कर 10 दिसम्बर को मानवाधिकार दिवस मानने का निश्चय किया गया। वास्तव में सामाजिक परिस्थितियों ही मनुष्य के दूरशितापूर्ण एवं बद्धिवादी प्रक्रिया के निर्माण को प्रभावित करती है। मानव पर सामाजिक परम्पराओं एवं प्रथाओं का पूर्ण प्रभाव होता है एक विचारक के अनुसार मनुष्य नें उच्च और महान जीवन जाने की बहुत ही भावनात्मक क्षमता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वे इसके लिए विकसित भारत में बदलने के लिए एक स्वच्छ, साफ सुथरे एवं पारदर्शी प्रशासन की स्थापना को पहली शर्त माना जाय। 'मानवाधिकार' सामयिक राजनीति का एक महत्वपूर्ण शब्द है। मानवाधिकार अन्तरात्मा में गसे हुए जीवन मूल्यों से जुड़ा है। मानवाधिकारों की संकल्पना सार्वजनिक मानवीय मूल्यों से उपजी विचारधारा है। परिवर्तनशील समय के सापेक्ष विकसित विविध प्रकार की अन्य विचारधाराओं के संदर्भ में मानवाधिकारों का ध्येय बदल जाता है। यदि उदारवादी विचारधारा में मानवाधिकार का ध्येय व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति है तो मार्क्सवादी चिारधारा में इसका अन्तिम ध्येय 'प्रभूत्वशाली वर्ग का हित साधन' है। इसी तरह नारीवादी दृष्टिकोण से इसका ध्येय स्त्रियों के हितों की सिद्धि है। इसकी संकल्पना व्यवस्था एवं अव्यवस्था के अनसुलझे रिश्तो की देन है। व्यवस्था के सुविधा अधिकार और कर्त्तव्य सन्निहित है। इसके विपरीत अव्यवस्था में इनका हनन और इनकी उपेक्षा सामाहित है। इसलिए टकराहट स्वभाविक है। ऐसी परिस्थिति में मानव-अधिकारों की आवश्यकता बढ़ जाती है।

केन्द्र तथा राज्य सरकारों को हमेशा इन बातों को याद रखनी चाहिए किआज भी अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों पर भारत की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। एक प्रतिवेदन के अनुसार विश्व के 177 देशों में भारत का 126 वीं स्थान है। इसके पूर्व वर्ष 2005 में भारत का स्थान 127 वीं और वर्ष 2000 में 128 वीं रहा है।

अगले 20 वर्षों में भी भारत 126 वीं या 125 वीं स्थान से उपर नहीं खिसक पाएगा ऐसा अनुमान है। जबतक उत्तर प्रदेश बिहार जैसे सामाजिक विकास में पिछड़े राज्यों की स्थिति में सुधार नहीं हो जाता। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में मानवाधिकार के महत्व के मुद्दों पर दुनिया भर के नीति-निर्माताओं, शिक्षकों एवं छात्रों का इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। आज भाषा एवं धर्म सम्बन्धी अशांति, स्त्री-पुरूष भेदभाव, जातीय भेदभाव, पुलिस -अत्याचार, मौलिक अधिकारों का उल्लंघन आदि इस तरह के मामले है, जो चिंतन का विषय बना हुआ है। 20 वीं सदी के आरंभ के साथ ही मानव मात्र होने के नाते काफी सम्मान दिया जाने लगा है। विद्वानों के अध्ययन का दृष्टिकोण समष्टिपरक न होकर व्यक्तिपरक होने लगा है। इसी विषय परिस्थिति में मानवाधिकार आंदोलन का उद्‌भव हुआ।

सामाजिक एवं आर्थिक बदलाव के साथ व्यक्तिगत स्तर पर लोगों के जीवन तथा समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा। मानवाधिकार शब्द का साधारण अर्थ यह बताया जा सकता है कि मानव अधिकार मनुष्य के वे अधिकार हैं जो प्रत्येक मानव को मानव मात्र होने के नाते प्राप्त होनी चाहिए। चाहे गरीब हो या अमीर, अगड़ी जाति का हो या पिछड़ी जाति का, गोरा हो या काला उन सबों के साथ किसी भी तरह का भेदभाव किए बिना ही सबों को गरिमा एवं सम्मान प्राप्त हो। सामान्यत: एक व्यक्ति को सम्मानपूर्वक जीवनयापन जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। उन सभी परिस्थितियों को मानवाधिकारों में शामिल किया गया है।

मानवाधिकार वह अधिकार है जो मनुष्य को सिर्फ इस आधार पर मिलना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य है। ये अधिकार हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित है, जिसके बिना हम मानवरूप में जीवित नहीं रह सकते। एक विचारक के अनुसार मानवाधिकार सर्वोच्च है, तथा सभी नैतिक मान्यताओं के केन्द्र में स्थित है, क्योंकि ये अधिकार सभी मनुष्यों के लिए मूलभूत है। इसके विना मानवीय कार्यो सम्पदन असंभव है।

भारत में मानवाधिकार को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि मानवाधिकारों का तात्पर्य जीवन स्वतंत्रता, समानता एवं सम्मान से संबंधित वे अधिकार है, जिनकी गारंटी संविधान द्वारा दी गई है तथा भारतीय न्यायालयों द्वारा क्रियान्वित होते है।

इस प्रकार मानवाधिकार की संक्षिप्त परिभाषा के बाद उपरोक्त सभी विद्वानों द्वारा दिए गए विचारों की समीक्षा के उपरान्त साधारण अर्थों में इसे व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है कि मानवाधिकार प्रत्येक व्यक्ति के प्राप्त वे अधिकार एवं सुविधाएँ हैं, जो उसे मानव समाज का हिस्सा होने के नाते स्वत: एव अभिन्न रूप से प्राप्त होता है।

इस प्रकार मानवाधिकारों की अवधारणा की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी सार्वभौमिकता है। सभी वर्ण, जाति उम्र एवं लिंगभेद के व्यक्तियों को भेदभाव के बिना प्राप्त होना चाहिए, सरकार को यह भी देखना चाहिए कि उसके समस्त नागरिकों को समस्त अधिकार प्राप्त हो रहे हैं या नहीं। उसे कानूनी, राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढ़ाँचा इतना बनाना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक परिस्थितियाँ प्राप्त हो सके। ये मनुष्यों के पवित्र अधिकार है। मानवाधिकारों के पक्ष में आवाज उठाने की आवश्यकता तब और बढ़ जाती है जब सर्वत्र बाजारीकरण और भौतिकवाद का बोलबाला हो। इस दौर में पूंजीपति ग्राहक या अन्य व्यक्ति तथा समाज के अन्य सभी वर्ग अधिकतम लाभ के लिए काम करते हैं। बाजारीकरण के इस दौर में शासन का यह भी दायित्व है कि वह यह आवश्यक रुप से इस बात का ख्याल रखे कि गरिमामय जीवन के अधिकार की किसी भी परिस्थिति में सुनिश्चित किया जाय। बाजारीकारण एवं निजीकरण की प्रक्रिया ने अमीरों और गरीबों के बीच की खाई को और गहरा करने का काम किया है, जिससे वर्ग-विभेद एवं जन असंतोष में वृद्धि हुई। इस पर एक विचारक का मत है कि खेत उपजाउ है, लेकिन भुखमरी के शिकार लोग सड़को पर दो जून की रोटी की तलाश में भटक रहे है। सरकार के पास अन्नके भंण्डार पड़े है। सरकार को ये बातें याद रखनी चाहिए कि भूख एवं विद्रोह के बीच की दीवार अत्यंत पतली होती है।

मानवाधिकार 20 वीं सदी की देन है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम 1 जनवरी 1942 को 26 मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा की गयी संयुक्त राष्ट्र की घोषणा में किया गया इस घोषणा पत्र में संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि शांति स्थापना के साथ-साथ मानवाधिकारों के संरक्षण संवर्द्धन और सबों के लिए मूलमूत स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विस्तार करना संयुक्त राष्ट्र संघ का लक्ष्य होगा।

इसके पूर्व मानवाधिकारों की पहचान मौलिक अधिकारों के रूप में 13 वी सदी में 15 जून 1215 ई० को मैग्ना कार्य के रुप में प्रथम लिखित रूप में की गयी थी जब 1215 में ब्रिटेन में सम्राट जॉन के द्वारा नागरिकों की स्वतंत्रता संबंधी प्रपत्र स्वीकार किया गया।

यद्यपि सीमित स्वरूप में अधिकारों का अस्तित्व ग्रीक एवं रोमन सम्यताओं तथा प्राचीन एशियाई सभ्यताओं में विधमान था लेकिन आधुनिक अर्थो में अधिकारों का सर्वप्रथम उल्लेख मैगना कार्य में हुआ। उसी आधार पर बाद में ब्रिटेन के संसद द्वारा 1689 में बिल ऑफ राइट्स स्वीकार किया गया, जिसमें प्राकृतिक/अर्मूत अधिकारों को मानवीय सकारात्मक अधिकारों के रूप में स्वीकार किया गया, जिसे बाद में बर्किनिया बिल ऑफ राइट्स में इसे और पुष्ट बनाया।

निष्कर्ष- वर्तमान समय एवं परिस्थिति के लिए प्रस्तुत आलेख विल्कुल समाचीन है क्योंकि अभी भी बहुत से लोगों को मानवाधिकार क्या है? इसके अधिकार एवं कर्तव्य क्या है? इसके बारे में पूर्ण जानकारी नहीं रहने के कारण अपने अधिकारों से वंचित रह जाते है। लेख का सीमित दायरा रहने के कारण इसे और विस्तृत नहीं किया जा सकता। इस पर विशेष रुप से शोधकार्य करने की आवश्यकता है। जिससे आनेवाले समय में समीक्षकों, शोधर्थियों एवं अनुसंधानकत्ताओं को एक नयी दिशा मिल सकती है, यही उम्मीद की जाती है।

श्रोत एवं संदर्भ

1. डॉ0 सुजीत श्री वास्तव -मानवाधिकार एवं सुशासन, नई दिल्ली 2012, पृ.-40- 41
2. उपर्युकत-पू.- 41
3. पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम विजन 2020 के अनुसार
4. संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की वार्षिक मानव विकास रिपोर्ट 2010 के अनुसार
5. मानवाधिकार और सुशासन उपर्युक्त-पृ.-02
6. एलेन गेवर्थ-व्युमन राइट्स-1970 पृ.-50
7. मानवाधिकारी संरक्षण अधिनियम 1993 के अनुच्छेद 2 के अनुसार
8. मेंरिस केस्टन-प्वांट आर हयुमन राइट्स न्यूयार्क 1964 पृ.-18
9. डी0पी0 लालवनी-व्युमन-विश्वभारती प्रकाशन 1968 पृ.-50
10. आरद्र चक्रवर्मी हयुमन राइट्स एण्ड सुनाईटेड नेशन्स कलकचा 1958, पृ.-102
11. जी हार्गोपालन-हयुमन राइट्स रिमेंनिंग मुंबई 1992, पृ.-28

एक आदर्श शासक के रुप में मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम

डॉ० बिपिन दूबे

सहायक प्रध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, मुंशी सिंह महाविद्यालय, मोतीहारी
(बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर)

शोध सारांश:- आज शासन के लिए एक आदर्श शासक के रुप में राजा राम को याद किया जाता है। राजा राम के शासन के प्रति, शासन के लिए एवं शासन के क्षेत्र में कौन-कौन से काम किये गये, जिससे राम को एक आदर्श शासक के रुप में याद किया जाता है। यही इस शोधपत्र का मुख्य विषय है। प्राचीनकाल में समाज धर्म सत्ता के लिए जो राम ने किया। वह आज भी शासकों के लिए अनुकरणीय है और उसी के पथ पर वे अग्रसर होते तो निश्चितरुप से एक आदर्श शासक के रुप में जाने जायेंगे। इस शोधपत्र में राजा राम के गुणों एवं नीतियों का उल्लेख है जो उन्हे एक आदर्श शासक बनाता है।

आदि कवि महर्षि वाल्मिकि ने मर्यादा पुरुषोतम राम को महाराज रामचन्द्र माना है। राजा के क्या गुण हो? राजा का क्या धर्म हो? राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिए? इन सभी विषयों पर महर्षि वाल्मीकि ने बहत कुछ लिखा है। राम के नीति धर्म, गुण का उन्होने इतना विषद् वर्णन किया है कि राम एक महापुरुष एवं महामानव के रुप में हमारे सामने प्रस्तुत होते है। राम में क्रोध एवं क्षमा दोनों ही समानरुप से विद्यमान है। राम किसी को क्षमा योग्य होने पर अवश्य क्षमा कर देते है परन्तु कोई अपराधि अपने अपराधों के कारण हनन- योग्य है तो वे बिना उसे मारे नहीं छोड़े है। इतना ही नही अवध्य के उपर उनकी आंखे लाल नहीं होती है।[1]

नास्य क्रोध प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वाध्यानवध्येषु न कुप्यति।।

राम का शील मधुर था। वे सदा दान करते थे तथा कभी किसी से कोई प्रतिग्रह नहीं लेते थे। राम कभी भी अप्रिय नहीं बोलते थे। जो राजा का एक आदर्शगुण है। प्रियवचन बोलनेवाला राजा ही प्रजा का सही हितैषी एवं लोकप्रिय होता है। साधारण स्थिती की बात नही बल्कि प्राण संकट में होने पर भी राम अपने आदर्श का परित्याग नही करते थे। उपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल था। इसका प्रमाण निम्न श्लोक से प्राप्त होता है:-

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यात् आश्रितेत्यानृशंस्यत:।
पत्नी नष्टेतो शेकेन प्रियेति मदनेने च ।।[2]

इस प्रकार प्रजा स्नेही राम अपनों के प्रति भी दयालु थे। ऐसे शासक हमेंशा यश प्राप्त करते है तथा प्रजा उनका बहुत सम्मान करती है। वाल्मीकि की दृष्टि में मानवजीवन में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है चरित्र और इसी चरित्र से युक्त व्यक्ति की खोज करने पर नारद जी ने वाल्मीकि को इच्क्ष्वाकुवंशीय रामचन्द्र को सबसे आदर्श मानव बतलाया है। मानव समाज, मानव व्यवहार तथा मानव-सद्गुणों की पराकाष्ठा का पूर्ण निर्वाह हम राम के जीवन में पाते है। राम शारीरिक सुन्दरता तथा मनासिक सौन्दर्य दोनों के जीते-जागते प्रतीक थे।

राम हमेंशा शान्तचित रहते थे। शान्तचित रहना भी एक आदर्श शासक के गुण है, क्योंकि शान्तचित रहने वाला शासक के द्वारा ही यह निर्णय लिया जा सकता है कि वह कैसा कदम प्रजा के लिए उठा रहा है तथा उसके द्वारा किये गये कार्यो से प्रजा को

नुकसान होगा या फायदा। इसलिए शान्तचित व्यक्ति द्वारा ही उचित समय पर उचित निर्णय लिया जा सकता है। राम बड़ी कोमल तथा मृदुता के साथ बोलते थे। उनसे कोई कितना भी रुखा क्यों न बोले, वे कभी भी कड़ा एवं रुखा उतर नही देते नहीं देते थे। किसी प्रकार किये गये एक भी उपकार से वह तुष्ट हो जाते थे, परन्तु सैकड़ो भी दुसरे पराये उपकारो को वे कभी संस्मरण नही करते थे। किसी से भेट होने पर वही पहले बेलते थे और सदा मीठा बोलते थे। हमेंशा मृदुभाषि व्यक्ति या शासक लोकप्रिय होता है तथा प्रजा उससें खुश रहती है। राम अत्यन्त वीर्यवान थे, परन्तु इसके कारण उन्हें कभी गर्व नही होता था। *'रामो द्विर्नाभिभाषते'* राम कभी दो बात नही कहते थे यानी किसी बात को कह कर मुकर जाना राम की आदत नहीं थी। राम ने एक बार जो कह दिया सो कह दिया। चाहे वह अमीर हो या गरीब सबका पालन उनके जीवन का व्रत बन गया था। प्रजाओं के साथ उनका सम्बनध बड़ा मीठा था। आसक्ति उभयमार्गी थी। राम का अनुराग प्रजा के लिए वैसा ही था जैसा प्रजा का राम के लिए अनुराग था। यानी राजा प्रजा से प्रेम करता था जो प्रजा राम से प्रेम करती थी।

इन गुणो का अनुशीलन किसी भी व्यक्ति को मानवता के ऊँचे पद पर ले जाने तथा प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। व्यक्ति के लिए मृदुभाषि होना, सत्यवादी होना तो आवश्यक है ही परन्तु राम में वाल्मीकि ने एक विलक्षणगुण की सत्ता बतलायी है। वह है उपकार की स्मृति तथा अपकार की विस्मृति। रामचन्द्र के इस उदार हृदय, विशाल चित तथा महनीय आशय का पूर्ण परिचय उसी एक वाक्य से पता चलता है। जिसे उन्होंने सीता की सुधि लेनेवाले अलौकिक उपकार करनेवाले हनुमान जी से कहा था। जनकनन्दिनी का संदेश सुनकर विह्वलचीत राम ने निम्नश्लोक के माध्यम से कहा था–

मययेव जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं हरे।
नरः प्रत्सुपकारार्थी विपन्तिममिकाड़ऽक्षति।।

रावण से युद्ध के समय रामचन्द्र की शैर्य भावना पूर्णतया अभिव्यक्ति पाती है। वे रावण की भर्त्सना इन शब्दो में करते है:-

स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराममर्शक।
कृत्वा का पुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यस।।
भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवास्थित।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्सये।।

राम रावण को बताते है कि शूरता का सही अर्थ है- स्त्रियों का आदर या मर्यादा पालना निर्लज्जा कार्य-कलापों से परम तथा शुभ चरित्र का व्यवस्थित रुप से पालन। रावण में इन सबका एकदम अभाव था। इसलिये तो वह अन्याय तथा अधर्म का प्रतीक माना जाता है। पराक्रमी शत्रु से चित्र-विचित्र युद्ध का परिणामरुप ही राम ने रावण पर विजय पाया। रावण कोई सामान्य मानव नही था। इसी कारण रावण राम का कोई साधारण शत्रु नहीं था। कैलासपर्वत को उखाड़नेवाला और ब्रह्मा को परास्त करने वाला था तथा देवताओं से अपना सेवा कराने वाला था। संसार को अपने घोर कार्यो से रुलाने के कारण ही उसका नाम 'रावण' पड़ा था। ऐसे शत्रु को मार कर राम ने उसके साथ सद्व्यवहार का ही काम किया था। यह घटना वीरों के इतिहास से असाधारण थी। रावण की मृत्यु होने पर विभीषण ने ठीक ही कहा था कि–

गतः सेतुः सुनीतानां प्रतों धर्मस्य विग्रहः।
गतः सत्त्वस्य संक्षेपः सुहस्तानां गतिर्गता।।
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमाः।
चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्त्यवसायों निरुद्यमः।
अस्मिन् निपतिते वीरे भूमौ शस्त्रमृतां वरे।।[3]

आज शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ इस वीर रावण के धराशायी हाने से सुन्दर नीतिपर चलनेवाले लोगों की मर्यादा टूट गयी, धर्म का मूर्तिमान विग्रह चला गया, सत्व (बल) के संग्रह का स्थान नष्ट हो गया। सुन्दर हाथ चलानेवाले वीरों का सहारा चला गया, सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ा, चन्द्रमा अंधेरे में डूब गया, प्रज्वलित आग बुझ गया और सारा उत्साह निरर्थक हो गया।

इससे रावण के बल पराक्रम और स्थिति का पता चलता है और ऐसे प्रतापी रावण को मार कर राम ने जो पुण्य अर्जित किया वह असंभव था। रावण के द्वारा भेजे हुए शुक और सारण दोनों गुप्तचर रावण के पास आते है तो वे राम का परिचय जिन शब्दों

में रावण को देते है। उससे भी राम की वीरता एवं पराक्रम की सही जानकारी प्राप्त होती है। शुक एवं सारणी दोनो रावण को बताते है कि-

एकस्थानगता यत्र चत्वारः पुरुषर्षया।।28।।
लोकपाल सभा शूराः कृतास्त्रा दृढ़विक्रमाः।
श्रामोदाशरथिः श्रीमाल्लैक्ष्च्मणश्च विभीषणः।।29।।
सुग्रीवश्च महातेजा महेन्द्रसमविक्रमः।
एते शक्ताः पुरी लंका सप्राकारां सतोरणात्।।30।।
उत्पाटय संकामयितुं सर्वे तिष्ठन्तु वानराः।।[4]

दशरथनन्दन श्रीराम, श्रीमान लक्ष्मण, विभिषण तथा महेन्द्रतुल्य पराक्रमी महातेजस्वी सुग्रीव- ये चारों वीर लोकपालों के समान शौर्यशाली, दृढ़ पराक्रमी और अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता है। जहां ये चारों पुरुष प्रवर एक जगह एकत्र हो गये हैं, वहाँ विजय निश्चित है और सब वानर अलग-अलग रहे तो भी ये चार ही परकोटे और दरवाजो के सहित सारी लंकापुरी उखाड़कर फेक सकते हैं।

यादृशं तद्धि रामस्य रुपं प्रहरणानि च।।
वधिष्यति पुरीं लंड़क्मेकस्तिष्टन्तु ते त्रयः।

श्री रामचन्द्रजी का जैसा रुप है और जैसे उनके अस्त्र-शस्त्र है, उनमें तो सही मालुम होता है कि वे अकेले ही सारी लंकापुरी का वध कर डालेंगे। भले ही वे बाकी तीन वीर भी बैठे ही रहें।

वेद-वेदग्य पुरुषोतम श्रीराम का अवतार संसार के समस्त जीवों के कल्याण के लिए हुआ था। रामराज्य मे जाति या वर्ग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जाता था। जो लोग यह सोचते है कि श्रीराम केवल ब्राह्मण एवं अन्य उच्चवर्ग के लोगों का ही हित करते थे और शुद्रों के प्रति उनका व्यवहार अच्छा नही था वह अज्ञातवाश ऐसा कहते है। श्रीराम के राज्य में अधम से अधम श्वानों को भी न्याय सुलभ था। इसलिए श्रीराम के सत्यनिष्ठा तथा निष्पक्षता को संदेह की दृष्टि से देखना निसंदेह अर्धम है। एक बार की धटना है कि एक कुता न्याय माँगने के लिए राम के दरबार में पहुँचा था। कुता राम के प्रभाव को जानता था। इसलिए वह कहा कि-

प्रवेष्टुं नात्र शक्ष्यामि धर्मो विग्रहवान नृपः।
सत्यवदी रणपटुः सर्वसत्वहिते रतः।।[5]

कुते ने कहा मैं इस राजभवन में प्रवेश नहीं कर सकूंगा, क्योंकि राजा श्रीराम धर्म के मूर्तिमान स्वरुप है। वे सत्यवादी संग्रामकुशल और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहनेवाले हैं।

शाडमुण्यस्य पदं वेत्ति नीतिकर्त्ता स राधवः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च रामों रमयतां वरः।।

वे संधिविग्रह आदि छहों गुणों के प्रयोग के अवसरो को जानते हैं। श्रीरधुनाथ जी न्याय करनेवाले हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। श्रीराम दूसरों के मन को रमानेवाले पुरुषों में श्रेष्ठ हैं।

स सामः स च मृत्युश्च स यमो धनदस्तथा।
वहिनः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वै वरुणस्तथा।।

वे ही चन्द्रमा हैं, वे ही मृत्यु हैं, वे ही यम, कुबेर, अग्नि, इन्द्र, सूर्य, और वरुण हैं। इतना कहने के बाद वह कुता अपना संदेश श्रीराम तक लक्ष्मण जी से भेजवाया और श्रीराम के आज्ञा पाने पर ही वह दरबार में उपस्थित हुआ। इस प्रकार श्रीराम के राज्य में छोटे से छोटे व्यक्ति को भी न्याय सुलभ था। राजा जब तक न्यायी नहीं होता है तक तक उसके राज्य में शान्ति व्यवस्था कायम नही होती है। इसलिए राजा को न्यायप्रिय होना चाहिए। रामराज्य में न्याय किसी का मुख देखकर नही किया जाता था। जो न्याय संगत होता था। वही न्याय किया जाता था। राम के राज्य में केवल वही कार्य होता था जो उचित होता था। श्रीराम ने अपनी अनुकम्पा का आधार जाति को नही भक्ति को बनाया था।

सहज सनेही विबस रधुराई।

श्रीराम का सम्पूर्ण जीवन पतितोद्धार, दलितोद्धार तथा अछुतोद्धार में बीता। इस संदर्भ में अहिल्या पर प्रभु की कृपा ध्यानदेने योग्य है। जनश्रुति है कि महर्षि गौतम की पत्नी अहल्या पापचरण के कारण शिला में परिवर्तित हो गयी थी और श्रीराम के चरणों के पावन स्पर्श के बाद ही उनका जीवन सार्थक हुआ। इस संबंध में अनेक ग्रन्थ मतभेद प्रकट करते है परन्तु आश्रम में श्रीराम के प्रवेश से ही अहल्या को एक नवदिव्य जीवन प्राप्त हुआ। श्रीराम का शील लोकोतर था। अगर सच्चे हृदय से कोई अपराधी भी अपनी क्षमा याचना करता था तो श्रीराम उन्हें क्षमा कर देते थे। वाल्मीकी रामायण के अनुसार श्रीराम तथा लक्ष्मण ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अहल्या के दोनों चरणों का स्पर्श किया।

राधवौ तु सदा तस्या पादौ जगृहतुर्मुदा।[6]

उपरोक्त घटनाओं से यह प्रमाणित होता है कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि भगवान की शरण में चला जाता है, तो वे उस पर अनुग्रह करते है। उनकी कृपा का आधार जाति, लिंग रंग, वर्ण या संप्रदाय विशेष नहीं प्रत्युत निश्छल प्रेम है। उनके लिए सभी प्राणी समान है तथा सभी को समान अधिकार है। राम के कुछ और भी कार्य निम्नलिखित है जो उन्हें एक आदर्श शासक के रुप में प्रस्तुत करता है।

केवट प्रसंग:- रामायण में केवट प्रसंग वनगमन के समय आता है। जिससे वे जंगलो से होते हुए अपने मित्र निषादराज के पास पहुचते हैं और उन्हें गले लगाते है। राम में अगर जाति भावना रहती तो निषाद को अपना मित्र नही बनाते तथा उसे गले नही लगाते। इतना ही नहीं केवट गंगा नदी पार करने से पहले श्रीराम के चरणों को पखारने की जिद करता है और वह श्रीराम के प्रभाव को जानता है कि मुझ शुद्र पर श्रीराम क्रोध नही करेगें और मेरा तिरस्कार भी नही करेंगे। इसलिए उसने कहा-

बरुतीर मारहुं लखनु पै जब लगनि पाय पखाररिहौ।
तब लगिन तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौ।।[7]

इस प्रकार वे दीनहीनों पर दया भी करते थे तथा उन्हें अपनाते भी थे। यह एक आदर्श शासक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अछूतोदार:- श्री राम के लिए समाज में कोई अछूत नही था। वह सभी से प्रेम करते थे। इसके उदाहरण रुप मे हम निषादराज एवं सबरी को पाते है। इतना ही नहीं वानर जाति के राजा सुग्रीव को वे अपना मित्र बनाते है। बाल्मीकी रामायण में तो निषादराज के लिए के लिए 'रामसखा' का प्रयोग हुआ है। रामसखा निषादराज ऐसे जाति का है जिसकी छाया पड़ने पर लोग गंगाजल से स्नान कर पवित्र होते थे। जब लक्षमण और सीता के साथ राम श्रृगवेरपुर पहुचे तो निषाद अपने बन्धु-बान्धओं के साथ राम से गले मिला तथा राम ने उसे अपने पास बैठाया।

नाथ कुसल पद पंकज देखे, भयंउ भाग भाजन जन लेखे।
देव धरनि धनु धाम तुम्हारा, मै जनम नीचु सहित परिवारा।।[8]

निषादराज गुह इसलिए निम्नजाति का कहा जा सकता है क्योकि वह एक बार स्वयं महर्षि वशिष्ठ को दूर से ही प्रणाम किया। अगर वह निम्नजाति का नही होता तो ऐसा नहीं करता। जो निम्न चौपाई से स्पष्ट होता है-

देखी दूर ते कहि निज नामू।
कीन्ह मुनी सहि दण्ड प्रणामू।।

परन्तु श्रीराम इतने उदार थे कि उसी निषादराज गुह को गले लगाया तथा उसने जो भांति-भांति के भोज्य-पदार्थ को श्रीराम के सेवा में अर्पित किया था उसे ग्रहण भी किया। इतना ही नहीं श्रीराम और लक्ष्मण माता सबरी के आश्रम में पहुँचते है तो वह अपने श्रीराम प्रभु को जुठे बैर खिलाती है और श्रीराम उसे ग्रहण करते है, क्योंकि सबरी भी एक निम्नजाति की थी और वह प्रेमविवश होकर श्रीराम को मिठे फल खिलाने हेतु बैर को चखकर ही दिया था। इसलिए श्रीराम किसी भी जाति या व्यक्ति से कोई भेदभाव नहीं करते थे। उनके लिए सभी जाति एवं धर्म के लोग प्रिय थे और अपने थे।

परिवाररिक मूल्यों की रक्षा एवं एक आदर्श व्यवहार की प्रस्तुति:- श्री राम बाल्यकाल से ही एक आदर्श व्यवहार को अपनाकर मानव मूल्यों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। आज बचपन में बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाय तो बच्चे निश्चित रुप से आज्ञाकारी एवं आदर्श बालक बनेगे। इस प्रकार बाल्यकाल से ही श्रीराम एक आदर्श स्थापित कर रहे है जो वर्तमान में अपनाकर समाज को आगे बढ़ाया जा सकता है। आज समाज में इस प्रकार की शिक्षा की कमी है, क्योंकि आज के बच्चे ऐसे संस्कार विहिन

हो गये है जो अपने माता-पिता की सेवा करना भूल गये है तथा इनकी कुप्रवृति तो तब दिखती है जब ये अपने माता-पिता को वृद्धाश्रम में रख देते है। इसलिए हमें बच्चें को बचपन से ही संस्कारवान बनने की जरुरत है। श्रीराम बचपन से ही माता-पिता और गुरुजनों को देवतुल्य मानते थे। इस सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है-

प्रात:काल उठि के रधुनाथा।
गुरु पितामातु नवावहि माथा।।

इतनी ही नहीं भरत को प्रेमवश हर्षित होकर राज्य चलाने की आज्ञा दी तथा भरत भी कितने आदर्श पुरुष थे कि वे श्रीराम के चरणपादुका को लाकर राज्य किया। ऐसा प्रसंग आज के समय में दूलर्भ है। पिता के मात्र कहने पर चौदह वर्ष बन में रहने के लिए तैयार हो गये एवं हर्षित मन से वन के कष्टों को सहन किया। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर भ्रातित्व प्रेम में उन्होने कहा कि कि मुझे मालुम होता कि बन में भाई से अलगाव होगा तो मैं वन में नही जाता और न पिता का आदेश मानता। श्रीराम में अपने स्वजनों के प्रति इतना प्रेम था कि वह केकई को कभी भी अपने से अलग नही माना। जितना सम्मान वे कौशल्या का करते थे। उतना ही सम्मान वे कैकई को देते थे। जबकि कैकई ने ही राम के वनगमन की मांग की थी।

भेदभावरहित:- श्रीराम में किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं था। वे सभी को एक समान देखते थे। उनके नजरों में कोई छोटा या बड़ा नही था। किसी भी जाति का हो वे सभी से प्रेम करते थे। इसलिए उन्होंने सुग्रीव को मित्र बनाया जो वानरजाति के थे तथा विभिषण को अपनाया जो राक्षसकुल से थे। सबरी का जुठा बैर भी खाया जो प्रेम से वंशीभूत होकर मिठे फल के रुप में बैर को चखकर श्रीराम को खिला रही थी। राजा होने पर अपनी पत्नी सीता का परित्याग इसलिए कर दिया, क्योकि प्रजा में सीता के प्रति जो अभी भी घृणा थी कि वह रावण के महल में रहकर आयी है पवित्र नहीं होगी। इस प्रकार एक आदर्श शासक के कर्त्तव्यों का जो पालन राम ने किया वह आज अन्य शासको या जनता के प्रतिनिधियों में नहीं पाया जाता है।

रामराज्य की विशेषता:- रामराज्य में सभी प्रजा सुखी सम्पन्न रहती थी। किसी भी प्रजा को कोई दुख नही होता था। प्रजा शान्ति एवं सुख का अनुभव करती थी। पृथ्वी पर सभी प्राणी अपने जीवन में सुखमय आनंद की अनुभूति करते थे। राम का अधिकांश समय धर्म-पालन में व्यतित हो रहा था। रामायण में इसका उल्लेख महर्षि वाल्मीकि में किया है कि:

एवं स काल: सुमहान् राज्य स्थस्य महात्मन:।
धर्मे प्रयतमानस्य व्यतीयाद् राधवस्य च।।[9]

श्री राम के राज्य की स्थिति यह थी कि मानव एवं पशु तक शासन के अनुरुप थे। यानी शासन की व्यवस्था ऐसी थी कि किसी भी प्राणि को अनाचार कुव्यवहार या अन्य गलत आचरण की कोई विशेष छुट नहीं थी। आज के समय में तो इसका सर्वत्र अभाव दिखता है। किसी समाज या देश में अक्सर ऐसा देखा जा रहा है कि वहाँ का शासक अपने लिए संविधान में अलग से व्यवस्था करा रखा है और उसे कोई गलत काम के लिए दण्डित नही कर सकता। परन्तु राम के राज्य में पत्नी या भाई ही राजा का क्यों न हो गलत के निए उन्हें दण्ड अवश्य मिला है। महर्षि वाल्मीकि ने उल्लेख किया है कि-

ऋक्षवानररक्षांसि स्थिता रामस्य शासने।
अनुरज्जन्ति राजानों हयहन्यहनि राधावम्।[10]

श्री राम के राज्य में रीछ, वानर, राक्षर, सभी राजा के अधिन रहते थे तथा राजा के आज्ञा का पालन करना ही उनका धर्म था। राम के राज्य की स्थिति अत्यन्त सुखद थी।

काले वर्षतिपर्जन्य: सुमिक्षं विमनादिश:।
ह: पुष्टजनाकीर्ण पुरं जनपदास्तया।।
नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधि: प्राणिनां तथा।
नानर्थे विद्यते कश्चिद् रामें राज्यं प्रशासति।।

यानी राम के राज्य में समय पर वर्षा होती थी। अकाल नहीं पड़ता था। सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न दिखती थी तथा नगर और जनपद के सभी निवासी हृष्ट-पुष्ट दिखते थे। श्रीराम के शासन का प्रभाव ऐसा था कि किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती थी तथा किसी

को कोई रोग नहीं होता था। नही किसी प्रकार का कोई उपद्रव कही देखने को मिलता था। इस प्रकार श्रीराम का राज्य शान्ति, समृद्धि एवं सुख का केन्द्र था।

निष्कर्ष:- मैं निष्कर्ष स्वरुप यह कह सकता हूँ कि श्रीराम जैसा आदर्श शासक न आजतक इस पृथवी पर हुआ है न होगा। श्रीराम के शासन में जो व्यवस्था थी वह आदर्श शासक के प्रभाव के कारण ही थी। आज वर्तमान समय में आरक्षण एवं विभिन्न आयोगों को इसलिए बनाया गया है कि वे वंचितों की सेवा करेगे एवं उनका उत्थान करेगे। जबकि श्रीराम के राज्य में स्वयं शासक इसे दुर कर के दिखा दिया था कि प्रजा में कोई भेदभाव नहीं होनी चाहिए। राम के शासन में सबसे बड़ी विशेषता यह देखने को मिलती है कि राजा अपनी पत्नी को वन में भेज देते है तथा आज्ञा के उल्लंधन में अपने भाई लक्षमण को राज्य से निकाल देते है। यह एक आदर्श शासक ही कर सकता है। वात्सल्य एवं प्रेम की प्रतिमूर्ति है। उनको जनता सबसे प्रिय मानती है तो निश्चित रुप से लोकप्रिय शासक रहे होगे। इसलिए इस शोधपत्र के द्वारा एक आदर्श शासक की खोज में श्रीराम को चिन्हीत किया गया है। इसलिए इस शोधपत्र से राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन एवं समाजशास्त्र जैसे विषयों में लाभ मिलेगा तथा उनके अध्ययन में इस शोधपत्र से सहयोग प्राप्त होगा।

संदर्भ सूची :-

1. वाल्मीकी रामायण 2/4/61।
2. वही 5/15/49।
3. युद्धकाण्ड, नवाधिकशततम् सर्गः, बाल्मीकी रामायण, श्लोक 6-7।।
4. युद्धकाण्ड, पच्चविंश सर्ग, श्लोक 28-30।
5. उत्तरकाण्ड, प्रक्षिप्तसर्गः, वाल्मीकी रामायण श्लोक-22।
6. वाल्मीकी रामायण, बालकाण्ड 49/17/ ।
7. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड-100 ।
8. वही, अयोध्याकाण्ड-51
9. वाल्मीकीयरामायण, उत्तरकाण्ड, एकोनशततम् सर्गः श्लोक 11।
10. वही, श्लोक 12

भारत के उत्तरपूर्वी राज्यों के अलगाववाद को कम करने में म्यांमार की भूमिका

डॉ० पप्पु कुमार

स्नात्तकोतर राजनीति विज्ञान विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

शोध सार:- भारत के उतरपूर्वी भागो में अलगाववाद ने एक भयानक रुप ले लिया है और यह समस्या कई वर्षो से भारत के लिए एक अभिशाप बन गयी है। इससे भारत के राष्ट्रीय एकता को खतरा है तथा भारत की शांति में यह समस्या एक प्रमुख बाधा है। इससे बचने एवं इसके निदान हेतु भारत सरकार द्वारा निरन्तर प्रयास किये जा रहे है। जिससे इस समस्या को दूर किया जा सके। इसे क्षेत्र में म्यांमार का सहयोग भारत को मिला है तथा म्यांमार भी भारत से संबंध सुधारने कि दिशा में वह हर क्षेत्र में भारत को मदद करने के लिए तैयार है।

भारत के उत्तर पूर्वी हिस्से में 8 राज्य हैं। प्रत्येक राज्य की अपनी खास संस्कृति एंव परंपरा है। भारत के इस हिस्से को अलगवादी आन्दोलन को पैदा करने वाले हिस्से के रूप में दर्शाया जाता है। चारो ओर जमीन से घिरे इस क्षेत्र में 30 विद्रोही संगठन फल-फूल रहे हैं। ये विद्रोही सगंठन नई दिल्ली से स्वासत्तता यास्व-शासन की माँग के लिये संघर्षरत हैं। नेपाल, भुटान, तिब्बत, बर्मा और बंगलादेश से घिरे इस क्षेत्र का भारत के साथ जुड़ाव, भारतीय सीमा रेखा के 3% हिस्से के जरिये ही हो पाता है।

भारतीय संघ ने इस क्षेत्र को दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में एक व्यापारिक क्षेत्र के रूप में विकसित करने के लिये बहुत-सी योजनाओं एवं प्रस्तावों का मसौदा तैयार किया है। नई दिल्ली की 'पूर्व की ओर देखो नीती', इस क्षेत्र के मूलवासियों को आर्थिक लाभ देने की नीति है। बर्मा के पश्चिमी समुद्री किनारा स्थित अराकान में सिन्वे बंदरगाह को विकसित करने के लिये भारत ने करोड़ों अमरीकी डालर की एक कालादान परियोजना को लागू करने का निश्चय किया है। यह पश्चिमी बर्मा को मिजोरम से जोड़ेगा। इसके साथ ही भारत-बर्मा पाइप लाईन भी उत्तर-पूर्व के आर्थिक हितों के एक बड़े अवसर के रूप में प्रचारित किया गया।

भारत के लिये परिस्थिति तब तक अनुकूल चल रही थी, लेकिन बर्मा में अचानक जनविद्रोह भड़क उठा। भारत सरकार द्वारा सैनिक शासकों को खुश करने की नीति की अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं यूरोपीय संघ शामिल हैं, ने आलोचना की लेकिन भारत के लिये असली चुनौती उन अलगाववादी क्षेत्रों से आ रही है जहाँ आम सभाओं, रैलियों तथा अन्य पहलों को अच्छा समर्थन हासिल हो रहा है। इसके माध्यम से इस क्षेत्र की जनता बर्मा में जारी जनविद्रोह का समर्थन कर रही है तथा बर्मा के जनतंत्र समर्थक महानायिका डाउ आँग-सू-की के पक्ष में खड़ी थी।

वर्मा की सीमा से सटे उत्तर पूर्व के राज्य मणिपुर में हाल में आयोजित एक सम्मेलन सर्वसम्मति से बर्मा की जनता द्वारा जनतंत्र को लागू करने के संघर्ष को समर्थन देने का निर्णय लिया। "मानव-अधिकारों की रक्षा के लिये नागा जनआन्दोलन" की ओर से 13 अक्टूबर 2012 को उखरूल में इस सम्मेलन का आयोलना किया गया। इसमें विभिन्न सामाजिक संगठनों, गिरजाघरों के प्रतिनिधियों, गैर सरकारी संगठनों एवं अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन ने बर्मा की सैनिक सत्ता का आह्वान करते हुए कहा कि बर्मा की लम्बे समय से उलझी समस्याओं को शांतिपूर्ण जनतांत्रिक ढंग से सुलझाई जाय।

इसके पूर्व इस राज्य में 2 अक्टूबर 2012 को एक एकजुटता बैठक का आयोजन किया गया। इस बैठक ने मजबूती से भारत सरकार से आग्रह किया कि वह सैनिक जनता के साथ अपने सभी संबंधों को खत्म करें। प्रमुख कानून निर्माताओं, शांति के लिये कार्यरत कार्य-कर्ताओं, मानवधिकार कार्यकर्त्ताओं, शांति के लिये कार्यरत कार्य-कार्ताओं तथा अन्य लोगों ने बैठक में शिरक्त की। बैठक ने अपने प्रस्ताव के जरिये बर्मा के जनतांत्रिक आन्दोलन को बिना शर्त समर्थन करने की घोषणा की।

अभी हाल में मणीपुर में हजारों ईसाइयों ने एक प्रार्थना अभियान में शामिल होकर बर्मा में जनतंत्र एवं स्वतंत्रता का समर्थन किया। 21 अक्टूबर 2012 को म्यांमार ईसाई फेलोशिप जिसमें बर्मा के प्रवासी ईसाई भी शामिल हैं, ने आँग-शान-सू-की के प्रति अपनी एकजुटता प्रदर्शित करते हुए, सर्वशक्तिमान भगवान से प्रार्थना कारते हुए माँग की कि बर्मा के सभी राजनैतिक बंदियों को रिहा किया जाय रिसमें बर्मा की महानायिका भी शामिल हैं। इसके पूर्व 6 अक्टूबर को मेघालय, नागालैंड, असम के नागरिक समाज ने स्वतंत्र बर्मा के पक्ष में विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से वैश्विक आन्दोलन दिवस के रूप में मनाया। इसी दिन इन राज्यों में आयोजित प्रदर्शनों के जनिये बर्मा के शांतिपूर्ण ढंग से संघर्षरत भिक्षुओं, जिन्हें बर्मा की सत्ता ने क्रूरतापूर्वक कुचल दिया, के प्रति समान रूप से अपनी चिंता प्रकट की गई। शिलागं के पास माउफ्लांग मे करीब 20 हजार लोग इकट्ठे हुए और केन्द्र से अनुरोघ किया कि वह बर्मा में उत्पन्न संकट में हस्तक्षेप करें तथा सैनिक शासन पर राजनयिक दबाव डालकर उसे जनतांत्रिक शक्तियों से वार्ता के लिये राजी करें।

बर्मा की सीमा से सटे दूसरे राज्य नागालैंड में वहाँ के मूल निवासियों ने एक रैली के जरिये संयुक्त राष्ट्रसंघ से तत्काल हस्तक्षेप की माँग करते हुए कहा कि बर्मा की सेना के अधिकारी समूह के खिलाफ सख्त कार्रवाइयाँ की जाय तथा वहाँ लम्बे समय से चले आ रहे संकट को सुलझाया जाय। नागा हो-हो, नागा छात्र फेडरेशन, नागा पीपुल्स मूवमेन्ट फार ह्यूमेन राइट्स ''नागालैंड बैपटिस्टचर्च" तथा अन्य प्रभावी नागनिक सामाजिक समूहों द्वारा आयोजित इस रैली में ''हाथ में लिये हुए पट्टी के माध्यम से" शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर हमला बंद करो", बर्मा की जनता को सैनिक शासन से मुक्त करो ''तथा 1988 की हत्याकांड मत दुहराओ" आदि नारे प्रदर्शनकारियों लगा रहे थे।

इसी तरह असम में मोमबत्ती जलाकर सैकड़ो लोगों ने बर्मा की संघर्षरत जनता के प्रति एकजुटता प्रदर्षित की। उत्तर-पूर्व जनता की पहल द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में सैंकड़ों लोग शामिल हुए। इसके माध्यम से नोबेल विजेता आँग-शान सू-की के प्रति समर्थन व्यक्त करते हुए इस संदेश को दूर-दूर तक फैलाया गया।

इसके पूर्व 4 अक्टूबर 2012 को गुवाहाटी में नागरिकों की एक बैठक में केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया गया कि बर्मा की सैनिक सत्ता पर राजनयिक दबाव डाला जाय और उसे हिदायत दी जाय कि जनतांत्रिक आंदोलन से जुड़े लोंगो के खिलाफ कोई दमनात्मक कार्यवाई न की जाय। असम के जरिये भारत सरकार से कहा गया कि अपने पड़ोसी देश में घट रही घटनाओं के प्रति वह मूकदर्शक न हो तथा अपनी क्षमता के अनुरूप वहाँ जनतंत्र के शांतिपूर्व रूपान्तरण का रास्ता प्रशस्त करें।

इसी तरह "बर्मा में जनतंत्र के लिये मिजोरम कमिटी" ने नई दिल्ली की सरकार को बर्मा की सैनिक सत्ता को अपना संविधान बदलने तथा जनतांत्रिक व्यवस्था कायम करने के लिये राजी करने में सक्रिय भूमिका निभाने की अपील की 20 अक्टूबर 2012 को अजबैल में एक पत्रकार सम्मेलन में कमिटी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा कि वह बर्मा में जनतंत्र चाहती है। इस कमिटी में नागरिक समाज मानव अधिकार कार्यकर्ता-बुद्विजीवी तथा मिजोरम की चेतनशील जनता शामिल थी। इस कमिटी ने जोर देते हुए कहा कि केन्द्र सरकार बर्मा के वर्तमान राजनैतिक संकट में हस्तक्षेप करें। इसके पूर्व 4 अक्टूबर 2012 को बर्मा की सीमा से सटे राज्य में एक एकजुटता बैठक के जरिये माँग की गई कि नई दिल्ली बर्मा की सैनिक सत्ता के साथ अपने सभी संबंध तबतक तोड ले जबतक कि बर्मा में जनतंत्र की पुनर्स्थापना न हो जाय । मिजोरम में आयोजित बर्मा की सैनिक सत्ता के खिलाफ बैठक का महत्व इस अर्थ में बहुत ज्यादा है क्योंकि इस छोटे से राज्य में बर्मा से आए हुए करीब 40 हजार चीन शरणार्था हैं जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के उच्चायुक्त द्वारा अभी भी शरणार्थी का दर्जा देना बाकी है । 1988 में बर्मा में हुए जनविद्रोह के दौरान हुए दमन के बाद विभिन्न समूहों में भारत के अन्दर प्रवेश किया। वे मिजोरम में अपने को सुरक्षित समझते हैं क्योंकि मीजो एवं चिनी आदिवासी के बीच भाषाई समानता है तथा सामाजिक एवं धार्मिक नैतिकता भी एक ही तरह की है।

बर्मा के सैनिक शासन के साथ अपने राजनैतिक संबंधों को लेकर आलोचना का शिकार होने के बावजुद नई दिल्ली अपने कदम को लगातार सही करार दे रही है। इसके तर्क है कि वह सैनिक जनता को अलग-अलग करने के बजाय उसके साथ बातचीत कर रही है। उत्तर पूर्व के दौरे पर अभी हाल में आये विदेश मंत्री ने इस बात को दुहराया कि नई दिल्ली म्यांमार के साथ बहुत-सी परियोजनाओं में शामिल है। विभिन्न क्षेत्रों की परियोजनाएँ जैसे पथ निर्माण, रेल, दूर संचार, सूचना तकनीक, विज्ञान एवं तकनीक, ऊर्जा इसमें प्रमुख है। गुवहाटी में ''पूर्व की ओर देखो" नीति पर बोलते हूए प्रणव मुखर्जी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा कि एक मित्र पड़ोसी के रूप में भारत एक शान्तिपूर्ण, सर्मद्धशाली एवं स्थिर, म्यांमार देखाना चाहता है, जहाँ सभी तबकों के लोग राष्ट्रीय सहमति एवं राजनैतिक सुधार की विस्तृत आधार वाली प्रक्रिया में शामिल हों।

1990 के दशक के शुरूआती दौर तथा भारत ने बर्मा के जनतांत्रिक आन्दोलन का समर्थन किया था लेकिन उस देश में चीन के बढ़ते प्रभाव से भारत चिन्तित है। भारत ने बर्मा के बारे में अपनी नीतियों में बदलाव लाया तथा बर्मा के बारे साथ बड़े आर्थिक सहयोग के रास्ते पर चलने लगा। भारत की दूसरी सबसे बडी चिन्ता उत्तर-पूर्व के क्षेत्र में बढ़ती विद्रोही गतिविधियाँ है। सशस्त्र विद्रोही समूह उत्तर बर्मा के घने जंगलों का इस्तेमाल अस्त्र-शस्त्र के प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में कर रहे हैं। भारत का तर्क है कि वह सैनिक सत्ता के प्रति आँखें नहीं मूँद सकता है क्योंकि वह भारत-बर्मा से जुड़े 1600 कि. मी. लम्बे खुले सीमा पर चल रहे विद्रोही गतिविधियों पर काबू पाने में मदद कर रहा था।

लेकिन जमीनी सच्चाई यही है कि नई दिल्ली के खिलाफ उत्तर पूर्व के लोगों में बहुत ज्यादा क्षोभ व्याप्त है। यहाँ के मूल निवासियों की यह समझ है कि केन्द्र सरकार इस क्षेत्र के तेल, कोयला, चाय, जंगल जैसे संसाधनों का दोहन करती है लेकिन उत्तर-पूर्व राज्यों की शाश्वत समस्याओं के प्रति बहरी बनी रहती है। अलग-थलग पड़े उत्तर पूर्व क्षेत्र के निवासियों के बढ़ते गुस्से का सामना करना, भारत सरकार के लिये एक बड़ी चुनौती है। हालांकि इसमें कोई शंका नहीं है कि उत्तर पूर्व के लोग अस्थिर बर्मा के चलते इसके महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। जहाँ एक ओर यह क्षेत्र बर्मा से आने वाले शरणार्थियों की शरण स्थली बना हुआ है वहीं इसके निवासी अवैध नशीले पदर्थों के व्यापार, अस्त्र-शस्त्र के अवैध कारोबार को अपने सामने होते देखते रहते हैं। अत: इस क्षेत्र के गरीब लोग इस कारोबार से जुड़ जाते हैं। उत्तर पूर्व के लोगों के बीच एच.आई.वी. एड्स चिन्ताजनक स्तर पर पहुँच चुका है।

हमारे देश के खेलों के लिये बड़े-बड़े खिलाड़ियों का निर्माण करने वाला राज्य आज एच.आई.वी. संक्रमित सबसे बड़े राज्य में बदल गया है। इस क्षेत्र के प्रतिभाशाली एवं क्षमतावान युवा नशे के दलदल में फंस रहे हैं। बर्मा से नशीले पदार्थों के अवैध आपूर्ति के चलते जिससे दूसरी खतरनाक बीमारियाँ भी पैदा हो सकती है। प्रश्न उठता है कि क्या नई दिल्ली को इन तमाम घटना विकासों के प्रति उदासीन नही रहना चाहिये। जो इन क्षेत्र को प्रभावित कर रहा है। वस्तुत: यह उत्तर पूर्व की समस्याओं को हल करने हल के सिलसिले में वहाँ की परिस्थितियों को सही तरीके से समझना चाहिये। उस क्षेत्र में स्वाधीनता के बाद से ही भारत विरोधी आवाजें उठती रही है । उत्तर-पूर्व के लोगों में अगर बर्मा के सैनिक शासकों के खिलाफ क्षोभ बढ़ेगा तो इसके चलते भारत सरकार की मुश्किलें आने वाले समय में बढ़ेंगी ।

पिछले कुछ दिनों में बर्मा के सैनिक शासन द्वारा शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों तथा बौद्व भिक्षुओं के खिलाफ की गई क्रूरतापूर्ण कार्रवाइयों के चलते हुए बौद्व भिक्षुओं की संभावित मृत्यु की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बड़ी आलोचनाएँ हुई हैं। जनतंत्र पक्षी कार्यकर्त्ताओं ने सैनिक शासन के खिलाफ अपना संघर्ष तेज कर दिया है। अत: म्यांमार की परिस्थिति का उत्तर पूर्व के राज्यों पर क्या असर पड़ रहा है, इसकी जाँच आवश्यक है। हमें अभी इस संबंध में तमाम पहलुओं पर नजर डालनी होगी। सीमा व्यापार, बर्मा और उत्तर पूर्व की जनता के बीच आपसी संबंघ का अभाव तथा भारत के पूर्व की ओर देखो नीति के निर्धारण में उत्तर पूर्व के राज्यों का प्रभाव आदि।

उत्तर पूर्व राज्य म्यांमार से लगातार जुड़ा हुआ है जो करीब 1600 किमी. की सीमा तक फैला हुआ है। दोनों क्षेत्रों के बीच सीमा व्यापार महत्वपूर्ण स्थान रखता है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के कुछ जगहों पर ही यह सीमित है। बर्मा के सैनिक शासकों द्वारा म्यांमार से जुड़े सीमा पर सेनाओं की बड़े पैमाने पर आवाजाही के चलते इस व्यापार में कमी आई है। इस तरह के भड़काऊ उपस्थिति में व्यापारी लोग कोई खतरा मोल लेना नहीं चाहते हैं।

माण्डले और यागोन के बाजार बंद कर दिये गये हैं तथा नामधा लॉग स्थित सीमा व्यापार चौकी भी बंद कर दी गयी है। इस बात पर गौर करना महत्वपूर्ण है कि म्यांमार के साथ व्यापार के लिये मणीपुर एवं मिजोरम राज्यों के पास विशेष नीतियाँ हैं। ये नीतियाँ भारत सरकार की नीतियों से मेल नहीं खाती है। भारतवर्ष की बर्मा के सम्बन्ध में नीति ऊर्जा एवं रणनैतिक हितों से जुड़ी हुई है।

तेजी से विकसित हो रहे दक्षिण पूर्व एशियाई मुल्कों कें साथ उत्तर पूर्व के जुड़ाव में बर्मा प्रधान बाधा के रूप में है। अगर दक्षिण पूर्व एशिया के साथ उत्तर-पूर्व क्षेत्र का जुड़ाव हो जाय तो यह समृद्ध आर्थिक गतिविधि के केन्द्र के रूप में उभरेगा और इससे बड़े स्तर पर क्षेत्रीय जुड़ाव होगा। उत्तर पूर्वी क्षेत्र के विद्रोहियों के प्रशिक्षण शिविर म्यांमार में तभी तक फले फूलेंगे जबतक वहाँ सैनिक शासन रहता है क्योंकि इस गतिविधि से म्यांमार के सैनिक सत्ता को भारत के खिलाफ लाभ की स्थिति बनी रहती है। बर्मा के सैनिक शासन के साथ भारत का खुल्लम-खुल्ला संबंध पूरी तरह गलत है और भारत इस बात को समझ नहीं पा रहा है कि बर्मा में जनतंत्र के फलने फूलने से इस क्षेत्र की क्षमता का पूरा दोहन हो सकेगा तथा यह इस क्षेत्र और भारत के राष्ट्रीय हितों में

होगा। ऊपरी असम के डिब्रूगढ़ के मनकोट्ठा रोड पर असम की जनता अपनी प्रतिदिन की गतिविधियों के लिये आती जाती रहती है। यह विडंबना ही है कि इसका नाम ब्रिटिश शासन के समय उत्तर पूर्व भारत पर हमला करने वाले बर्मावासियों के नाम पर रखा गया है। हमलावर बर्मियों द्वारा उत्तर-पूर्व के लोगों पर किये गये अत्याचारों की कहानियाँ आज भी लोगों की यादों का हिस्सा बनी हुई है। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में उत्तर पूर्व की जनता का म्यांमार के साथ संबंध को लेकर एक मनोवैज्ञानिक दुराव एवं घृणा की भावना है। पीढ़ियों के गुजरने के साथ-साथ अब यह बात खत्म हो चुकी है। आज क्षेत्रीय सहयोग एवं एक-दूसरे के लाभ की बात हो रही है।

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि अहोम जाति के लोगों को ही बर्मा के शासकों ने सबसे पहले निर्वासित किया था और वे लम्बा रास्ता तय कर असम में 1228 ए.डी. में आकर बसे। मूलतः वे दक्षिणी बर्मा में रह रहे शान आदिवासी समुदाय से आते थे जिन्होंने 600 वर्षों तक असम पर शासन किया था। इस ऐतिहासिक मेलमिलाप के बावजूद आज इस वैश्विक दुनियाँ में आम जनों के बीच का रिश्ता टूट गया है। इसका कारण भारत एवं बर्मा की नीतियाँ हैं जिसने बर्मा और उत्तर पूर्व की जनता के बीच एक बनावटी दीवार खड़ी कर दी है ।

उत्तर पूर्व के लोगों एवं म्यांमार के लोगों के बीच आपसी संबंध कायम करने की बात भारत सरकार के कार्यक्रम का हिस्सा नहीं है। म्यांमार के साथ एक संवेदनशील नीति अपनाये जाने के लिए इस तरह की आपसी बातचीत बहुत आवश्यक है। भारत-एशियानार रैली की सफलता के बावजुद सीमा को खोला नहीं गया है। इस क्षेत्र की जनता ने इस कार्यक्रम का बहुत ही उत्साह एवं आशा से स्वीकार किया। कोलकता की मजबूत लॉबी इस तरह के कार्यक्रम को आगे बढ़ने से रोकती रही है क्योंकि म्यांमार के साथ होने वाला व्यापार कोलकाता के माध्यम से होता है। शुरूआती दौर में प्रस्तावित कालादान गैस पाइप लाईन परियोजना भी उत्तर-पूर्व राज्यों को छोड़कर बंगलादेश से होकर गुजरना था। उत्तर-पूर्व राज्यों को इस तरह अलग-थलग करने की नीति से वहाँ विकास का अभाव है और इसके विद्रोही गतिविधियाँ बढ़ रही है। उत्तर पूर्व राज्यों के पास वह राजनैतिक शक्ति नहीं है जिसके आधार पर एक ही झटके में केन्द्रीय सरकार की नीतियों को बदल दे और यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारत अभी तक नीतियों में इस तरह के बदलाव से होने वाले लाभों के प्रति जागरूक नहीं है।

उत्तर पूर्व भारत की जनता तथा म्यांमार द्वारा बड़े पैमाने पर निर्वासित जनता के बीच बड़ा समर्थन है। भारत को अपनी अवसरवादी एवं बनावटी नीतियों को त्यागकर इस भावना के साथ पूरी तरह जुड़ना चाहिये। यह कोई संकीर्ण उप-राष्ट्रीयता का हित नहीं है बल्कि स्वाभाविक जुड़ाव है जिसकी क्षमता का उपयोग कर इस क्षेत्र का सर्वांगीण विकास किया जाना चाहीये और इस बनावटी बंटवारे के आर-पार के लोगों की आशाओं को पूरा करना चाहिये। जैसे अगर एक कौवा गुवाहाटी के आसमान में उड़ता है तो यह दिल्ली की अपेक्षा हमोई के ज्यादा निकट है।

उत्तर-पूर्व की विद्रोही गतिविधियों पर काबू पाने के लिए म्यांमार के साथ समझौता

अपने पड़ोसी देश की जमीन से सक्रिय विद्रोही समूहों की गतिविधियों पर काबू परने के लिये भारत ने दोनो पक्षों के लिये कानूनी सहायता समझौता पर हस्ताक्षर किया है जिसके तहत म्यांमार में पकड़े जाने वाले भारतीय विद्रोह लड़ाके, भारत भेजे जा सकें जिससे उनके खिलाफ भारतीय कानून के अन्तर्गत कार्रवाई की जा सके।

भारत, म्यांमार के साथ इस तरह के सतझौते के लिये पिछले ढ़ाई दशकों से कोशिश कर रहा था। म्यांमार की सैनिक सरकार के प्रधान थानस्वे की भारत यात्रा के दौरान 25 एवं 26 जुलाई 2012 को इस समझौते पर हस्ताक्षर हुआ।

इस समझौते से भारत को सीमा के आर-पार होने वाले संगठित अपराधों, आतंकवादी गतिविधियों, नशीली दवाओं के अवैध व्यापार, रूपयों की कालाबाजारी, नकली नोटों के कारोबार तथा अस्त्र-शस्त्रों के अवैध व्यपार जैसी समस्याओं से निबटने में सहायता मिलेगी। भारत के गृह मंत्रालय के अनुसार म्यांमार में पकड़े जाने वाले भारतीय विद्रोहियों को भारत सरकार के हाथों सौंप दिया जायेगा। विदेश मंत्री के एक अनाम अधिकारी के अनुसार तब उन विद्रोहियों के खिलाफ भारतीय कानूनों के अन्तर्गत मुकदमा चलाया जायेगा। दोनों अधिकारियों ने अपना नाम गुप्त रखने की शर्त पर उपरोक्त बातें कहीं।

भारत, म्यांमार के बीच 1600 कि.मी. का बिना बाड़ की सीमा है। उत्तर-पूर्व के आदिवासी एवं आदिम आदिवासी समुदायों के भारतीय विद्रोही इस खुली सीमा का उपयोग करते हुए भारतीय क्षेत्र के अन्दर आकर "मारो और भाग जाओ" की रणनीति का इस्तेमाल करते रहे है।

उत्तर-पूर्व के आदिवासी एवं आदिम आदिवासी समूह ज्यादा स्वायत्तता या स्वाधीनता के लिये संघर्षरत हैं। कम-से-कम इस तरह के आधे दर्जन संगठन जिसमें असम का युनाइटेड़ लिबरेशन फ्रंट (उल्फा), नेशनलिस्ट कौंसिल ऑफ नागालैंड, खापलोंग गुट के बारे में कहा जाता है कि उत्तर म्यांमार के अन्दर इनके प्रशिक्षण शिविर हैं। हालाँकि वे अपनी गतिविधियों को भूटान, बंगला देश और नेपाल से भी चलाते हैं और अपनी जगह बदलते रहते हैं।

उत्तर-पूर्व राज्य मणीपुर के पूर्व राज्यपाल वेद मरवाह का कहना है कि इस समझौते से भारत को विद्रोही गतिविधियों से लड़ने का एक महत्वपूर्ण हथियार मिला है। मणीपुर, म्यांमार की सीमा से जुड़ा हुआ है।

इस समझौते से विद्रोहियों को यह साफ संदेश भेजा गया है कि पड़ोसी भूमि से वे अपनी गतिविधियाँ चलाने में अब उतने सुरक्षित एवं निश्चित नहीं है जितना वो समझते है। भारत की आन्तरिक सुरक्षा से जुड़े गृहमंत्रालय के पूर्व अधिकारी वेद परवाह का ऐसा कहना है।

विदेश मंत्रालय के एक दूसरे अधिकारी ने कहा कि जनतंत्र का अभाव एवं मानव अधिकारों के बारे में बहुत बुरे इतिहास के कारण अन्तर्राष्ट्रीय आलोचनाओं एवं प्रतिबंधों का सामना कर रहे म्यांमार ने इस तरह के समझौते पर किसी देश के साथ हस्ताक्षर किया है।

अपना नाम गुप्त रखने के आधार पर उन्होंने कहा कि इस तरह की सहायता के लिये हम 80 के दशक से ही जोर लगाते रहे हैं। भारत के अपराधियों की सूची में शामिल बहुत से लोग म्यांमार के जेलों में बंद हैं।

1980 एवं 90 के दशकों में भारत ने आँग-शान-सूकी के नेतृत्व में चलने वाले जनतंत्रपक्षी संघर्ष को अपना भरपूर समर्थन दिया। लेकिन उत्तर-पूर्व के विद्रोही समूहों द्वारा म्यांमार के अन्दर से चलाये जा रहे गतिविधियों को देखते हुए इसने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया।

उस समय से भारत ने सैनिक सरकार के साथ अपना संबंध कायम कर लिया है। भारत ने म्यांमार के आधारभूत संरचनाओं के विकास, तेल एंव गैस की खोज तथा कर्ज देकर अपना निवेश बढ़ाया है ।

थानस्वे के भारत आगमन पर भारत ने म्यामार में पथ निर्माण, कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी तथा बिजली संचरण लाइनों एवं रेलवे के विकास के लिये 2000 मीलियन अमरीकी डॉलर (करीब 930 करोड़ रूपयों) देने का आश्वासन दिया है। विदेशी मामलों के समीक्षकों की राय है कि इस समझौते से दोनों को लाभ मिलेगा।

दुनिया में कुछ ही देश हैं, उनमें भारत एक है जो म्यांमार से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में विदेशी मामलों के अध्ययन से जुड़ी प्राध्यापिका मनमोहनी कौल का कहना है कि भारत, म्यांमार में चीन के बढ़ते प्रभाव को संतुलित करना चाहता है जो दुनिया का सबसे बड़ा जनतांत्रिक देश एवं आर्थिक शक्ति है। भारत ने इस तरह के कानुनी सहायता आधारित समझौते 30 देशों के साथ किये हैं जिसमें नेपाल, बांगलादेश, अमेरिका, ब्रिटेन, रूस तथा संयुक्त अरब अमिरात शमिल हैं ऐसा गृह मंत्रालय का कहना है। बंगलादेश द्वारा उल्फा आतंकवादियों जिसमें संगठन के उच्च पदस्थ नेता अरविन्द राज खोबा तथा सेना संचालन से जुड़े उप प्रधान राजू बरूआ को भारत के हाथों सौपे जाने से इस समझौते का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

दूसरे अधिकारी के अनुसार इस तरह का सहयोग, राजनैतिक इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जब बहुत से देश एक-दूसरे की सहायता करने से इन्कार कर देते हैं जबकि उनके साथ ऐसा समझौता है।

उदाहरण के लिये सार्क देशों (क्षेत्रीय सहयोग के लिये दक्षिण पूर्व देशों का संघ) के बीच आतंकवाद पर एक सहमति है जिसके तहत सभी सदस्य देशों को आतंकवाद के खिलाफ एक-दूसरे की सहायता करनी है। लेकिन कुछ कानूनी समस्याओं एवं अन्य कठिनाइयों का हवला देकर कोई रास्ता निकाल लेते हैं, ऐसा एक अधिकारी ने अपना नाम गुप्त रखने की शर्त पर कहा। लेकिन बंगलादेश की सरकार एक ऐसा उदाहरण है जिसने खूंखार आतंकवादियों के बारे में जारकारी दी और उसे भारत के हाथों सुपूर्द कर दिया।

बाद में यागोन के सैनिक शासन के ''राजकीय शान्ति एवं विकास परिषद के उपाध्यक्ष माँग आर के नेतृत्व में 16 सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल नवंबर 2000 में भारत आया और यात्रा के दौरान सीमा के आर-पार परिवहन, संचार के आधारभूत संरचना की स्थापना के लिये आपसी सहयोग को बढ़ाने पर सहमति जताई जिससे व्यापार एवं लेन-देन के संबंध में बढ़ोतरी हो। एक संयुक्त वक्तव्य

के माध्यम से दोनों देशों में आतंकवादी गतिविधियों पर काबू पाने तथा आर्थिक संबंधों को सीमा के पास आगे बढ़ाने के लिये कदम उठाने पर सहमति बनी।

उत्तर-पूर्व सीमा पर स्थित मणीपुर राज्य के शहर मोरेह से म्यांमार के चिन्दविन नदी के पास कलेवा को जोड़ते हुए ऐतिहासिक भारत-म्यांमार पथ का निर्माण भारतीय सेना ने की जिसका उद्घाटन 13 फरवरी, 2001 को हुआ। दोनों ओर के समाचार माध्यमों से इस अवसर का स्वागत करते हुए इसे भिन्नता के नये युग की शुरूआत बताई। दोनों देशों को जोड़ने वाले पथों का खुलना दोनों के राजनैतिक आर्थिक एवं रणनैतिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। एशियाई उच्च पथ को युरोपीय महादेश से जोड़ने में यह पथ प्रमुख भूमिका निभायेगा।

उसके बाद से दोनों देशों के व्यापारिक रिश्तों में बहुत विस्तार हुआ है। आज भारत, चीन सिगाचुर, थाइलैंड के बाद म्यांमार का चौथा बड़ा व्यापारिक साझीदार है। 1994 से शुरू हुआ तीन निर्धारित बिन्दुओं से सीमा व्यामार जो मणीपुर, मिजोरम एवं नागालैंड़ की सीमाओं पर अवस्थित है, में तीव्रता आई है। हालाँकि व्यापार का लाइसेंस प्राप्त करने तथा विभिन्न विद्रोही समूहों द्वारा डराने एवं पैसे की माँग करने से कठिनाइयाँ बरकरार हैं।

अब यागोन इस बात पर राजी हो चुका है कि अगर भारत और म्यांमार काम करें तो एक-दूसरे की समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है। म्यांमार की नीति विद्रोही गतिविधियों वाले सीमा क्षेत्रों में आधारभूत संरचनाओं के विकास के साथ उन जगहों को केन्द्र से जोड़ने पर विशेष जोर है। अब जबकि पश्चिमी देशों के आर्थिक प्रतिबंधों के चलते अन्तर्राष्ट्रीय जगत में म्यांमार अलग-थलग पड़ गया है उस परिस्थिति में भारत के साथ म्यांमार को संबंध को सुधारने की दिशा में काम करना अति आवश्यक हो गया है।

निष्कर्ष:- भारत की शुरु से ही एक शांतिप्रिय राष्ट्र की नीति एवं राज्यों की स्वायतता के कारण भारत को कुछ समस्याओं का भी सामना करना पड़ा है। विरोधी देशों को उकसाने पर भारत के उत्तरपूर्वी राज्यों में कुछ अलगाववादियों द्वारा निरन्तर भारत के प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर हमले किये जाते रहे है जो एक विकट समस्या का रुप ले किया है परन्तु हाल के वर्षो में म्यांमार ने भारत के साथ संबंध सुधारने की दिशा में सहयोग देने के लिए हाथ बढ़ाया है। जो भारत के विदेश नीति का एक सफल एवं सुन्दर संयोग बनते हुए दिख रहा है। भारत शुरु से ही अपने पड़ोसी देशो के साथ एक अच्छे संबंध का पक्षधर रहा है। म्यांमार एवं एशियान देशों के साथ भारत को अपना व्यापारिक एवं विकास से जुड़े संबंध को म्यांमार के सत्ता परिवर्तन के प्रभाव से अलग करना तथा इसे थाइलैंड एवं अन्य एशियान देशों के साथ ऐसी रणनीति विकसित करने कि आवश्यकता है जिससे यह वास्तविक रूप से साकार हो सके। यह भारत का प्रमुख लक्ष्य यही रहा है। जैसा कि बंगलादेश में अवामी लीग जैसी मित्रवत् सरकार है, भारत को बांग्लादेश के माध्यम से वैकल्पिक सड़क एवं समुद्री रास्ता खोलना जिससे उत्तर-पूर्व में व्यापार और उद्योग के विकास का रस्ता खुल सके। इस दिशा में भारत निरन्तर काम कर रहा है।

संदर्भ सूची

1. भारत की म्यांमार नीति, (हिन्दुस्तान, दैनिक समाचार पत्र)
2. उत्तर-पूर्व विद्रोहियों पर म्यांमार का प्रभाव बी.बी. शर्मा, उत्तर पूर्व इण्डिया न्यूज।
3. वहि।
4. वहि।
5. वहि।
6. वहि।
7. वहि।
8. म्यांमार-म्यांमार का घटना विकास एवं उत्तर-पूर्व की समीक्षा, कर्नल आर. हरिहरण डब्ल्यू. डब्ल्यू. डब्ल्यू. दक्षिण एशिया विश्लेषण संगठन।
9. वहि।
10. वहि।

सूरदास की रचना में वात्सल्य

चन्द्रकान्त

नेट उत्तीर्ण (हिन्दी), स्नात्कोत्तर हिन्दी, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

शोधसार:- महाकवि सूरदास ने सूर सागर में वात्सल्य के क्षेत्र में रचनात्मक एक नया अध्याय उद्‌धाटित किया है। हिन्दी साहित्य में ही नहीं वरन् विश्व साहित्य में वात्सल्य को ऐसा मर्मस्पर्शी वर्णन देखने को नही मिलता है। किंचित इसके साक्ष्य में यह तथ्य काफी है कि सूरसागर के वात्सल्य वर्णन को लेकर काव्यशास्त्र में भी वात्सल्य रस को एक नया अध्याय जुड़ा। आचार्य शुक्ल सूर सागर की समीक्षा करते हुए यह कहते हैं कि सूर वात्सल्य और श्रृंगार दोनों क्षेत्रों के अप्रतिम सम्राट हैं वह मात्र हृदय का कोना-कोना झांक आए हैं। वस्तुत: वह जिस प्रकार माँ के हृदय में गहरे उतरकर प्रत्येक भाव की भंगी को पकड़ते हैं, उसी प्रकार बाल चेष्टाओं को भी बड़ी कुशलता के साथ उद्‌धाटित करते हैं। वात्सल्य 'वत्स' से व्युत्पादित शब्द है। यह संतान विषयक स्नेह का वाचक है। संतान माता-पिता का आत्मांश है: 'आत्मानां जायते पुत्र:।' माता-पिता के सहल स्नेह की जो अभिव्यक्ति होती है, वही वात्सल्य है। वात्सल्य भाव है, रस नहीं। यह वत्सल रस का स्थायी भाव है। प्राचीन आचार्यों ने 'वत्सल रस' की गणना रस के रुप में नहीं थी। भोजराज (11 वीं सदी) ने पहली बार वत्सल रस को स्वीकार करते हुए रसों की संख्या दस मानी है: 'श्रृंगार वीर करुणाद्‌भुत रौद्र हास्य वीभत्स भयानक शान्त नाम्न:' (श्रृंगार प्रकाश :1:6)। वत्सल रस में माता-पिता आश्रय हैं और संतान है आलम्बन। आचार्य विश्वनाथ (14वीं शताबदी पूर्वार्द्ध) के 'साहित्य दर्पण' में इसके उद्दीपन अनुभाव और संचारी भाव की व्यवस्था दी है। बच्चे की बाल-क्रीड़ा, चुतरता, वीरता विद्या आदि उद्दीपन हैं, उसके दर्शन, स्पर्श चुम्बन, आलिंगन आदि अनुभाव हैं तथा हर्ष, गर्व, आवेग एवं अनिष्ट की आशंका संचारी भाव है।[ङ।ऋ] वात्सल्य के दो भेद हैं- संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य। देवकी और वासुदेव कृष्ण को जन्म देते हैं, नन्द-यशोदा उन्हें पालते हैं। देवकी-वसुदेव का संयोग वात्सल्यक्षणिक है तथा वियोग वात्सल्य दीर्धकालिक, जबकि नंद-यशोदा के संयोग-वियोग वात्सल्य-दोनों दीर्धकालिक हैं। संयोग-वियोग वात्सल्य- दोनों दीर्धकालिक हैं। संयोग वात्सल्य की कई अन्तर्दशाएँ हैं- संतान की रुपछवि, निरखना, संतान की लीलाओं, चेष्टाओं से आनन्दित होना, माता-पिता की ममता और कर्त्तव्य का प्रकाशन आदि। गोकुल में यशोदा कृष्ण को पुत्ररुप में पाकर इतनी आनन्दित है कि गद्‌गद् कंठ बोल नही आवे।' उनके सौन्दर्य को देखकर नंद और यशोदा का वर्णनातीत सुख की अनुभूति हुई।[2]

आवहु कंठ, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाई।
दौरि नंद गए, सुख मुख देख्यौ, सो सुख मोपे बरनि न जाई।[3]

शब्द संकेत:- वात्सल्य, अभिलाषा, लौकिकता, मनमोहन, माखन, चोटी, संयोग, वियोग, बालक्रीड़ा, हलरावै, दुलराई, मल्हावै, अधर, सैन

वात्सलय श्रृंगार काव्य तथा शांत रसों का जितना अधिक उद्‌धाटन सूर ने अपनी बंद आँखो से किया है, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन्हें रस शिरोमणि कवि इसी आधार पर माना जाता है।[4]

सोभित कर नवनीत लिये
घुटुअन चलत रेनु तनु मंडित मुख लेप किये।[5]

सरीखे पदों में श्री कृष्ण की बाल लीला वर्णित है। इसी में वात्सल्य का भी निरुपम हुआ है। डॉ० गोबिन्दराम शर्मा की मान्यता है-

वात्सल्य स्नेह मानव मात्र की एक सहत प्रवृति है। सूर ने इस संतति मोह को कृष्णोन्मुख करके इसे अत्यंत परिष्कृत रुप दे दिया है। बाल लीला संबंधी पदो में यशोदा और नंद के संतति-स्नेह के रुप में वात्सल्य की अभिव्यक्ति सुंदर ढंग से हुई है। गोकुल

में कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा गमन तक के अनेक प्रसंगों और घटनाओं के चित्रण में नंद और यशोदा के वात्सल्य भाव की व्यंजना हुई है। सूर ने बचपन की विविध दशाओं के स्वभाविक एवं मनोवैनिक चित्रण के साथ-साथ ममतालु मातृ हृदय की अभिलाषा आशंका, चिंता, अकुलाहट, उत्सुकतता आदि विविध भावों की व्यंजना भी बड़े कौशल के साथ की है।[6]

वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्र में सूर की वृत्ति विशेष रुप से रमी है। ये उनके प्रिय विषय रहे हैं और इनके चित्रण में ही उनकी ख्याति का मूलाधार अवस्थित है। यह सही है कि कृष्ण की विविध बाल क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए सूर जब तब अपने पाठकों को कृष्ण के ईश्वरीय रुप का बोध करा देते हैं किंतु कृष्ण पर पड़े, इस ईश्वरिय आवरण को तनिक हटाकर देखें, तो क्या ये लीलाएँ अधिक सहज और अधिक स्वभाविक रुप में हमारे आकर्षण का विषय नहीं बनती।[7]

'मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो'[8]

जैसे ढ़ेरों पदों में अभिव्यक्ति पाने वाली कृष्ण की छवि क्या अपनी मानवीयता और लौकिकता में हमें अपनी ओर नहीं खीचती? क्या जरुरी है कि इन पदों का आस्वादन करते हुए कृष्ण के ईश्वरीय रुप का ध्यान रखा जाय या इन्हें गाते समय सूर के मन में कृष्ण के ईश्वरीय रुप की छाप थी? सच पूछा जाए तो अपने माननीय तथा लौकिक संदर्भों में ही ये लीलाएँ सूर के काव्य की स्थायी निधि हैं और इनकी इस मानवीय तथा लौकिक आकृति के संदर्भ में ही उनके अंतर्गत निहित तथा व्यंजित सूर काव्य की विशिष्टता को उभारा जा सकता है।[9]

श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहां तक और कोई किसी कवि की नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा-देखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आयी, उसमें रुप वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालक चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कही नहीं।[10] जैसे

सोभित कर नवनीत लिए।
धुटरुन चलन रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।[11]

X X X

पाहुनि करै दै तनकमह्यौ।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचलआनि गहयौ
व्याकुल मथत मथनियाँ रीति, दधि भवैं दरकि रहयौ।[12]

सूरदास ने अपने आराध्य कृष्ण की लीलाओं को काव्य पर आधार बनाया है। 'वात्सल्य' के पद कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के सुंदर चित्र हैं। कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं को इतने सजीव और मार्मिक रुप में अभिव्यक्ति मिली है कि सहृदय निस्संकोच भाव से सूर को दाद देते नही थकते हैं। वात्सल्य वर्णन मे सूर ने बाल-मनोविज्ञान पर अपने असाधारण अधिकार का परिचय दिया है। बालकों की एक-एक चेष्टा, छोटे से छोटा भाव, अनुभाव सूर की दृष्टि से ओझल नहीं होता है।[13] एक उदाहरण यशोदा का कृष्ण को पालने में झुलाने का बहुत ही मनोरम पद है-

जसोदा हरि पालनै झुलावैं।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोई सोई कछु गावौ,
मेरे लाल कौ आउ निंदरिया का है न आनि सुबावै।
तु काहै नहिं वेगहिं आवै तोकौ कान्ह बुलावै
कबहुं पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन छ्वै कै रहि करि करि सैन बताबै।।
इहि अंतर अकुलाई उठे हरि जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ सो नंद भामिनि पावै।।[14]

बालको के स्वाभाविक भावों का व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पर भरे पड़े हैं। 'स्पर्धा' का बहुत ही सुंदर पद इस प्रकार है-

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी!
कितिक बार मोंहि दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी।।
तू जो कहती 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।।[15]

इसी प्रकार खेल में सुदामा कृष्ण को फटकारता है-

खेलत में को काको गोसैयाँ?
जाति-पाँति हम ते कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैया।।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे है। कछु गैयाँ।।[16]

इसी प्रकार, बलदेव की छेड़छाड़ की कृष्ण शिकायत करते है।-

मैया, मोहि दाउ बहुत खिझायौ
मों सों कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ।।[17]

बच्चे के लिए परिवार और समाज में माँ सबसे निकटतम और प्रियतम होती है। उसकी नजर में वही वह अदालत है जहाँ उसकी हर फरियाद सुनी जा सकती है। उसकी दृष्टि में वही सर्वज्ञ है जो उसके हर प्रश्न का उत्तर दे सकती है। कृष्ण फरमाइस भी करते हैं तो यशोदा से: *'मैया, मै तो चंद खिलौना लैहो':* अपनी रुची का इजहार भी करते हैं तो उसी से: *'मैया री, मोहि माखन भावै'*। माँ बच्चे की कामनापूर्ति का मंदिर है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में वह उसके प्रत्येक उद्दीपन की सार्थक प्रतिक्रिया है। सूर ने वात्सल्य के विपुल चित्रों के जरिये यशोदा को अधिक मान दिया है। उसके मातृत्व को सराहकर उसके नारीत्व को सम्मानित किया है। जिस मध्ययुगीन समाज में नारी की कोई सामाजिक-आर्थिक हैसियत नहीं हो, जहाँ वह रुढ़ियों, मर्यादाओं एवं गुमनामी की कैद भुगतती रही हो, वहाँ सूर ने बालरुप भगवान कृष्ण के प्रेम का सबसे बड़ा भागीदार यशोदा को बनाकर नारी की अस्मिता पर युगों-युगों से समय की पड़ी हुई धूल को झाड़ने का काम किया है। कृष्ण भक्त कवियों में ही नहीं, समस्त मध्य युग में वे तनहा कवि हैं, जिन्होने सबसे अधिक प्रतिभा और उर्जा वात्सल्य के चित्रों पर खर्च की है और यह अकारण नहीं है। जहां नारी की अपनी कोई पहचान नहीं है, जो स्त्रि संबंधो के जारिए जानी जाती हो- विवाह के पूर्व किसी की पुत्री के रुप में, विवाह के बाद किसी की पत्नी के रुप में और पति के मर जाने पर किसी की माता के रुप में जो बुढ़ापा तक पहुचते-पहुचते मां-बाप द्वारा दिए नाम को भी भूल जाती हो, उसे सूर ने बार बार 'यशोदा' जैसे नामोल्लेख के जरिए एक स्वतंत्र पहचान देने की कोशिश की है।[18]

सूर के भाव चित्रण में वात्सल्य भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है। बाल-भाव और वात्सल्य से सने मातृ-हृदय के प्रेम भावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते। बालक की विविध चेष्टाओं और विनोदों के क्रीड़ा स्थल मातृहृदय की अभिलाषाओं, उत्कंठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ट कवि ठहरते है। वात्सल्य भाव के पदो की विशेषता यह है कि उनको पढ़कर पाठक जीवन की नीरस और जटिल समस्याओं को भूल कर उनमें मग्न हो जाता है।[19]

सूरदास के गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें लीलागायन की प्रेरणा दी। उनके पुष्टि सम्प्रदाय में ईश्वर कृष्ण का बालपन ही आराध्य माना जाता है, किंचित इस तथ्य को लेकर कुछ आचार्यों ने सूर के वात्सल्य वर्णन पर सवालिया भी लगाए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर की रचना धर्मिता पुष्टि मार्गीय सीमाओं से आबद्ध है, लेकिन कालान्तर के आचार्यो ने यह सिद्ध कर दिया कि सूर के रचना संसार में पुष्टिमार्गी मान्यताएँ कहीं गहरे विद्यमान हो तो हों लेकिन उनकी रचना के जिस रुप से मुखातिब होते हैं उसमें साम्प्रदायिकता की कोई छाप नहीं है और यदि सूर अपनी उर्वर सृजनात्मकता के सहारे पुष्टिमार्ग मान्यताओं का भी विस्तार कर सके हैं तो यह किंचित रस भंग की स्थिति अथवा व्यतिक्रम की स्थिति नहीं लाता है।

सूरसागर में वात्सल्य सम्बन्धी 580 पद हैं। जिनमें जन्म से सम्बन्धित उपालभ्य के 82 पद मातृहृदय के 195 पद तथा वियोग वात्सल्य के 89 पद हैं इस विवरण से भी प्रमाणित हो जाता है कि सूर ने सबसे अधिक ध्यान माँ के हृदय पर दिया है और उसके पश्चात बालक की चेष्टाओं पर। सूर अपनी सिद्ध रचना शिल्प से बालक की एक-एक चेष्टा का तथा माँ की एक-एक भाव-भंगिमा का फोटोग्राफिक चित्र खींचते हैं। यशोदा समूची नारी जाति के मातृत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं और वात्सल्य से सम्बन्धित रति लीला के घरातल पर व्यापक होकर मानवीय प्रेम की अघोर सीमाओं को स्पर्श करने लगती हैं। शास्त्रीय दृष्टि से वात्सल्य के दो भेद माने गये हैं। संयोग वात्सल्य वियोग वात्सल्य

संयोग वात्सल्य- रुप सौन्दये का वर्णन
कहाँ लौ करनौं सुन्दरताई
खेलत कंवर कनक आंगन
नैन निरखि छवि पाई।

बालक्रीड़ा- किलकत कान्ह घुघुरुवन आवत
मनिमय कनक नन्द के आंगन
मुख प्रतिबिम्ब पकरिबै घावत

अभिलाशा- जसुमति मन अभिलाश करै,
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगे
कब घरनी पग द्वैक धरैं।

बाललीला- ख्याल परै ये सखा सवैमिलि
मेरे मुख लपठायों

मातृ आशंका- ललनवरी या मुख पर
माई मेरी दीति न लागै
तासै मसि दियो मुख्य पर।

वियोग वात्सल्य- कृष्ण का मथुरा गमन-
कब वह मुख बहुरौ देखो
X X X
कब ऐसो सखु पइहों।

उद्वेग- नन्द ब्रज लीजौ ठोंक बजाइ
देह विदा मिलि जाइ मधुपुरी
जहं गोकुल के राइ

उन्माद- जसुमति अति ही भई बेहाल
धरनि गिरति भई अति आकुल।
X X X

इसके अलावा गुण कथन व्याधि मरण आदि दशाएँ भी सांगोपांग उपस्थित हो गयी हैं। आचार्य शुक्ल सूर के श्रृंगार के सम्बन्ध में जो यह कहते हैं कि उन्होने गोपियों की इतनी भाव दशाओं का वर्णन किया है कि मनोविज्ञान में उनका नामकरण तक संभव नहीं है। यह कथन सूर के वात्सल्य वर्णन के साथ हू-ब-हू लागू होता है। श्रीमद्भागवत महापुराण के दशवें स्कंद के आधार पर अपने 'सूर सागर' के पदों की रचना की। इसमें श्रीकृष्ण की लीलाओं को काव्यमय विस्तार देकर बाललीलाओं के चित्रण में उनकी मति में व्यापक विस्तार और निखार आया है। उनके विविधता भरे पदों में वात्सल्य वर्णन के कारण विद्वानों ने वात्सल्यरस की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय संत सूरदास जी को ही दिया है।

निष्कर्षत:- कह सकते हैं कि सूर अपने वात्सल्य वर्णन में भावनाओं के उर्वर प्रदेश में ले जाते हैं। उनकी सर्जनात्मक सम्बन्धों की गरिमा, प्रेम और कर्त्तव्य के अकूत विस्तार, रसमग्न हृदय की अनुभूतिशीलता को रमणीय प्रतिपादक शब्दों में बाँधकर मूर्तिमान कर देती है। संतान के साथ मात-पिता के मधुर एवं अनौपचारिक रिश्ते को सूर ने मध्ययुगीन पारिवारिक-सामाजिक मूल्यों, सांस्कृतिक अवबोधों के साथ रुपायित किया है। यशोदा कृष्ण की अपनी माँ नहीं है, किन्तु उनके मातृत्व के सामने किसी भी माँ का मातृत्व तुच्छ और उपेक्षणीय लगता है। कृष्ण प्रेम में यशोदा के मातृत्व का विस्तार हुआ है। ऐसा ही मातृत्व अपना और विस्तार

करता हुआ विश्वजनीन हो जाता है। सूर को जीवन की सरसता से प्रेम है। मानव जीवन मार्मिक क्षणों और सुखद घटनाओं को वे तन्मयता से चित्रित करते हैं। उनकी कविता हृदय को सीधे छूती है क्योंकि व्यापक जन-जीवन से उसका गहरा परिचय है। सूर का वात्सल्य वर्णन शास्त्रीय माँगों की परिपूर्ति करते हुए एक तरफ रचनात्मकता के क्षेत्र में भावदशा और रस से सम्बन्धित नवीन कसौटी की स्थापना कर सका है। लोकहृदय को मुक्त करने वाला सूर का वात्सल्य मानो प्रकारान्तर से राष्ट्र की सांस्कृतिक गरिमा में मातृत्व का अर्थ साकार करती है।

संदर्भ सूची

1. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी अभिव्यक्ति प्रकाशन बी-31 गोविन्दपुर कालोनी, इलाहाबाद पुनमुद्रण 2007 पृ0-27
2. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी अभिव्यक्ति प्रकाशन बी-31 गोविन्दपुर कालोनी, इलाहाबाद पुनमुद्रण 2007 पृ0-28
3. वही-पृ0-28
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, लेखक हुकुमचंद राजपाल, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 576, मस्जिद रोड, जंगपुरा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997, पृ0-192
5. वही पृ-192
6. वही पृ-192
7. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, लेखक शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, बी-31, गोविन्दपुर कॉलोनी, इलाहाबाद परिवर्तित संस्करण: 2005, पृ0 सं0-132-133।
8. वही पृ-132
9. वही पृ-132
10. हिंदी साहित्य का इतिहास, लेखक-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकाशन संस्थान 4268-बी0-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0-134
11. वही, पृ0 सं0-134
12. वही, पृ0 सं0-134
13. एम0एच0डी0-1 (आदिकाव्य, भक्ति काव्य, रीति काव्य) संकलन एवं संपादन:-डॉ सत्यकाम, मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा बांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0-101
14. वही, पृ0 सं0-103
15. वही, पृ0 सं0-135
16. वही, पृ0 सं0-135
17. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, लेखक-डॉ बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली पृ0 सं0-123
18. सूर की काव्य-चेतना, लेखक-बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति, प्रकाशन, बी-31, गोविन्दपुर कालोनी, इलाहाबाद, पृ0सं0 30-31
19. हिंदी साहित्य का इतिहास, लेखक-डॉ नागेन्द्र, डॉ0 हरदयाल नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2135 अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली पृ0सं0-189

सूर का भ्रमरगीतः एक उपालम्भ काव्य

लालबाबू

एमफिल अध्येता, बी0आर0ए0, बिहार विश्वविद्यालय

शोधसारः- सूर जीवनोत्सव के कवि है। सूर के यहाँ जीवन उत्सव से कम नही है। उपालम्भ में प्रतिदान पाने की अपेक्षा होती है। यह प्रेमी के कपटी आचरण पर कही गई ऐसी कटूक्ति है जिसमें उसे अनुकूल बनाने की आकांक्षा ध्वनित होती है। इसे केवल उलाहना समझना भूल है। इसमें शिकायत या निदा का स्वर वास्तविक नही नाटकीय होता है। यह सच्ची शिकायत से दूर की चीज है। इसमें जो तिक्तता उभरती है उसका सम्बन्ध जिगर से नही जुबान से होता है।[1] वाग्वैदग्ध्य के साथ प्रणय-भावो की अभिव्यक्ति की उपालम्भ है। दीर्धकालिक वियोग की दशा में प्रेमी-प्रेमिका मर्माहत हो जाते है। वह कभी निरे एकांत में और कभी प्रिय के किसी अंतरंग की उपस्थिति में प्रिय पर ताने कसते है। लेकिन खास बात यह है कि प्रिय की दशा को उपहासास्पद बनाने की प्रवृत्ति के साथ-साथ यहाँ बीच-बीच में उनकी मिलनोत्कंठा झाँकती रहती है।[2]

शब्द संकेतः- उपालम्भ, उलाहना, एकनिष्ठा, योग, निगुर्ण, सगुण, विरहानुभूति, प्रगल्भ, सहृदय, भ्रमरगीत, विक्तता, वाग्वैदाध्य, वियोग, मर्माहत, उपहासास्पद, मिलनोत्कंठा

प्रतिकूल हो चुके प्रिय पात्र को अनुकूल बनाने के लिए उसे जो उलाहना दी जाती है वही उपालम्भ है। इसमें प्रिय से दूर होने की नही बल्कि मिलने की ही इक्ष्छा होती है। यह उलाहना माँ, बहन, भाई या किसी को भी दी जा सकती है लेकिन भ्रमरगीत में इसे श्रृंगार तक ही सीमित रखा गया है। कृष्ण के वियोग में तिल-तिल टूटने वाली गोपियाँ जब उधो द्वारा कृष्ण के निर्गुण और योग के संदेश सुनती है तो तिलमिला उठती है वे कृष्ण को व्यंग्य एवं उलाहना का विषय बनाती हुई कहती है

''निरमोहिया सों प्रीति कीन्ही काहे न दुख होय,
कपट करि-करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय।
मेरे जिय की सोई जानै जाहि बीती होय।[3]

उपालम्भ एवं व्यंग्य का विषय वे लोग भी बनाए जाते है जो प्रिय पात्र को प्रतिकूल बनाने में लगे रहते है, गोपियों को सारे मथुरावासी खोटे लगते हैं, जिनके साथ श्रीकृष्ण ने योग सीखा

सब खोटे मधुवन के लोग
जिनके संग श्याम सुन्दर सखि सीखे है अपयोग।
आये है ब्रज के हित उधौ, जुवतिनि कौ ले जोग।।[4]

गोपियाँ उधो का भी मजाक उड़ाती है उनकी नजर में उधो ठग व्यापारी है जो खोटा योग देकर अनमोल प्रेम लेना चाहता है-

आयो धोष बड़ो व्योपारी
लादि खेप गुन-जोग की ब्रज में आन उतारी।।
नाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट जुधारी।।[5]

जब उधो योग और ज्ञान की रट लगाना नहीं छोड़ते तक उन्हे खरी-खोटी भी सुनाती है वे उन्हे और श्रीकृष्ण को स्वार्थी बताती है-

अपने स्वारथ को सब कोउ।
चुप करि रहौ, मधुप रस लंपट! तुम देख अरु वोऊ।[6]

सूर के उपालम्भ की विशेषता यह है कि खीझ एवं झुझलाहट में भी प्रेम अलक्षित नहीं रहता गोपियाँ कृष्ण के प्रति उलाहना देती हुई कहती है-

उधो! सब स्वारथ के लोग।
आपनु केलि करत कुब्जा संग, हमहिं सिखावत जोग।
भ्रमि बन जात साँवरी मूरति देखहिं वहरुप।[7]

सूर की गोपियाँ अपनी आन्तरिक पीड़ा को विनोदशीलता एवं भोलपन के साथ प्रस्तुत करती है यह उनके उपालम्भ की महत्वपूर्ण विशेषता है वे व्यंग्य करती हुई, उधो से निगुर्ण का अता-पता पूछती है-

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय सौंह दें बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?
कैसो बरन, भेस है कैसो केहि रस कै अभिलासी।।[8]
X X X X X X X X X X X X X X X X
कहा करौ निरगुन लैके हौ, जीवहु कान्ह हमारे।
तहां यह उपदेश दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान।
ये (निरगुन) बत्तियाँ सुनि रुखी।[9]

गोपियाँ जब कृष्ण को लक्षित कर कहती है 'एक वास की लाज निबहियों' तब यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि तमाम उलाहने के बावजूद कृष्ण के प्रति उनका प्रेम तनिक भी कम नही हुआ है। उनकी एकनिष्ठता अभी भी ज्यों की त्यों बनी हुई है तभी तो वे उधो से कहती है-

उधो! मन नाही दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के संग को अराध तुव ईस?[10]

गोपियों की प्रेम निष्ठा देख उधो भी योग और निगुर्ण छोड़ सगुण-प्रेम रंग में रम जाते है। वे कहते है-

अब अति पंगु भयों मन मेरो
गयो तहाँ कहिबे निगुर्ण को भयो सगुण को चेरो।।[11]

गोपियो का उपालम्भ कृष्ण के प्रति उनके अथाह प्रेम का सूचक है। उनकी नजर में कृष्ण छली है। आँख का किनारा दबाकर उन्होने उनका मन हर लिया है। गोपियों ने बड़ी मुश्किल से उन्हें हृदय के भीतर प्रेमभावों के बन्धन में बाँध रखा था, पर मुस्कुराहट की घूस ने वह भी बेकार कर दिया।

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियौ तनक चितवनि मै चपल नैन की कोर।
गए छँडाय छोरि सब बंधन दे गए हँसनि अंकोर।।[12]

कभी इस बात को लेकर संतोष करती है कि चलो इतनी भाग्यशालिनि वे है कि उन्होंने उन उ)व को देखा जो कृष्ण को देखकर और उनसे मिलकर आए है:-

उधौ हम आजु भई बड़भागी
जिन अंखियन तुम स्याम बिलोके ते अंखियाँ हमलागि।[13]

ग्रामीण गोपकाओं के तर्क भी अपने ढ़ंग से बड़े दिलचस्व है कि उद्धव उन्हे काट नहीं पाते। उद्धव से गोपिकाएँ कहती है-कृष्ण की जिस मूर्ति की तुम हमारे हृदय से निकलकर ब्रह्म या निर्गुण की प्रतिष्ठा करना चाहते हो वह मूर्ति निकले भी तो कैसे। कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा हृदय में बसी है। सीधी सादी मूर्ति होती तो सरलता से बाहर आ जाती किंतु वह तो हृदय में तिरछी होकर अड़ी है, कैसे निकले:-

इहिं उर माखन चोर गड़े

अब कैसे निकसत सुनि उधौ, तिरछै हैं जु अड़े।।[14]

गोपियाँ कभी ठिठोली करते हुए राधा से कहती है कि कृष्ण के जिस रुप को तुम अंचए बैठी हो वह बाहर निकालो-कृष्ण ने अपना रुप मांगा है-

मोहन मांग्यौ अपने रुप

इहि ब्रजबसत अँचै तुम बैठी ता बिनु उहाँ निरुप।[15]

भक्ति में कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होनें प्रेम को माना। बाद में प्रेमभक्ति को अपना कर उन्होने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का मेरुदंड मान लिया और प्रेम की परिपूर्णता के लिए बिरह को आवश्यक मान कर विरह के महत्व को इन शब्दों में प्रकट किया:

उधौ बिरहौ प्रेम करें।

ज्यों बिनुपुट पर गहत न रंग को रंगन रसै परै।

ज्यों घर इहै बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै।[16]

सूरदास के बारे में शुक्लजी ने लिखा है कि ''सूर की रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होन वाले कवियों की उक्तियाँ सूर की जूठी मालूम पड़ती है।[17] मथुरा जाकर कृष्ण का वर्ग चरित्र बदल गया है। वे अहीर से यदुवंशी क्षत्रिय हो गये है। इसका उल्लेख उनेक बार हुआ है।

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

समुझी बात कहत मधुकर जो? समाचार कुछ पाए?[18]

सूरदास की काव्यात्मक उपलब्धि का चरम भ्रमरगीत है। इसमें भक्त कवि ने एक ओर सगुण की निगुण पर विजय दिखलाई है, जो दूसरी ओर गोपियों का कृष्ण के प्रति अनन्य भाव व्यंजित किया है। विरहानुभूति की तीव्रता इसमें द्रष्टव्य है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपर्ण अंश भ्रमरगीत को माना हैं इसमें गोपिकाएँ कृष्ण वियोग में निरंतर पीड़ित रहती है, रात-दिन रोती रहती है। 'निसदिन बरसत नैन हमारे' भ्रमरगीत प्रसंग में विरह चरमोत्कर्ष पर है।[19]

उपालम्भ काव्य एक प्रकार का संदेश काव्य है। वियोग की भूमि पर यह अधिक व्यंजनागर्भित हो जाता है। इसमें नायिका अपने प्रवासी प्रियतम को किसी न किसी बहाने पूनर्मिलन का सन्देश देती है किन्तु उसकी उपेक्षा या कठोरता पर व्यंग्य करना नही भूलती। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उपालम्भ काव्य को सिर्फ श्रृंगार तक सीतिम नहीं किया जा सकता। किसी का किसी के प्रति उलाहना उपालम्भ है। इसका अभीष्ट है-साहचर्य की सह अनुभूति। नारी हमेंशा अपना सर्वस्व समर्पित करके पुरुष से प्रवंचना पाती रही है। पुरुष ने अपनी बनाई हुई प्रेमाचार संहिता लादकर नारी की भावनाओं का बराबर दोहन किया है। एक से तृप्त होकर दूसरी की ओर अभिमुख होना उसका स्वभाव है। इसलिए कवियों ने प्राय: पुरुष की प्रकृति में लोलुप, भ्रमर की वृत्ति देखी है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के काव्यों में भी पुरुषो को इस भ्रमरवृत्ति पर व्यंग मिल जाता है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम में दुष्यंत की एक रानी हंसपदिका एक अन्य रानी वसुमति में अनुरक्त दुष्यंत को भ्रमर के माध्यम से उपालम्भ देती है। भ्रमर के व्याज से उपालम्भ देने की परम्परा यही से शुरु होती है। श्रीमदभागवत में 'भ्रमरगीत' को दार्शनिक आयाम दिया गया है। अपभ्रंश के 'पउम चरित' (स्वयंभू) के बाद विद्यापति ने 'पदावली' में इसका उल्लेख किया है। भ्रमरगीत परम्परा को व्यवस्थित रुप देने का श्रेय सूर को है। उन्होने 'भ्रमरगीत' के लिए 'श्रीमदभगवत' के 'भ्रमरगीत' से ही प्रेरणा ली है, लेकिन यहाँ दार्शनिक नही भावात्मक आधार प्रमुख है। उनके 'भ्रमरगीत' की सफलता के बाद तो कृष्ण काव्य में अचानक भौरे प्रमुख हो गए। भ्रमरगीत' 'भँवरगीत' आदि की कड़ी से कड़ी जुड़ती गई।

सूर के 'भ्रमरगीत' में भ्रमर के जरिए गोपियों की दर्दभरी टीस ही क्षोभ बनकर मुखर हुई है। गोपियाँ देह है और राधा है उनकी आत्मा: 'राधा जीव सब देह'।[20] उनमें है गहन एकत्व। तभी तो राधा समेंत सभी गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं और परस्पर कोई ईर्ष्या नही पालती। 'भ्रमरगीत' में वे एक ही चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है। उनकी उक्तियों में पैनापन है। वे पीड़ा के परिवेश में उमड़ते-धुमड़ते हुए भाव को मारक क्षमता से लैंस कर देती है। वचनवक्रता के साथ उनकी मर्मभेदी पीड़ा कई रुपों में उपालम्भ में ढ़लकर आई है 'ऐसेई जन दूत कहावत' 'हरि काहे को अन्तरयामी' आदि उक्तियाँ गोपियों की खीज झुँझलाहट एवं व्यंग्य की ही अभिव्यक्ति है।[21]

सूर के भ्रमरगीत में उपलक्षित चित्र भरे पड़े है। गोपियाँ एक स्थल पर श्रीकृष्ण की उस प्रेम प्रवचना के प्रति अपनी मानसिक पीड़ा की अभिव्यक्ति जिस सादृश्य विधान के द्वारा करती है वह कितना मार्मिक है और कितना सहजता लिये हुए है:-

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी।।
मुरली मधुर चोप करि कांपा मोरचन्द्र ठटवारी'
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहि सम्हारी।।[22]

प्रसिद्व आलोचक डॉ० राम स्वरुप चतुर्वेदी कहते है कि मध्यदेशीय जो जीवन होता है। वहाँ एक प्रकार की नीरवता का वातावरण होता है। जहाँ नीखता होगी वहाँ शांति होगी जहाँ शांति होगी वहाँ प्रेम होगा जहाँ प्रेम होगा जहाँ प्रेम होगा वहाँ के जीवन में ठहराव नहीं बल्कि हलचल होगा। डॉ चतुर्वेदी आगे कहते है कि किसी भी काल में किसी भी समाज में दो प्रकार का जीवन होता है। (क) आभिजात्य जीवन (ख) लोक जीवन। समय के प्रवाह के साथ साथ ऐसा हो सकता है कि अभिजात्य जीवन में एक ठहराव आ जाए एक प्रकार की शिथिलता आ जाए लेकिन लोक जीवन में जीवन की गति हमेंशा बनी रहती है यह जो जीवन की गति है यह उसी प्रेम के कारण है। अभिजात्य जीवन में संवेदना के स्तर पर शून्यता होने के कारण प्रेम का अभाव होता है, जबकि लोक जीवन में सवेदनात्मक अधिक होने के कारण प्रेम, स्नेह, राग एवं भाईचारे की नातेदारी बड़ी प्रबल होती है।

सूरदास की गोपियों में आंतरिक पीड़ा का उद्वेग कुछ अधिक ही है। वे उद्धव के समक्ष इस आन्तरिक पीड़ा को विनोद शीलता एवं भोलेपन के साथ प्रस्तुत करती है। ''निरगुन कौन देस को वासी?'' में वे निर्गुण के प्रति केवल अनभिज्ञता ही प्रकट नही करती बल्कि निर्गुण का अता-पता पूछकर उद्धव और उनके निगुर्ण को उपहास का विषय बना देती है। वे उद्धव से मजाक ही कर रही है, किन्तु यह कहकर कि यह मजाक नहीं है-बूझति साँच, न हांसि'। इससे मजाक और चुटीला बन गया है। भ्रमरगीत में उपालम्भ रुढ़ि के अनुपालन के लिए नही आया है। गोपिया उपाल्भय की मुद्रा मे तब आती है जब उन्हे लग जाता है कि उद्धव के पास एक तो उनके काम की बातें नही है, दूसरे उद्धव उनका मन बगैर पढ़े उनके मन में निगुर्ण ज्ञान अँटा देने की कसम खाए हुए है। गोपियाँ सहृदय है। वे दु:खी तो है, पर हँसना भूली नहीं है। यह उनकी परिहासप्रियता का ही परिणाम है कि जब उद्धव पर व्यंग करती है तक हास्य की सहज सृष्टि होती है, लेकिन यह हास्य मर्यादा का कही अतिक्रमण नहीं करता। उपालम्भ की सरसता और मधुरता का यही कारण है।

निष्कर्ष:- यह कहा जा सकता है कि उपालम्भ भाव की जमीन से लगा हुआ एक शाब्दिक हमला है। यह गोपियों के उद्वितन मानस का प्रतिबिम्ब है। जब गोपियाँ कृष्ण समेत उद्धव, अक्रुर, कुब्जा एवं समस्त मधुरावासियों को खरी-खोटी सुना लेती है तो उनका तनाव शिथिल हो जाता है। लिहाजा यह उपालम्भ एक उपचार है तनावग्रस्तता का।[23] भ्रमरगीत में मुख्य जो विषय है वह गोपी उधौ संवाद है एक निगुर्ण को मानता है दूसरा सगुण को एक निराकार ब्रह्म में विश्वास करता है तो दूसरा साकार ईश्वर में उधौ को ब्रज भेजने के पीछे कृष्ण की दो ही मंशा थी एक तो गोपियों की मंशा को जान लिया जाए और दूसरी उधौ को जो ज्ञान का अहंकार है वह गोपियों के प्रेम के आगे चूर-चूर हो जाए। सूर ने इस रचना में कथन की जितनी भी भंगिमाएं हो सकती है उनका बड़ा ही सधा हुआ प्रयोग किया है। सूर की बाते कहि हृदय की अतल गहराईयों में उतरती चली जाती है तो कभी बक्रोक्ति के माध्यम से हृदय को विदग्ध भी कर देती है। इन तमाम चीजों के बीच सूर की काव्यात्मक दुनिया को निचोड़ते हुए डॉ० राम स्वरुप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि वात्सलय की गहराई, भक्ति की गरमाई और संमपर्ण की उँचाई का नाम सूर है।

सन्दर्भ सूची

1. सूर की काव्य चेतना, लेखक बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति प्रकाशन बी-31 गोविन्दपुर, कॉलोनी इलाहाबाद पुनर्मुद्रण 2007 पृ0-67।
2. वही पृ0 - 67
3. भ्रमरगीत सार लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कृष्णादास पोरबाल एण्ड कम्पनी दुकान नं0 22 दुलहिननजी रोड वाराणसी चतुर्थ संस्करण 1997-98 पृ0-81
4. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति प्रकाशन बी-31 गोविन्दापुर कॉलोनी इलाहाबाद पुनर्मुद्रण 2007 पृ0-68
5. सूरदास और भ्रमरगीत लेखक डा0 किशोरी लाल अभिव्यक्ति प्रकाशन पुनर्मुद्रण 2006 पृ0-80

6. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी अभिव्यक्ति प्रकाशन पुनर्मुद्रण 2007 पृ0-69 सूरदास और भ्रमरगीत लेखक डॉ0 किशोरी लाल अभिव्यक्ति प्रकाशन पुनर्मुद्रण 2006 पृ0-98
7. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद पुनर्मुद्रण 2007 पृ0-69
8. भ्रमरगीत सार लेखक आर्चाय रामचन्द्र शुक्ल कृष्णदास पोरवाल एझड कम्पनी दुकान संख्या 22 दुलहिन जी रोड वाराणसी चतुर्थ संस्करण 1997-98 पृ-75
9. हिन्दी काव्य विवेचना एम0एच0डर0-01 हिन्दी काव्य-01 संकलन और सम्पादन डॉ0 सत्यकाम पुनर्मुद्रण 2009 इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय 2002 पृ-182
10. भ्रमरगीत सार लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृष्णा दास पोरवाल एण्ड कम्पनी दुकान नं0 22 दुलहिनजी रोडवाराणसी चतुर्थ संस्करण 1997-98 पृ0-112
11. वही पृ-159
12. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति प्रकाशन बी-31 गोविन्दपुर कॉलोनी इलाहाबाद पुनर्मुद्रण 2007 पृ0-69
13. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य लेखक शिवकुमार मिश्र अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद परिव(ित संस्करण : 2005 पृ0-149
14. वही पृ-150
15. वही पृ-150
16. हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखक डॉ नागेन्द्र एवं डा0 हरदयाल मयूर पेपर बैक्स ए-95 सेक्टर-5 नौएडा अड़तालीसवां, उन्नचासवा पुनर्मुद्रण संस्करण : 2015 पृ-191
17. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास लेखक डॉ0 बच्चन सिंह राधा कृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी मार्ग दरियागंज नई दिल्ली सं-2008 पृ-119
18. वही पृ-126
19. हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखक हुकुमचेद राजपाल विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 576 मस्जिद रोड जंगपुरा नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1997 पृ0-193
20. सूर की काव्य चेतना बलराम तिवारी अभिव्यक्ति प्रकाशन बी-31 गोविन्दापुर कॉलोनी इलाहाबाद पुनमुद्रण 2007 पृ0-67
21. वही पृ0-68
22. सूरदास और भ्रमरगीत लेखक डा0 किशोरी लाल अभिव्यक्ति प्रकाशन पुनर्मुद्रण 2006 पृ0-47
23. सूर की काव्य चेतना लेखक बलराम तिवारी अभिव्यक्ति प्रकाशन पुनर्मुद्रण 2007 पृ-69

समावेशी विकाश में मनरेगा की भूमिका: गोपालगंज जिले के संदर्भ में

डॉ० नरेश कुमार

असि० प्रोफेसर समाज शास्त्र विभाग, एस० एम० डी० डिग्री महाविद्यालय एम० एन० जे० गोपालगंज (बिहार)

शोध-सार

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही केद्र की सरकारो के सामने भारत के ग्रामीण क्षेत्रे में रहने वाले लोगो में आर्थिक असमानता के साथ-साथ समाजिक असमानता को कैसे पाटा जाय एक यक्ष्य प्रश्न के रुप में आकर खड़ा हा गया। इन समस्याओ को दूर करने हेतु अनेक प्रकार के कल्याणकारी योजनाओ को लाया गया। परन्तु कोई भी योजना अपनी स्कलता का प्रमाण नही दे पाया। जैसे जे० आर० वाई०, एस० जी० एस० वाई०, एस० जी० आर० वाई०, आइ० एस० जी० एस० वाई० आर० एस० जी० एस० वाई० डी० पी०, सी० एस० आर० ई० इत्यादि। इन योजनाओ से भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले पिछड़ा वर्ग, दलित वर्ग, अल्पसंख्यक वर्ग एवं समान्य वर्ग में गरीबी रेखा से निचे जीवन बसर कर रहे बेरोजगार लोगे के आर्थिक एवं समाजिक स्थिति में कोइ परिर्वतन नही आ पाया। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह दिखा कि इन योजनाओ को लागु करने में सरकारे असफल रही।

एक लोकतांत्रिक देश के सफलता का पैमाना इस आधार पर किया जा सकता है कि उसने अपने देश के ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा से निचे रहने वाले लोगो के जीवन स्तर को उपर उठाने के लिए कितनी ईमानदारी से काम किया। समाज के अंतिम पैदान पर खड़े व्यक्ति को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए कौन सी राह दिखाई। मनरेगा को सच्चे अर्थो में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धान और बेरोजगार लोगो की समाजिक आर्थिक प्रगति के सम्वाहक के रुप में देखा जाता है। इसी सोच के आधार पर 2 अक्टूबर 2005 को तत्कालिन यूपीए सरकार द्वारा राष्ट्रीय रोजगार गारंटी अधिनियम (नरेगा) नाम से एक लोक कल्यणकारी अधिनियम बनाया। इसे देष के 200 जिलो में लागु किया गया तत्पश्चात 31 दिसम्बर 2009 को इस अधिनियम में महात्मा गाँधी का नाम जोड़ कर, महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा) कर दिया गया। मनरेगा की इस सोच को यू० एन० डी० पी० ग्लोबल ह्यूमन डेबलपमेंट रिपोर्ट 2005 से भी पहचान मिली।

नेशनल काउन्सिल ऑफ एप्लाइड इकोनॉमिक्स रिसर्च की रिपोर्ट के मुताबिक भारत की 42% ग्रामीण जनसंख्या गरीबी रेखा से निचे जिवन बसर करती थी। मनरेगा के लागु होने के पश्चात ग्रामीण क्षेत्रो के गरीबी रेखा से निचे जी रहे 30% लोगो की भागीदारी मनरेगा में देखा गया। इस प्रकार नेशनल काउन्सिल ऑफ एप्लाइड इकोनॉमिक्स रिसर्च के रिपोर्ट को देखा जाए तो भारतिय ग्रामीण क्षेत्रे के गरीब, समाजिक रुप से कमजोर जैसे दलित, आदिवासी, पिछड़ा वर्ग, मजदूर वर्ग एवं सिमांत किसान की गरीबी की खाई को बहुत हद तक कम करने में मनरेगा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

मनरेगा के कार्य

मनरेगा ने ग्रामीण क्षेत्रे के गरीबी रेखा से निचे जीवन जी रहे लोगो के लिए एक वरदान बन कर आया जिसने साल मे कम से कम 100 दिन कार्य की गारंटी दिया। यह कार्य अपने ग्रामिण परिवेश में रह कर करना होता है। इस कार्य को करनें के लिए इच्छुक लोगो को मनरेगा के कार्यालय मे आवेदन देना होता है आवेदन के 15 दिन के अन्दर आवेदक को रोजगार मुहैया कराना कार्यालय को सुनिश्चित करना होता है। अगर रोजगार नही हो तो आवेदक को बेरोजगारी भत्ता देय होगा। इस प्रकार आवेदक के मजदूरी का भूगतान नगद न कर बैंक या डाकघर के माधयम से किया जाता है। इस प्रकार मनरेगा के अर्न्तगत काम करने वाले

लोगो को श्रम की गरीमा के साथ 100 दिन के श्रम की गारंटी भी मिलती है। यह विश्व में पहला एसा अधिनियम है जो अपने नागरीको को श्रम की गारंटी देता है। मनरेगा में काम करने वालो में महिलाओ की भागीदारी एक तिहाई सुनिश्चित की गई है साथ ही अकेली महिलाओ एवं बिकलांग लोगो को रोजगार देने के लिए प्रथमिकता में रखा गया है।

मनरेगा की अलोचनात्मक स्कलता

भारतीय ग्रामीण लोगो को श्रम की गरिमा से परिचित कराने वाला, रोजगार की कानुनी स्तर पर गारंटी देने वाला और विश्व का सबसे बड़ा समाजिक कल्याणकारी योजना मनरेगा है। यह भारतीय ग्रामीण लोग जो अकुशल श्रम करने के इच्छुक व्यस्क सदस्यों को 100 दिन की गारंटी युक्त रोजगार देता है साथ ही रोजगार न देने की स्थिति में बेरोजगारी भत्ता भी देता है। इस प्रकार जनजातिय क्षेत्रे में एवं सुखाग्रस्त क्षेत्रे में मनरेगा के अर्न्तगत 150 दिनो का रोजगार का प्रावधाान है। मनरेगा को वर्तमान में लगभग भारत के सभी जिलो में लागू किया गया है। इस प्रकार मनरेगा एक रास्ट्रव्यापी कार्यक्रम है। मनरेगा से वही जिले वंचीत है जो पूर्ण रुप से शहरी क्षेत्र है।

एक तरफ सरकारी आकड़े मनरेगा की सफलता के गुण गाते नही थकते वही दूसरे तरफ ऐसे तथ्य भी है जो मनरेगा के सफलता पर प्रश्न खड़ा करते है। नेशनल काउन्सिल ऑफ एप्लाइड इकोनॉमिक्स रिसर्च की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि मनरेगा में काम करने वाले ग्रामीण लोगो की भागीदारी 30% है अर्थात 70% गरीब मनरेगा में रोजगार से वंचीत है। सी० ए० जी० की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि मनरेगा में बड़े पैमाने पर भ्रस्टाचार और अनियमितता का बोलबाला है। इतना ही नही मजदुरो के पारिश्रमिक भुगतान में विल्मब, फर्जी हाजिरी रजिस्टर बनाकर फण्ड की निकासी में धांधली इत्यादि प्रकाश में आया है।

मनरेगा: गोपालगंज जिला

महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा) लागू होने के पहले जिले से जो प्रवासी मजदूर बाहर जाया करते थे उनमें मनरेगा के लागू होने के उपरांत बाहर जाने की संख्या में कमी आने लगी। उन्हे अपने ग्रामीण माहौल में ही मनरेगा के तहत रोजगार मिलने लगा। जिससे समाजिक संरचना में परिर्वतन दिखाई देने लगा। हालाकि बिहार सरकार ने मध्यप्रदेश और राजस्थान के समान मनरेगा के अधिन कराए जा रहे कार्यो के स्थान पर ठेकेदारो द्वारा कराए गए कार्यो पर अधिक विश्वास किया जैसे ग्रामीण सड़को के निर्माण में नाला निर्माण इत्यादि कार्यों के लिए मनरेगा के अकुशल कामगारो के स्थान पर ठेकेदारो से काम कराना बिहार सरकार की प्राथमिकता में है।

मनरेगा का प्रभाव उसबात पर निर्भर करता है कि किस काम को कितनी प्रथमिकता दी जाती है। केन्द्र सरकार ने राज्य की सरकारो को यह छुट दी है कि मनरेगा के तहत कौन से कार्य कराए एवं कौन से कार्य कौनट्रैक्टर से कराए। मनरेगा के तहत जनवरी 2011 में दिए गए रोजगार के आधाार पर निम्नलिखित डाटा से समझा जा सकता है :-

तालिका 01: *रोजगार पहचानपत्र का वितरण*

अनुसूचित जाति	104093
अनुसूचित जनजाति	10886
अल्पसंख्यक	223068
कुल	338067
रोजगार की मांग करने वाले परिवार	49449
रोजगार बजट के आधाार पर	650538
महिला	48353
कुल	2089678

''डी० डी० सी० ऑफिस गोपालगंज 2010-11 का रिपोर्ट''

उपयुक्त तालिका 01 से स्पस्ट होता है कि रोजगार की मांग करने वाले परिवार 49449 है। जिनका बजट 650538 है। इस प्रकार 16000 परिवारो को रोजगार की आवश्यकता है जिसे मनरेगा पुरा नही कर पाता है। इस तालिका से यह भी सिद्ध होता है कि मनरेगा

अन्य पिछड़े वर्ग एवं गरीब लोगो को भी रोजगार मुहैया कराने में असफल रहा है। सोचनिय स्थिति महिलाओं की है जिनकी भागीदारी 48353 है।

तालिका 02: *विभिन्न प्रखण्डो में दिए गए 100 दिन के रोजगार*

प्रखण्ड		100 दिन कार्य करने वाले परिवार की संख्या
1.	गोपालगंल	71
2.	माँझा	85
3.	बरौली	226
4.	सिधावलिया	385
5.	बैकुठपुर	40
6.	कुचायकोट	289
7.	थावे	105
8.	हथुआ	179
9.	उँचकागाँव	25
10.	फुलवरिया	105
11.	भोरे	63
12.	विजयीपुर	65
13.	कटेया	118
14.	पंचदेवरी	48
	कुल	1804

''मनरेगा रिपोर्ट डी० डी० सी० ऑफिस गोपालगंज 2010-11 का रिपोर्ट''

उपयुक्त तालिका 02 से पता चलता है कि मनरेगा का गोपालगंज जिले में प्रभाव बहुत ही कम है। केवल 1804 परिवारों को ही मनरेगा से रोजगार मिल पाया है। सम्पूर्ण जिले के केवल सिधवलिया (385), कुचायकोट (289) और बरौली (226) परिवारों को मनरेगा से लाभ पहुँचा है। सबसे खराब स्थिति उँचकागाँव और बैकुंठपुर प्रखण्डो की रही जिसमे क्रमशः 25 और 40 परिवारो को ही 100 दिन का रोजगार मिल पाया।

तालिका 3: *कुल रकम का विवरण (लाख में)*

केन्द्रीय रकम	4402.980
राज्य रकम	113.319
कुल	5349.014
अनुमानित व्यय	21523.330

उपयुक्त तालिका 03 से स्पस्ट हाता है कि बहुत बड़ा अंतर अनुमानित व्यय में और 100 दिन का रोजगार पाने वाले परिवारों को किये गये भुगतान में है। केन्द्र द्वारा किये गये व्यय का 25% राज्य सरकार को वहन करना होता है। इस तरह मनरेगा का कार्य गोपालगंज जिले में संतोषजनक दिखाई नही पड़ता है। पैसे की प्रचुर मात्रा में होने के बाद भी लाभुको को रोजगार मुहैया नही कराना प्रशासनीक विफलता का जिताजागता प्रमाण है। इस तरह गोपालगंज जिले में मनरेगा को लागू करने में अनेक समस्याएं है। जैसे रोजगार का पंजीकरण, रोजगार कार्ड का गलत आवंटन, जौब कार्ड के वितरण में धांधली, रोजगार आवेदन पर पैसो का दोहन इत्यादि समस्याओ के कारण मनरेगा के लाभ लाभुको तक नहीं पहुंच पा रहा है।

निष्कर्ष

मनरेगा और कृषि के बिच समन्वय बनाने के लिए दृढ़ प्रशासनिक इक्षाशक्ति के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रो में मनरेगा से सम्बंधित नियमों के बारे मे लोगो को जगरुक करने पर ही मनरेगा का समुचित लाभ मिल सकता है। केन्द्र सरकार ने मनरेगा के माध्यम से प्रधानमंत्री सिंचाई योजना के तहत 5,00,000 से अधिक कुओं और तलाबों की खुदाई का लक्ष्य रखा गया है। जैविक कृषि को बढावा देने के लिए मनरेगा के माधयम से ग्रामीण क्षेत्रों में वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए 10,00,000 गढ्ढे बनाने का प्रस्ताव है। भुगतान में विलम्ब की समस्या को दूर करने के लिए अब राज्यो द्वारा कोश अंतरण आदेस जेनेरेट करने के 48 घंटे के अंदर ग्रामीण विकाश मंत्रालय द्वारा धन राशी राज्य रोजगार गारंटी कोश को निर्गत करने का प्रावधान रखा गया है। मनरेगा ने गरीबी उन्मूलन, रोजगार श्रृजन, ग्रामीण श्रम बाजार में मजदुरी में वृद्धि, श्रमिको की सौदेबाजी क्षमता में वृद्धि को सुनिश्चित कर समावेशी विकाश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यदि मनरेगा को लागू करने में ठोस कदम उठाए जाए तो मनरेगा एक कल्याणकारी योजना के साथ ही ग्रामीण भारत के समाजिक आर्थिक विकाश का एक सशक्त माध्यम बन सकता है।

सन्दर्भ

1. Based Survey Report
2. Report of Union Ministery of Rural Development Nov. 2006.
3. Office of DDC Gopalganj.
4. Bihar government: Report of Rural Development Ministry.
5. MGNREGA Report, DRDA Office gopalganj.
6. Archana G. Gualti ; Role of ICTs in Rule Development.
7. Dr. Raju Narayan Swamy ; Open Learning as a Tool to Promrote Gender Equqlity in Rule India.
8. Anupam Hazra ; ICT- A Catalytic Intervention for Empowering Rural India.
9. रविन्द्र नाथ मुखर्जी: समाजिक अनुसंधान, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली, नया संस्करण वर्ष- 2005
10. भारतीय महिलाएँ: दशा एवं दिशा, सुभाष शर्मा, शताब्दी प्रकाशन, नई दिल्ली

वित्तसहित तथा वित्तरहित डिग्री महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के कार्य-संतोष का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० बैरिस्टर यादव

असि० प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, एस० एम० डी० डिग्री महाविद्यालय, मठिया नेचुआ जलालपुर, गोपालगंज (बिहार)

प्रस्तुत शोध-पत्र के उद्देश्य जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा के विभिन्न वित्तरहित डिग्री महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के कार्य संतोष का अध्ययन किया है। इसलिए यह परिकल्पना लिया गया है कि वित्तरहित शिक्षकों तथा वित्तसहित शिक्षकों में शैक्षिक, मानसिक तथा आर्थिक रूप से सार्थक अन्तर पाया गया या नहीं। परिकल्पना के परीक्षण हेतु छपरा के 25 शिक्षक रामजयपाल महाविद्यालय, छपरा से वित्तसहित (अंगीभूत) तथा 25 शिक्षक वित्तरहित (सम्बद्धता) पी० एन० सिंह डिग्री कॉलेज, छपरा, डिग्री महाविद्यालयों से चयन अप्रसम्भात्यता के अंतर्गत उद्देश्यानुसार प्रतिचयन किया गया है। चयनित प्रतिदर्श पर कार्यसंतोष मापनी डॉ० अमर सिंह एवं डॉ० टी० आर० शर्मा प्रयुक्त की गई है। समूहों के मध्य सार्थकता की जाँच के लिए 'टी' परीक्षण प्रयुक्त किया गया है। परिणामत: सम्बद्ध महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों तथा अंगीभूत महाविद्यालयों के शिक्षकों में कार्य-संतोष में अन्तर पाया गया है।

प्रस्तावना

वर्तमान परिपेक्ष्य में वित्तरहित शिक्षकों तथा वित्तसहित शिक्षकों में सार्थकता में अन्तर पाया गया है। वित्तरहित शिक्षकों को परेशानी झेलना पड़ता है जबकि वित्तसहित शिक्षकों को परेशानी कम झेलना पड़ता है। वित्तरहित शिक्षकों को संवेगात्मक स्थिरता की कमी तथा चिन्ता (Anxiety) की अधिकता पायी जाती है क्योंकि वित्तरहित शिक्षक आर्थिक संकट से जूझ रहे होते हैं। बिहार सरकार भी इन शिक्षकों पर धयान नहीं दे रही है। इन वित्तरहित शिक्षकों का भरण-पोषण की जिम्मेदारी महाविद्यालय प्रबंधन भी नहीं ले रही है। यह व्यवस्था बिहार सरकार की गलत नीतियों के कारण है। यह वित्तरहित नीति 40 वर्षों से बिहार में चल रही है। वित्तरहित शिक्षकों का शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं समाजिक शोषण 40 वर्षों से होता आ रहा है। ऐसी बातें वित्तसहित शिक्षकों के साथ नहीं है। वित्तसहित शिक्षकों को नियमानुसार वेतन तथा समय-समय पर महँगाई भत्ता भी मिलता रहता है। जिससे उसे कार्य करने में संतुष्टी मिलती रहती है। संकीर्ण अर्थ में कार्य-संतोष कार्य के विभिन्न पहलुओं के प्रति सामान्य मनोवृति पर निर्भर करता है, परन्तु विकसित अर्थ में कार्य-संतोष में जीवन के अन्य दूसरे संबंधित पहलुओं के प्रति विकसित मनोवृति भी शामिल होती है। Covid-19 के समय से अभी तक सैकड़ों वित्तरहित शिक्षक एवं शिक्षकेतर कर्मचारी अनुदान के अभाव में स्वर्ग सिधार गये, लेकिन बिहार सरकार 9 वर्षो का अनुदान नहीं दे सकी। उलम तथा नेलन (1984) कार्यसंतोष किसी कर्मचारी द्वारा कार्य, अन्य दूसरे संबंधित कारक तथा सामान्य जिन्दगी के प्रति विभिन्न मनोवृत्तियों का परिणाम होता है। अर्नोल्ड तथा फेल्डमेन (1986)- व्यक्तियों के द्वारा अपने कार्यों के प्रति समग्र धनात्मक भाव की मात्र को कार्य-संतोष कहा जाता है। कार्य-संतोष व्यक्ति में एक ऐसी सुखद और धनात्मक सर्वाधिक अनुभूति होती है, जो स्वयं व्यक्ति को अपने ही व्यवसाय अथवा व्यावसायिक अनुभवों के मूल्यांक से प्राप्त होती है।

उद्देश्य

जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार) के वित्तरहित तथा वित्तसहित डिग्री महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के कार्य-संतोष का अध्ययन।

न्यादर्श

तालिका नं0- 01

व्यवासय	समूह		योग
	वित्तरहित शिक्षक	वित्तसहित शिक्षक	
शैक्षिक	25	25	50

परिकल्पना

महाविद्यालयों में वितरहित शिक्षकों तथा वितसहित शिक्षकों में कार्य-संतोष में सार्थक अन्तर नहीं होगा।

प्रयुक्त परीक्षण

कार्य-संतोष मापनी' डॉ० अमर सिंह एवं डॉ० टी० आर० शर्मा द्वारा मापनी का इस परीक्षण में उपयोग किया गया है। जो कार्य-संतोष का विश्वसनीयता माना जाता है।

विधि

न्यादर्श में चयनित जयप्रकाश विश्वविद्यालय के वितरहित तथा वितसहित महाविद्यालयों के शिक्षकों पर कार्य-संतोष मापनी का व्यक्तिगत रूप से प्रयोग किया गया है। फलांकन के उपरांत 't' परीक्षण के माध्यम से दोनों समूहों के कार्य-संतोष के मध्य सांख्यिकीय दृष्टिकोण से अन्तर की सार्थकता ज्ञात की गई है।

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	't' मान	सार्थकता
वित्तरहित शिक्षक	25	78.6	13.11	0.01 स्तर पर	सार्थक अन्तर है।
वित्तसहित शिक्षक	25	71.2	9.58	3.31	

परिणाम

शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत वितरहित तथा वितसहित शिक्षकों के कार्य-संतोष संबंधी परिणाम।

तालिका नं0- 02

नोट : 0.05 स्तर पर सार्थकता हेतू मान 2.01

0.01 स्तर पर सार्थकता हेतू मान 2.68

विश्लेषण

परिणामों से स्पष्ट होता है वित्तसहित महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों तथा वित्तरहित महाविद्यालयों के कार्यरत शिक्षकों की अपेक्षा अधिक कार्य-संतोष पाया गया। यहाँ निराकरणीय परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है। दोनों समूहों के साथ कार्य-संतोष के

मध्य सांख्यिकीय दृष्टिकोण से सार्थक अन्तर है। अत: वितरहित महाविद्यालयों के शिक्षकों के बीच समस्या ही समस्या है जिसके फलस्वरूप उनमें शारीरिक तथा मानसिक थकान होते है जो उनके कार्य-संतोष को प्रभावित करता है। यह परिणाम घोष एवं शुक्ला (1967) कार्यसंतुष्टि वैयक्तिक कारकों से ज्यादा, कार्य अवस्था से सम्बन्ध कारकों से प्रभावित होती है।

महत्त्व

वित्तरहित डिग्री महाविद्यालय बिहार में 224 है। यह वित्तरहित डिग्री महाविद्यालय हर वर्ष लाखों की संख्या में गरीब बच्चों की स्नातक स्तर की शिक्षा प्रदान कर रहा है। इस प्रकार के वित्तरहित डिग्री महाविद्यालय नहीं रहता तो गरीब लोग पैसे के अभाव में दूर शहर में अपने बच्चों को उच्च शिक्षा (स्नातक स्तर के) प्राप्त नहीं करा सकते। क्योंकि गरीब अभिभावक पहले रोटी के बारे में सोचते तब दूर शहरी क्षेत्र में अपने बच्चों की पढ़ाई के बारे में सोचते। वित्तरहित महाविद्यालय जनता के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में अपना भूमि, पैसे लगाकर खोला गया है। इस महाविद्यालय से गरीब के बच्चे अपने घर रहकर कम खर्च में स्नातक तक डिग्री हासिल कर लेते हैं।

सुझाव

1. वित्तरहित शिक्षाकर्मियों में वेतन नहीं मिलने से असंतोष पाया जाता है साथ ही प्रबंध समिति द्वारा शोषण किया जाता है।
2. वित्तरहित शिक्षकों की बहाली मानक के अनुसार होनी चाहिए। मानक के अनुसार नहीं होने से उनका बेहत्तर प्रदर्शन नहीं होता है।
3. वित्तरहित शिक्षकों का सरकार स्क्रीनिंग द्वारा योग्य शिक्षकों को वतेन या अन्य बेहतर लाभ दे सकती है। साथ ही इन स्क्रीनिंग शिक्षकों को अन्य जिम्मेवारियाँ भी दी जा सकती है।
4. वित्तरहित महाविद्यालयों में आय-व्यय पर सरकार का नियंत्रण आवश्यक है। प्रबंधन से जुड़े लोगों के आय-व्यय का अंकेक्षण होने के साथ ही इनके व्यक्तिगत खातों की नियमित जाँच होनी चाहिए।
5. वित्तरहित कर्मियों को प्रबंधक द्वारा नियमित वेतन भुगतान तथा सेवा समाप्ति के उपरान्त सेवा लाभ हेतू अंशदान की व्यवस्था होनी चाहिए।
6. वित्तरहित शिक्षक एवं शिक्षकेतर कर्मचारियों का अनुदान उसके खाते में सरकार द्वारा देना चाहिए, ताकि प्रबंधन द्वारा अनुदान का बन्दरबाँट रोका जा सके।

निष्कर्ष

जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार) के वित्तरहित तथा वित्तसहित महाविद्यालय में कार्यरत शिक्षकों के कार्य-संतोष में सार्थक अंतर पाया गया है।

संदर्भग्रंथ

1. कापिल, डॉ० एच० के अनुसंधान विधियाँ, हर प्रसाद भार्गव: अगरा-4, 1999.
2. डे. रश्मि, व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, हर प्रसाद भार्गव: आगरा 1999.
3. सिंह, डॉ० अरूण कुमार, औधोगिक एवं संगठनात्मक मनोविज्ञान भारतीभवन: पटना, 1999
4. ओझा, आर० के० औधोगिक मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा- 2.
5. भाटिया, डॉ० तारेश, आधुनिक मनोविज्ञान सांख्यिकी लावण्य प्रकाशन डरई 2003.
6. कोचर, दिनेश चन्द्र, औधोगिक एवं संगठन मनोविज्ञान सिद्धान्त और समीक्षा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना 1989.
7. अलपोर्ट, जी० डब्बलु: दी साईकोलोजी ऑफ पार्टीसिपेंट, साईकोलोजी रिभीयु, 1947, 52, 117-132.
8. हॉकमैन, जे० आर० एण्ड लेवीयर ई० ई०: इम्पलाई रियेक्शन टु जब कैरेक्टीरिटिक्स ए कन्टक्टीव रिपब्लीकेशन जर्नल ऑफ एप्लायड् साईकोलोजी 1971-55, 259-286.
9. लोघल टी० एम० एण्ड केजनर, एम०: दी डिफिनिशन एण्ड मेजरमेन्ट ऑफ जब इनवल्भमेंट, जर्नल ऑफ अप्लायड साइकॉलोजी 1965, 40, 2433.

शुक्रनीति एक संक्षिप्त अध्ययन

प्रो० जितेन्द्र कुमार द्विवेदी

आचार्य-सह-संस्कृत विभागाध्यक्ष, कमलाराय महा विद्यालय, गोपालगंज

शोधसार- शुक्रनीति अपने समय की एक प्रमुख पुस्तक रही होगी जैसा कि इसके अध्ययन से हमें ज्ञात होता है। शुक्रनीति कि विषयवस्तु अत्सन्त सारगर्भित है। इस पुस्तक में ज्ञान के अनेक कोष प्राप्त होते है। राजनीति का एक विशद ज्ञान है तो समाज एवं स्थाप्यकला पर भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार शुक्रनीति वर्तमान समय में एक अध्ययन की विषयवस्तु है तो ज्ञानकोष से पूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर शुक्रनीति की विशिष्टता और महता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसके अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज उसके चिन्तन और उसकी प्रवृति पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। राजनीति सम्बन्धी तथ्यों का ज्ञान जो सामान्यत: सार्वजनीक कहा जा सकता है हमें इस ग्रन्थ से मिलता है। इस ग्रन्थ की अपनी विशिष्ट गरिमा है। परम्परागत चिन्तक इसे शुक्राचार्य की रचना मानते हैं। जहाँ तक अंत: साक्ष्य का प्रश्न है तो शुक्रनीतिसार के चतुर्थ अध्याय के कुछ श्लोक द्रष्टव्य है।

''न कवे: सदृशी नीतिस्त्रिषु लोकेषु विद्यते।

काव्यैव नीतिरन्या तु कुनीतिर्व्यवहारिणाम्''।। (4/428)[1]

''व्यवहारधुरं वोढुं स शक्तो नृपतिर्भवेत्''।।(4/427)[2]

आधुनिक विचारको ने यह भी कहा है कि कौटिल्य आदि के द्वारा उल्लिखित औशनस सिद्धान्त इस शुक्रनीति में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। प्रमाणपुष्ट इन तीन पक्षों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहूँच सकते हैं कि शुक्रनीति में वर्णित विषय शुक्राचार्य द्वारा किया गया संक्षित संस्करण तो हो ही सकता है क्योंकि इस संदर्भ में शुक्रनीति के प्रारंभिक प्रतिज्ञापरक श्लोक द्रष्टव्य है। 'वशिष्ठादि हम सब ऋषियों ने मनुष्य की बुद्धिकामना से शुक्रनीति के सारांश का संग्रह किया जो संक्षिप्त होते हुए भी तर्कपूर्ण और आधुनिक अल्पजीवी राजा तथा व्यवहार के लिए उपयुक्त है'' इससे शुक्रनीति की उपलब्धाता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यह ज्ञान के स्रोत के रुप में हमें प्रतीत होती है।

''स्वयम्भूर्भगवांल्लोकहितार्थं सङ्ग्रहेण बै।

तत्सारं तु वसिष्ठा धैरा स्माभिर्वृद्धिहेतवे''।।(शु0नी0 (3/3-4)[3]

शुक्रनीति के रचनाकाल पर अनेक इतिहासकारो एक मत नही है उन्होने साक्ष्य के आधाार पर अपने-अपने मत प्रकट किये है जिससे कुछ संशय बनता है।

''अल्पायुर्भू भृदाधार्थं सड़क्षिप्तं तर्कविस्तृतम्''।

कुछ इतिहासकारों ने इसे गुप्तोत्तर एवं हर्षपूर्णकाल की रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु ऐसा प्रयास समय सापेक्ष तो होता है पर उसकी तुलना देश-काल की स्थिति, तत्कालीन भाषा, अभिव्यक्ति की शैली तथा सामाजिक स्वरुप को आधार मानकर की जाती है। इन विषयों पर जब ध्यान जाता है तो तारतम्य का कोई सूत्र या तुलनात्मक स्थिति का कोई विशिष्ट स्वरुप हाथ नहीं आता। गुप्तकाल के जो भी अभिलेख इतिहास के संग्रहालय में उपलब्ध हैं उसकी प्रांजल भाषा, स्पष्ट शैली, सुन्दर अभिव्यक्ति एवं सश्लिष्ट शब्द-संयोजन के शुक्रनीति की भाषा में कही दर्शन नहीं होते। प्रत्युत शुक्रनीति में आर्ष-प्रयोगों की भरमार इसे गुप्तकाल से बहुत पीछे ढकेल देता है क्योंकि गुप्तयुग की गाथा बतानेवाली 'प्रयाग-प्रशस्ति' में हरिसेन की भाषा और शुक्रनीति की भाषा में कोई तुलना ही नहीं है। प्रांजल, स्फीत अर्थच्छवि को अपने में समेंटे गुप्तकालीन भाषा का नमूना प्रयाग-प्रशस्ति में देखा जा सकता है- यथा-

'यस्य प्रज्ञानुषड्गोचित सुखमनसः शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः।

X X X X X X X X

''अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापिकाव्यम्।

इस भाषा और शैली का शुक्रनीति में दर्शन दुलर्भ है। बची बात हर्षपूर्व की तो हर्षकालीन प्रशस्ति, अभिलेख और शिलालेख इस बात के प्रमाण है कि शुक्र के आर्ष प्रयोग से पाणिनि द्वारा परिष्कृत भाषा का ही इस काल में सुन्दर प्रयोग हुआ था। व्याकरण शास्त्र के इतिहास में सुन्दर प्रयोग हुआ था। व्याकरण शास्त्र के इतिहास में युधिाष्ठिर-मीमांसक ने पाणिनि का जो काल निर्धारण किया है (6 वीं शती ईसापूर्व से 4 थीं शती ई0पूर्व) उससे भी ऐतिहासिकों का तर्क स्वतः खण्डित हो जाता है क्योंकि शुक्रनीति में प्रायः पग-पग पर अपाणिनिय प्रयोग है। इन सभी तथ्यों के प्रयोग से कम परम्परागत मान्यता का समर्थन करते हुए शुक्रनीति के रचयिता भार्गव शुक्र को ही मानते हैं। इस तथ्य के कई प्रमाण उपलब्ध है कि महर्षि भार्गव शुक्र ही शुक्रनीति के रचनाकार थे। परन्तु इसके रचनाकाल पर कुछ मतभेद विद्वानों में देखने को मिलते है।

शुक्रनीति एवं उसका रचनाकाल

शुक्रनीति में वर्णित जाति व्यवस्था, आचार- विचार तथा वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिति से, स्थापत्य कला, मूर्ति निर्माण कला तथा अन्य कला के विशद संस्थाओं के संकेत से भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह रचना गुप्तकाल से पूर्व की है। जहाँ तक वर्णव्यवस्था का प्रश्न है तो ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में 'ब्राह्मणोऽस्थ-मुखमासीत्' से ही वर्णव्यवस्था परिलक्षित है। शुक्राचार्य तो एक क्रांतिकारी इस व्यवस्था के विरुद्ध अपना निर्णय स्थिर रखते हैं। उन्होंने इस जाति प्रथा का जमकर खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में सुगति और दुर्गति के प्रति कर्म ही कारण होता है। इस संसार में जन्म से कोई ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्व, शूद्र या म्लेच्छ नही होता है। वस्तुतः गुण और कर्म के भेद से ही ये वर्णभेद होते हैं। सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति तो ब्रह्मा से ही है, जो क्या फिर सभी ब्राह्मण नहीं है? क्योंकि वर्ण से या पिता से ब्रह्मतेज नहीं आ सकता। प्रत्युत ब्राह्मण तो वह है जो ज्ञान, कर्म, उपासना में प्रकाण्ड विद्वान होते हुए देवाराधन में लीन, शांतचित, इन्द्रियों को दमन करने वाला दयालु होता है-

''ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते कि ब्राह्मणाः।

न वर्णतो न जनकाद् ब्राह्मतेजः प्रपद्यते''।।(शु0नी0 1/39)[4]

X X X X X X X X

''ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः।

शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः''।।(शु0नी0 1/40)

इसी तरह उनका क्रांतिकारी दृष्टिकोण जनता की भली भाँति रक्षा करने में चुतर, वीर, जितेन्द्रिय पराक्रमी तथा दुष्टों को दमन करनेवाला ही क्षत्रिय हो सकता है और यह स्थिति निश्चित रुप से ईसा पूर्व लगभग छठी शताब्दी के पास रुद्रदमन जैसे सम्राटों को दृष्टि में रखकर ही लिखी जा सकती है। गुप्तकाल या गुप्तोतर काल तो ब्राह्मणधर्मी प्रतीत होता है, जिसके विरुद्ध तो सम्पूर्ण बौद्धधर्म का आयाम है। अतः शुक्रनीति का रचनाकाल बुद्ध के बाद किसी भी तरह निश्चित नहीं किया जा सकता है।

जहाँ तक आचार-विचार का प्रश्न है तो शुक्र की दृष्टि में इसका प्रेरक राजा होता है। यही कारण है कि उन्होंने काल का भी कारण राजा को माना है और यही काल ही व्यक्ति के आचार-विचार में प्रमाण माना जाय तो उसके करने वालों में धर्म कहाँ से हो? कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्र ने समाज का धर्माचरण आचार-विचार के प्रति सम्पूर्ण दायित्व राजा में समर्पित किया है-

''आचारप्रेरको राजाह्यंतत्कालस्य कारणम्।

यदि कालः प्रभाषं हि कस्ताद्धर्मोऽस्ति कर्तृषु''।।(शु0नी0 1/22)

राजा का यह दायित्व उपनिषद् काल में ही प्रतीत होता है कि उसे क्या करना है। उसका धार्म क्या है। उसके प्रमुख कार्य क्या है? उसकी प्राथमिकता क्या होनी चाहिए?

शुक्र ने भवन निर्माण एवं मंदिर निर्माण की ऊंचाई, मंजिल, द्वार, मंडप, कमरे आदि का जो निर्देष किया है, वह भी गुप्तकाल से पूर्व का ही प्रतीत होता है। शुक्र के अनुसार देवगृह की भित्ति की ऊंचाई पीठ से 10 हाथ अधिक तथा देव मंदिर के ऊपर की

भूमि द्वार से दुगुनी ऊंची होनी चाहिए और प्रसाद का शिखर ऊंचाई के अनुकूल द्विगुण या त्रिगुण बनाना चाहिए। मंदसौर के शिवमंदिर तथा पल्लवों के द्वारा निर्मित भवन या मंदिर से मेल खाते हैं। डॉ० विसेंट स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'Early History of India' के प्रथम संस्करण में अपनी सहमति प्रकट की है कि पल्लव लोग 'Persian' अथवा पाशियन मूल के थे।[5] डॉ० राइस ने लिखा है कि दक्षिण भारत के पल्लव नरेशों का समीकरण पल्लवों के साथ किया जाना चाहिए, जिनका उत्पादन गौतमीपुत्र शातकर्णी ने शको और यौवनो के साथ की डॉ० एल० राईस ने चालुक्यों की उत्पत्ति के विशय में अपना जो मत बताया है वह पल्लवों के मूल की समस्या से जुड़ा है। पल्लवों के अभिलेख भी प्राप्त है। इन सबों के तुलनात्मक अधययन करने पर 325 से 350ई० का ही हमें बोध कराता है। इससे भिन्न जहां तक मूर्तिकला का प्रश्न है तो शुक्र ने इस पर भी जमकर विचार किया है। मूर्ति कैसी हो लाखों में कोई एक प्रतिमा सबो के लिए सर्वांग सुंदर बनती है, किंतु शास्त्र के मतानुसार जो सुंदर हो, वही प्रतिमा सुंदर कहलाती है। इस संदर्भ में शुक्र के अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार जिसका मन जिस प्रतिमा में लग जाता है उसके लिए वही सुंदर है। फिर इससे आगे मूर्ति की लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई, आकृति, मोटाई आदि का विषद वर्णन शुक्र ने किया है-

''चतुर्दशाङ्गुलौ पादौ हयङ्गुष्ठो द्वयङ्गुलो मतः।
सार्द्धद्वयाङ्गु लोङ्गुष्ठस्तन्मिता वा प्रदेशिनी।
प्रदेशिनी द्वयङ्गुला तु सार्धाङ्गु जमथेतराः''।।

(शु0नी0 4)[6]

और ऐसी प्रतिमाएँ है जो आज भी दक्षिण भारत के मंदिरों में उपलब्ध है। अतः कुछ विचारकों ने शुक्रनीति की रचना को गुप्तकाल से लेकर हर्षकाल तक के बीच घसीटने की जो दुश्चेष्टा की है, वह अनैतिहासिक ही नहीं अनर्गल भी है। कहाँ शुक्र की आर्य भाषा और कहां हर्षकालीन परिष्कृत लौकिक संस्कृत। इस संदर्भ में एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

''श्रीहर्षदेवाभिभूतों श्रीवलभीपतित्रणोपजातः भ्रमददभ्रवि भ्रमयषोवितानुः श्रीद्दः'' (Ref:- Journal of the Bombay branch of the Royal Asiatic Society Vol. VI P I and Idian antiquary Vol. B 1884 PP 70-81)

बची बात गण, संघ, नियम या श्रेणी की तो गुप्तेतर काल के संगठनों के ही यह नाम नहीं है। प्राचीन काल में भी यह श्रेणियां भिन्न-भिन्न व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थीं क्योंकि इतिहास के प्रसिद्ध लेखक ओमप्रकाश निश्चयात्मक रूप से मान लिया है कि सिन्धु निवासी ने व्यापार या उद्योग हेतु अपने आप को संगठित कर लिया था और उनके संगठनों को श्रेणियों का पूर्वरूप माना जा सकता है। श्री आर. सी. मजूमदार और श्री राधा कुमुद मुखर्जी की यह धारणा है कि उत्तरवैदिक काल तक संगठित आर्थिक संस्थाओं का उदय हो चुका था। इन विद्वानों ने गण, श्रेणी, पणि आदि शब्दों का आधार पर निर्णय लिया था कि उस समय भी व्यापारियों के अपने संधा थे। ई0पू0 छठी ई0 में श्रेणियों के संगठन के विषय में हमें भी जातकों से भी जानकारी मिलती है। प्रत्येक व्यवसाय के लोग श्रेणी के रूप में अपना संगठन करके अपने नेता का चुनाव करते थे।[7]

इस प्रकार इन ऐतिहासिक प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष तक पहुंचते हैं कि शुक्रनीति की रचना ईसा से पूर्व में छठी शताब्दी के लगभग हुई है। यह बात अलग है कि उसका परिष्करण और परिवर्द्धन आगे चलकर होता गया है जो डॉ0 अल्तेकर के भ्रम का कारण बना है।

औषनस आचार्य शुक्र की कतिपय अन्य रचनाओं का उल्लेख अन्य अनेक ग्रंथों का उदाहरण के रूप में उपलब्ध है। विज्ञानेश्वर एवं कौटिल्य ने औषनस 'अर्थशास्त्र' की यथावसर जमकर चर्चा की है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र को यदि समानार्थक मान लिया जाय तो फिर महाभारत में उल्लेखित राजनीतिशास्त्र विज्ञानेश्वर द्वारा निर्देषित अर्थशास्त्र की एकात्मकता सिद्ध हो जाती है। महाकवि दण्डी ने भी अपने 'दशकुमारचरित' में राजनीतिशास्त्रकारों की नामावली में बड़े ही सम्मान क साथ प्राथमिकता देकर उल्लेख किया है-

'येऽपि मन्त्रकर्कशाः शास्त्रतन्त्रकाराः शुक्राड़िरसविलाशाक्ष
बहुदन्तीपुत्र-पराशर प्रमृतयः।
(द0कु0च0उ0पी08)

इसी तरह अश्वधोश ने भी अपने बुद्धचरित में ससम्मान राजनीतिशास्त्र रचयिता के रुप में स्मरण किया है। जैसे

'यद्राजशास्त्रं भृगुरडिऋरा च न चक्रतुर्वशकरावृषितौ।

तयोः सुतौ तौ च ससजतुस्तत्कालेन शुक्रश्य वृहस्पतिश्च'।

(बुद्धचरित 146)

इसी तरह महाकवि कालिदास ने भी शुक्र की राजनीति की सगर्व चर्चा की है कि इससे यह स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ कालिदास के पूर्व में प्रचलित एवं प्रयोग में था।

'अध्यापितस्योशनसाऽपि नीति प्रयुक्त राग प्रणिधिद्विषस्ते।।

(कु0सं0 3/460)

इसलिए हम कह सकते है कि शुक्रनीति की रचना कालिदास के पूर्व में हो चुकी थी और इसका अध्ययन उक्त काल में विषयवस्तु का केन्द्र होता था। इसीलिए कालिदास ने भी अपने ग्रन्थों में इसके कुछ अंश को रखा है। मनु ने सुप्रसिद्ध मीमांसक मेंधा तिथि ने औषनसी राजनीति के दो श्लोकों को उधृत किया है। कुछ आलोचकों ने इन्हें स्मृतिकार के रुप में भी स्मरण किया है। मिताक्षरा 3/360 तथा मन्वर्थमुक्तावली 10/47 में भी आचार्य शुक्र को स्मृतिकार के रुप में स्मरण किया गया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि मनु याज्ञवक्ल की तरह शुक्र की भी कोई स्मृति अवश्य होगी, जो अभी अनुपलब्ध है बैंकन कॉलेज संग्रहालय में दो तथा जीवानंद संग्रहालय एवं आनंद आश्रम संग्रहालय में भी औशनस धर्मशास्त्र उपलब्ध है। महामहोपाध्याय 'काणे' ने औशनस स्मृति का उल्लेख किया है। अतः यह कहना आयुक्तिकर नहीं है कि शुक्राचार्य ने राजनीति के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों की रचना की है।

निष्कर्षः-संस्कृत साहित्य में अनेक पुस्तकें हमारे प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश डालती है, परन्तु शुक्रनीति एक एकसी पुस्तक है जिसके अध्ययन से हमें एक स्वच्छ एवं समृद्ध राजनीति का ज्ञान होता है तथा प्राचीन समृद्धि से हमें अवगत होने का एक मौका मिलता है। इसके रचनाकाल पर भी संशय तो विद्वानों में होता है परन्तु यह उसी काल की अवश्य रचना है जिस समय संस्कृत भारत में फल-फुल रहा था। इस ग्रन्थ में शासन सत्ता के अलावा भवनों आदि का विशद वर्णन मिलता है किवे कैसे हो तथा उसकी स्थापना या आधारशीला कैसी हो। इससे स्थापत्यकला का भी विशद् वर्णन प्राप्त होता है। इसके विषय वस्तु के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार एक उच्चकोटी के विद्वान रहे होगे। इसलिए आज के समय में इसका अध्ययन समाचीन है जिससे हमें अनेक उपलब्धियाँ हासिल हो सकती है इसलिए यह शोधापत्र एक मील का पत्थर साबित होगा।

संदर्भ सूची

1. महर्षि शुक्राचार्य विरचिता 'शुक्रनीति' प्रकाशक चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी प्रथम संसकरण-1998
2. वही, अध्ययन-4
3. वही, अध्याय-प्रथम
4. वही, अध्याय-प्रथम
5. Early History of India-डॉ0 विसेन्ट स्मिथ
6. शुक्रनीति, अध्याय-4
7. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास-डॉ0 महावीर सिंह त्यागी, प्रकाशक-राजीव प्रकाशक, मेरठ

स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता में सहसम्बन्ध का अध्ययन

सर्जुन कुमार

शोधार्थी, शिक्षा संकाय, राजा श्रीकृष्ण दत्त पी०जी० कॉलेज, जौनपुर (उ0प्र0)

डॉ० आशाराम

एसो० प्रोफेसर, सेवानिवृत्त, शिक्षा संकाय, राजा श्रीकृष्ण दत्त पी०जी० कॉलेज, जौनपुर (उ0प्र0)

सारांश

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता का अध्ययन किया गया तदोपरान्त शोधार्थी द्वारा जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति व पर्यावरण जागरूकता सहसम्बन्ध का अध्ययन किया गया। प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का अनुसरण किया गया एवं शोध के चरों पर आधारित शून्य परिकल्पनाओं का निर्माण किया गया। प्रस्तुत शोध अध्ययन में

वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर से सम्बद्ध 10 वित्त पोषित महाविद्यालयों से स्नातक (जीव विज्ञान वर्ग) की प्रथम वर्ष से कुल 200 विद्यार्थियों (100 छात्र व 100 छात्राऐं) का चयन स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि की सहायता से किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी द्वारा जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति के मापन हेतु स्वनिर्मित परीक्षण एवं पर्यावरण जागरूकता के मापन हेतु डॉ0 प्रवीण कुमार झा द्वारा निर्मित प्रमापीकृत पर्यावरण जागरूकता मापनी का प्रयोग किया गया है। सांख्यिकीय प्रविधि के अन्तर्गत शोधार्थी द्वारा मध्यमान, मानक विचलन, टी-परीक्षण व पीयरसन सहसम्बन्ध गुणांक (आघूर्ण विधि) का अनुसरण किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में निष्कर्ष के रूप में दर्शाया गया है कि स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया है, जिसमें जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के संदर्भ में छात्राऐं, छात्रों की तुलना में अधिक सकारात्मक व प्रबल पायी गयी है। इसी प्रकार छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता में सार्थक अन्तर पाया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में स्नातक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता में सकारात्मक सहसम्बन्ध पाया गया है।

1.1 प्रस्तावना

आज पर्यावरण जागरूकता की आवश्यकता सभी देशों के लिए समान रूप से है, क्योंकि विश्व के सभी देश आज किसी न किसी प्रकार के पर्यावरणीय संकट से ग्रस्त हैं। विकासशील देश और विकसित देश अपनी भिन्न-भिन्न समस्याओं के बावजूद इस बात पर एकमत हैं कि जितनी तेजी से आज पर्यावरण की समस्यायें उठ रही हैं, चाहे वह जनसंख्या वृद्धि के दुष्प्रभावों के कारण हों या औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हों या कोई अन्य कारण से उसको सरकार या जनता अथवा दोनों ही सुधार कर भी अपने

पिछले रूप में नहीं ला सकतीं। प्राकृतिक संसाधनों का जिस दुर्दान्त रूप में शोषण हो रहा है और उससे जो प्रकृति के संचित कोष रिक्त हो रहे हैं, उसे वापस पूरा नहीं किया जा सकता।

पर्यावरण की गुणवत्ता एवं संसाधन भण्डार में अनवरत हो रहे क्षय तथा अवनयन ने पर्यावरण वैज्ञानिकों, प्रविधि विशेषज्ञों, राजनीतिज्ञों, समाज-सेवियों, शिक्षाविदों, दार्शनिकों एवं विकास नियोजकों को सजग कर दिया है। पर्यावरण एवं पारिस्थैतिकी के प्रति चेतना अब जन-जन तक विभिन्न संचार माध्यमों से पहुँचायी जा रही है। ग्रामीण कृषक भी अब सजग होने लगे हैं किन्तु व्यापक जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न आवश्यकताओं की पूर्ति तभी सम्भव है जब जीव मण्डल के अन्य जीवों का आहार छीना जाय। यद्यपि प्रकृति ने प्रत्येक निवास्य क्षेत्र में एक निश्चित पोषण क्षमता तय कर रखा है जिसके अतिक्रमण होने से प्राकृतिक व्यवस्था तन्त्र अव्यवस्थित हो जाता है। विश्व स्तर पर समसामयिक पारिस्थैतिक समस्याओं पर सामान्य दृष्टिपात के उपरान्त यह इंगित कर देना आवश्यक होगा कि विकसित एवं धनी राष्ट्रों या समाजों की तुलना में विकासोन्मुख एवं गरीब देशों या समाजों की पारिस्थैतिक समस्यायें कुछ भिन्न है।

जीव विज्ञान की विषय-वस्तु की वर्तमान में मानव जाति व पर्यावरण में प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए शोधार्थी द्वारा जीव विज्ञान के प्रति विद्यार्थियों की अभिवृत्ति पर हुए शोध अध्ययन का विश्लेषण किया गया जिसका संक्षिप्त साहित्य सर्वेक्षण को निम्नवत् इंगित किया गया है।

फॉरीयो (2019) द्वारा बताया गया कि उच्च माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं के मध्य जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति के सन्दर्भ में सार्थक अन्तर नहीं पाया गया है एवं जीव विज्ञान के प्रति मनोवृत्ति व शैक्षिक निष्पत्ति के मध्य सकारात्मक व सार्थक सहसम्बन्ध पाया गया है।

हुसैनी (2015) द्वारा बताया गया कि पर्याप्त शिक्षण उपागम व सहायक सामग्री, प्रयोगात्मक कार्यशाला व शिक्षण विधि विद्यार्थियों की जीव विज्ञान के प्रति सकारात्मक मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है।

शेखर (2013) द्वारा बताया गया कि छात्र-छात्राओं के मध्य विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति के सन्दर्भ में सार्थक अन्तर पाया गया है जिसमें छात्राओं की विज्ञान अभिवृत्ति छात्रों की विज्ञान अभिवृत्ति की तुलना में उच्च पायी गयी है।

शोधार्थी द्वारा जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता पर आधारित पूर्व में हुए शोध अध्ययनों का गहन विश्लेषण किया गया जिसमें विश्लेषण से यह विधित होता है कि विद्यार्थियों की जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता बहुत कम शोध अध्ययन पाये गये है, जबकि जीव विज्ञान मानव व पर्यावरण के मध्य संतुलन पर प्रकाश डालती है एवं पर्यावरण जागरूकता भारत व विश्व के सामने एक ज्वलंत विषय है अत: शोध की महत्ता को ध्यान में रखते हुए शोधार्थी द्वारा "स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों की जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन" को शोध विषय के रूप में चयनित किया गया है।

1.2 अध्ययन के उद्देश्य

1. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति का अध्ययन करना।
2. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता का अध्ययन करना।
3. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन करना।

1.3 अध्ययन की परिकल्पनाऐं

1. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया जायेगा।
2. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया जायेगा।
3. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सार्थक सहसम्बन्ध नहीं पाया जायेगा।

1.4 न्यादर्श प्रारूप

प्रस्तुत शोध अध्ययन में वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर से सम्बद्ध 10 वित्त पोषित महाविद्यालयों का चयन यादृच्छिक न्यादर्श विधि की सहायता से किया गया है। तदोपरान्त प्रत्येक महाविद्यालय से स्नातक (जीव विज्ञान वर्ग) की प्रथम वर्ष से 10-10 छात्र-छात्राओं अर्थात् कुल 200 विद्यार्थियों (100 छात्र व 100 छात्रायें) का चयन स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि की सहायता से किया गया।

1.5 अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी द्वारा जीव विज्ञान के प्रति अभिवृत्ति के मापन हेतु स्वनिर्मित परीक्षण का निर्माण किया गया जिसमें कुल 25 कथनों को सम्मिलित किया गया जिसके अन्तर्गत जीव विज्ञान विषय में रूचि, अध्ययन एकाग्रता, विषय की सार्थकता एवं मूल्य, व्यवसाय के रूप जीव विज्ञान का महत्व, विषय का कठिनाई स्तर, विषय का व्यकितगत, सामाजिक एवं पर्यावरणीय मूल्य, आदि के संदर्भ में अभिवृत्ति का मूल्यांकन किया गया है एवं पर्यावरण जागरूकता के मापन हेतु डॉ0 प्रवीण कुमार झा द्वारा निर्मित प्रमापीकृत पर्यावरण जागरूकता मापनी का प्रयोग किया गया।

1.6 सांख्यिकीय प्रविधियाँ

सांख्यिकीय प्रविधि के अन्तर्गत शोधार्थी द्वारा मध्यमान, मानक विचलन, टी-परीक्षण व पीयरसन सहसम्बन्ध गुणांक (आघूर्ण विधि) का अनुसरण किया गया है।

1.7 अध्ययन की उपलब्धियाँ

1. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति का अध्ययन करना।

तालिका 01: *जीव विज्ञान विषय के प्रति छात्र-छात्राओं की अभिवृत्ति के लिए मध्यमान, मानक विचलन व क्रान्तिक अनुपात*

अध्ययन चर	लिंग	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	Øान्तिक अनुपात	मुäांश	सार्थकता स्तर
जीव विज्ञान वि'ाय के प्रति अभिवृ(ि	छात्र	100	78.61	6.15	2.03	198	0.05 पर सार्थक
	छात्रा	100	80.54	7.20			

उपरोक्त तालिका 01 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि जीव विज्ञान विषय के प्रति छात्र व छात्राओं की अभिवृत्ति से सम्बन्धित आँकड़ों का मध्यमान क्रमषः 78.61 व 80.54 प्राप्त हुआ एवं सम्बन्धित मानक विचलन का मान क्रमषः 6.15 व 7.20 प्राप्त हुआ है। जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के सन्दर्भ में छात्राओं का मध्यमान छात्रों के मध्यमान से अधिक पाया गया। शोधार्थी द्वारा छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के सन्दर्भ में प्राप्त मध्यमानों के मध्य सार्थक अन्तर के क्रान्तिक अनुपात का मान 2.03 प्राप्त हुआ जो कि 198 स्वतंत्रता अंश व 0.05 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक मान है। अतः जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के सन्दर्भ में छात्र व छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर पाया गया है। तालिका सं. 01 में प्रदर्षित जीव विज्ञान विषय के प्रति छात्र व छात्राओं की अभिवृत्ति से सम्बन्धित मध्यमानों को निम्न दण्डारेख 01 द्वारा प्रदर्षित किया गया है।

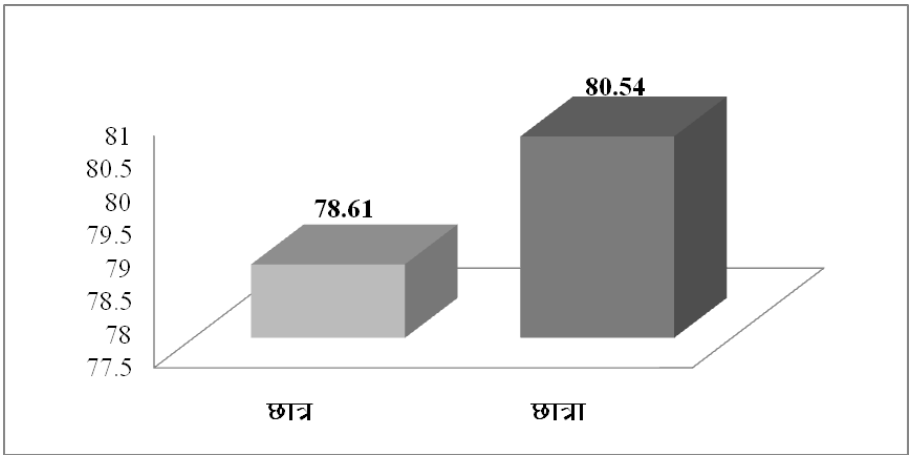

दण्डारेख 01 जीव विज्ञान विषय के प्रति छात्र व छात्राओं की अभिवृत्ति से सम्बन्धित मध्यमान

2. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता का अध्ययन करना।

तालिका 02 जीव विज्ञान विषय के प्रति छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता के लिए मध्यमान, मानक विचलन व क्रान्तिक अनुपात

अध्ययन चर	लिंग	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	Øान्तिक अनुपात	मüांश	सार्थकता स्तर
पर्यावरण जागरूकता	छात्र	100	41.74	2.89	3.90	198	0.01 पर सार्थक
	छात्रा	100	43.38	3.04			

उपरोक्त तालिका 02 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता का मध्यमान क्रमशः 41.74 व 43.38 पाया गया है एवं उक्त के संदर्भ में मानक-विचलन क्रमशः 2.89 व 3.04 पाया गया है। शोधार्थी द्वारा छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता के मध्यमानों के मध्य सार्थक अन्तर के लिये क्रान्तिक अनुपात की गणना की गयी एवं क्रान्तिक अनुपात का मान 3.90 पाया गया। जो कि 198 स्वतंत्रता अंश व 0.01 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक मान है। तालिका 02 में अंकित सांख्यिकीय मानों (मध्यमान) को दण्डारेख 02 की सहायता से निम्नवत् प्रदर्शित किया गया है।

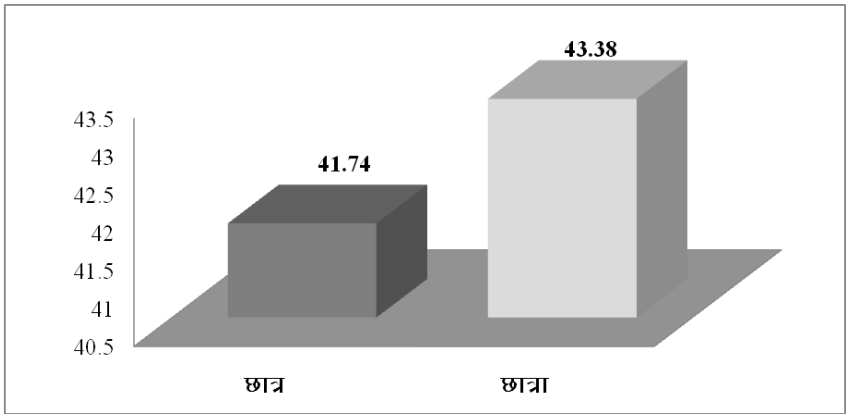

दण्डारेख 02 जीव विज्ञान विषय के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता से सम्बन्धित मध्यमान

पुनः शोधार्थी द्वारा स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता के प्रत्येक आयामों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए वर्णनात्मक व अनुमानात्मक सांख्यिकीय प्रविधियों की सहायता से विश्लेषण किया गया।

(क) पर्यावरण जागरूकता के प्रथम आयाम ''प्रदूषण के कारणों के प्रति छात्र व छात्राओं की जागरूकता'' का अध्ययन

तालिक 03: *जागरूकता के प्रथम आयाम ''प्रदूषण के कारणों के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर के लिए सांख्यिकीय मान (¼M, S.D, CR-value)*

अध्ययन चर	समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	क्रान्तिक अनुपात	प्रायिकता स्तर	सार्थकता
पर्यावरण जागरूकता के प्रथम आयाम ¼Çथम	छात्र	100	7.46	0.98	1.79	0.05	असार्थक
	छात्रा	100	7.72	1.07			

उपरोक्त तालिका 03 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि पर्यावरण जागरूकता के प्रथम आयाम ''प्रदूषण के कारणों के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं की प्रतिक्रिया से आँकड़ों के विश्लेषण के उपरान्त मध्यमान क्रमशः 7.46 व 7.72 पाया गया एवं मानक विचलन क्रमशः 0.98 व 1.07 पाया गया। पर्यावरण जागरूकता के प्रथम आयाम ''प्रदूषण के कारणों के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्राओं का समूह, छात्रों के समूह की तुलना में अधिक जागरूक पाया गया। पुनः छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर की गणना के लिए क्रान्तिक अनुपात का मान 1.79 पाया गया एवं क्रान्तिक अनुपात का प्राप्त मान 0.05 सार्थकता स्तर व 198 मुक्तांश पर असार्थक है जो यह दर्शाता है कि पर्यावरण जागरूकता के प्रथम आयाम ''प्रदूषण के कारणों के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के समूह के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया गया। तालिका 03 में अंकित सांख्यिकीय मानों (मध्यमान) को दण्डारेख 03 की सहायता से निम्नवत् प्रदर्शित किया गया है।

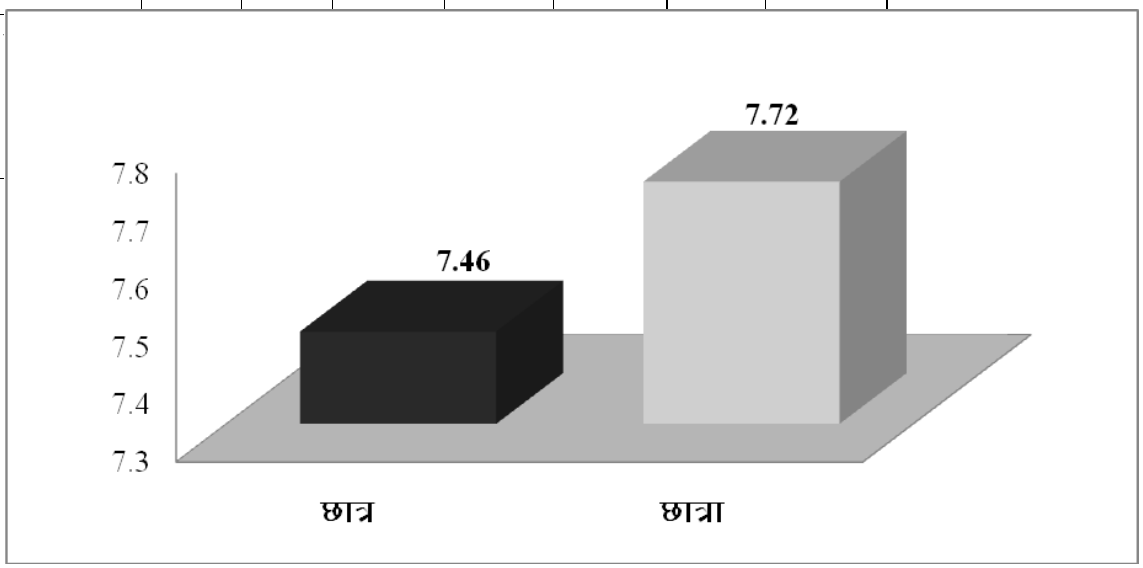

दण्डारेख 03 जीव विज्ञान विषय के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता द्धप्रथम आयामऋ से सम्बन्धित मध्यमान

(ख) पर्यावरण जागरूकता के द्वितीय आयाम 'वायु, वन, मृदा आदि का संरक्षण के प्रति प्रति छात्र व छात्राओं की जागरूकता' का अध्ययन

तालिक 04: *पर्यावरण जागरूकता के द्वितीय आयाम 'वायु, वन, मृदा आदि का संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर के लिए सांख्यिकीय मान (M, S.D, CR-value)*

अध्ययन चर	समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	Øान्तिक अनुपात	मुäांश	सार्थकता स्तर
पर्यावरण जागरूकता ½द्वितीय आयाम½	छात्र	100	8.34	1.19	1.58	198	0.05 पर असार्थक
	छात्राऐं	100	8.60	1.14			

उपरोक्त तालिका 04 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि पर्यावरण जागरूकता के द्वितीय आयाम 'वायु, वन, मृदा आदि का संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं की प्रतिक्रिया के आँकड़ों के विश्लेषण के उपरान्त मध्यमान क्रमशः 8.34 व 8.60 पाया गया एवं मानक विचलन क्रमशः 1.19 व 1.14 पाया गया। पर्यावरण जागरूकता के द्वितीय आयाम 'वायु, वन, मृदा आदि का संरक्षण के प्रति जागरूकताह्न के सन्दर्भ में छात्राओं का समूह, छात्रों के समूह की तुलना में अधिक जागरूक पाया गया छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर की गणना के लिए क्रान्तिक अनुपात का मान 1.58 पाया गया एवं क्रांन्तिक अनुपात का प्राप्त मान 0.05 सार्थकता स्तर व 198 मुद्रांश पर असार्थक है जो यह दर्शाता है कि पर्यावरण जागरूकता के द्वितीय आयाम ह्वायु, वन, मृदा आदि का संरक्षण के प्रति जागरूकताह्न के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के समूह के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया गया। शोधार्थी द्वारा तालिका 04 में अंकित सांख्यिकीय मानों द्धमध्यमानऋ को दण्डारेख 04 की सहायता से निम्नवत् प्रदर्शित किया गया है।

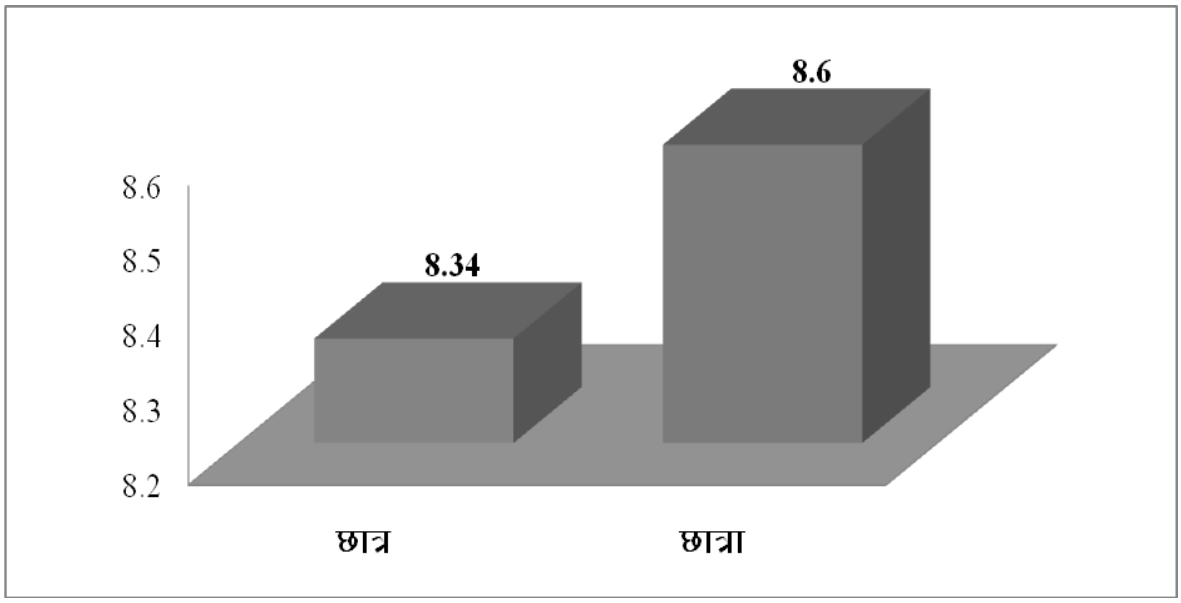

दण्डारेख 04 जीव विज्ञान विषय के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता (द्वितीय आयाम) से सम्बन्धित मध्यमान

(ग) पर्यावरण जागरूकता के तृतीय आयाम हऊर्जा संरक्षण के प्रति छात्र व छात्राओं की जागरूकताह का अध्ययन

तालिक 05: *पर्यावरण जागरूकता के तृतीय आयाम 'ऊर्जा संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर के लिए सांख्यिकीय मान (M, S.D, CR-value)*

अध्ययन चर	समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	Øान्तिक अनुपात	मुäांश	सार्थकता स्तर
पर्यावरण जागरूकता ½तृतीय आयाम½	छात्र	100	8.07	1.16	1.83	198	0.05 पर असार्थक
	छात्राऐं	100	8.34	0.91			

उपरोक्त तालिका 05 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि पर्यावरण जागरूकता के तृतीय आयाम 'ऊर्जा संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं की प्रतिक्रिया के आँकड़ों के विश्लेषण के उपरान्त मध्यमान क्रमशः 8.07 व 8.34 पाया गया एवं मानक विचलन क्रमशः 1.16 व 0.91 पाया गया। पर्यावरण जागरूकता के तृतीय आयाम 'ऊर्जा संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्राओं का समूह, छात्रों के समूह की तुलना में अधिक जागरूक पाया गया परन्तु दोनों समूहों के प्राप्त मध्यमानों में अन्तर नगण्य है। पुनः शोधार्थी द्वारा पर्यावरण जागरूकता के तृतीय आयाम 'ऊर्जा संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर के लिए क्रान्तिक अनुपात का मान 1.83 पाया गया एवं क्रांन्तिक अनुपात का प्राप्त मान 0.05 सार्थकता स्तर व 198 मुक्तांश पर असार्थक है जो यह दर्शाता है कि पर्यावरण जागरूकता के तृतीय आयाम 'ऊर्जा संरक्षण के प्रति जागरूकता' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के समूह के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया गया। तालिका 05 में अंकित सांख्यिकीय मानों (मध्यमान) को दण्डारेख 05 की सहायता से निम्नवत् प्रदर्शित किया गया है।

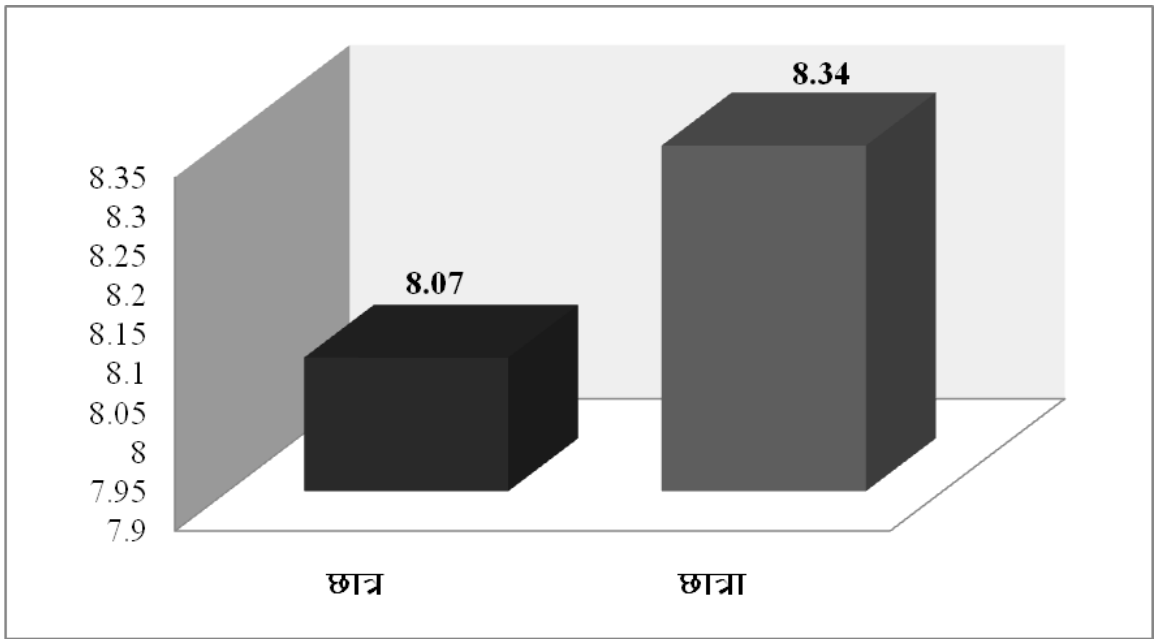

दण्डारेख 05 जीव विज्ञान विषय के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता (तृतीय आयाम) से सम्बन्धित मध्यमान

(घ) पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम ''मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति छात्र व छात्राओं की जागरूकता'' का अध्ययन

तालिक 06: *पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम ''मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर के लिए सांख्यिकीय मान (M, S.D, CR-value)*

अध्ययन चर	समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	Øान्तिक अनुपात	मुäांश	सार्थकता स्तर
पर्यावरण जागरूकता ¼चतुर्थ आयाम½	छात्र	100	12.71	1.17	3.14	198	0.01 पर सार्थक
	छात्राऐं	100	13.21	1.08			

उपरोक्त तालिका 06 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम ह्मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति जागरूकताह्न के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं की प्रतिक्रिया के आँकड़ों के विश्लेषण के उपरान्त मध्यमान क्रमशः 12.71 व 13. 21 पाया गया एवं मानक विचलन क्रमशः 1.17 व 1.08 पाया गया। पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम ''मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्राओं का समूह, छात्रों के समूह की तुलना में अधिक जागरूक पाया गया। पुनः शोधार्थी द्वारा पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम ''मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर की गणना के लिए क्रान्तिक अनुपात का मान 3.14 पाया गया एवं क्रांन्तिक अनुपात का प्राप्त मान 0.05 सार्थकता स्तर व 198 मुक्तांश पर सार्थक है जो यह दर्शाता है कि पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम ''मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के समूह के मध्य सार्थक अन्तर पाया गया। तालिका 06 में अंकित सांख्यिकीय मानों (मध्यमान) को दण्डारेख 06 की सहायता से निम्नवत् प्रदर्शित किया गया है।

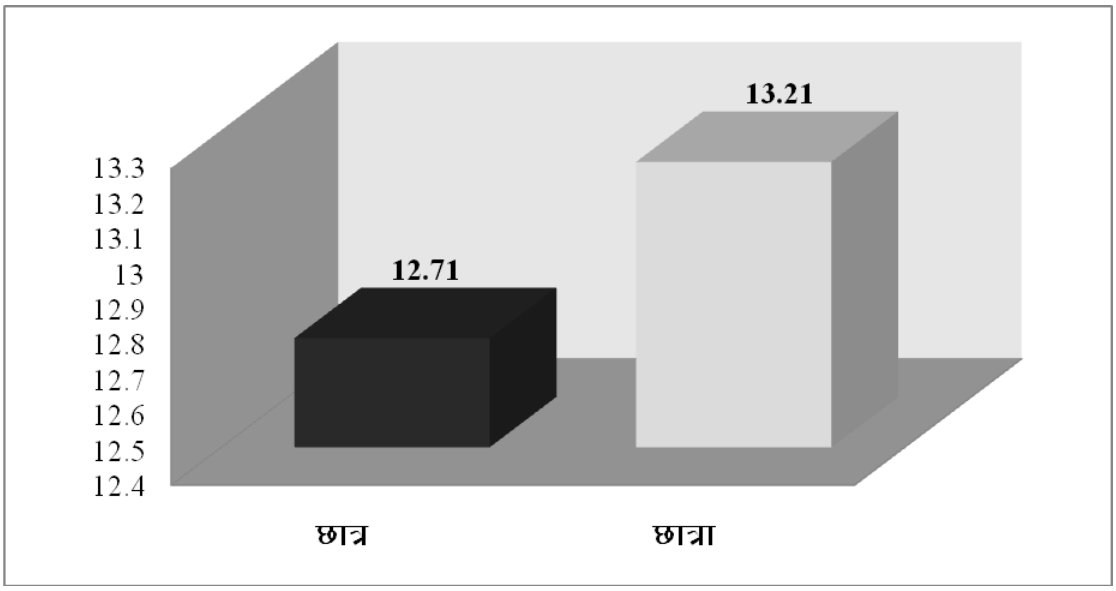

दण्डारेख 06 जीव विज्ञान विषय के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता (चतुर्थ आयाम) से सम्बन्धित मध्यमान

(ङ) पर्यावरण जागरूकता के पंचम आयाम ''वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि का संरक्षण के प्रति छात्र व छात्राओं की जागरूकता'' का अध्ययन

तालिक 07: *पर्यावरण जागरूकता के पंचम आयाम ''वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर के लिए सांख्यिकीय मान (M, S.D, CR-value)*

अध्ययन चर	समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	Øान्तिक अनुपात	मुäांश	सार्थकता स्तर
पर्यावरण जागरूकता (पंचम आयाम)	छात्र	100	5.16	0.97	2.74	198	0.01 पर सार्थक
	छात्रायें	100	5.51	0.83			

उपरोक्त तालिका 07 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि पर्यावरण जागरूकता के पंचम आयाम ''वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं की प्रतिक्रिया के आँकड़ों के विश्लेषण के उपरान्त मध्यमान क्रमशः 5.16 व 5.51 पाया गया एवं मानक विचलन क्रमशः 0.97 व 0.83 पाया गया। पर्यावरण जागरूकता के पंचम आयाम ''वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्राओं का समूह, छात्रों के समूह की तुलना में अधिक जागरूक पाया गया। पुनः शोधार्थी द्वारा पर्यावरण जागरूकता के पंचम आयाम ''वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर की गणना के लिए क्रान्तिक अनुपात का मान 2.74 पाया गया एवं क्रांन्तिक अनुपात का प्राप्त मान 0.01 सार्थकता स्तर व 198 मुक्तांश पर सार्थक है जो यह दर्शाता है कि पर्यावरण जागरूकता के पंचम आयाम ''वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि का संरक्षण के प्रति जागरूकता'' के सन्दर्भ में छात्र-छात्राओं के समूह के मध्य सार्थक अन्तर पाया गया। तालिका 07 में अंकित सांख्यिकीय मानों (मध्यमान) को दण्डारेख 07 की सहायता से निम्नवत् प्रदर्षित किया गया है।

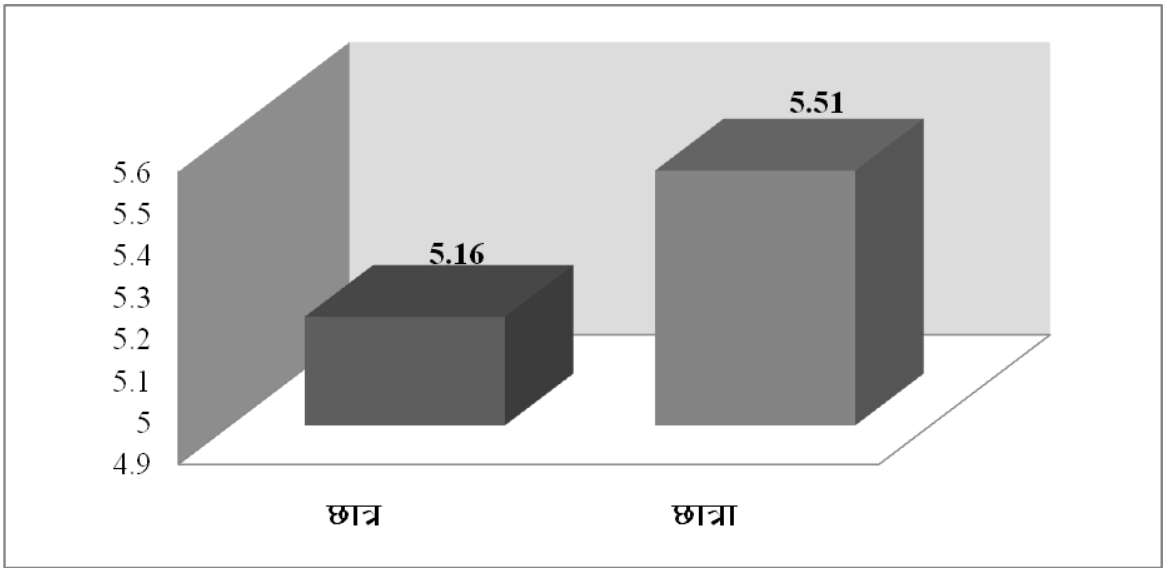

दण्डारेख 07 जीव विज्ञान विषय के छात्र व छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता (पंचम आयाम) से सम्बन्धित मध्यमान

3. स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन करना।

तालिक 07: *जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सहसम्बन्ध गुणांक*

अध्ययन चर	सहसम्बन्ध गुणांक का मान	मुäांश	सार्थकता स्तर
जीव विज्ञान विषय के çति अभिवृिा	0.148	198	**0.05** पर सार्थक
पर्यावरण जागरूकता			

उपरोक्त तालिका 07 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सहसम्बन्ध गुणांक का मान 0.148 पाया गया है जो कि 198 मुक्तांश व 0.05 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक मान है। अत: कहा जा सकता है कि जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य धनात्मक व सार्थक सहसम्बन्ध पाया जाता है अर्थात् जिन विद्यार्थियों में जीव विज्ञान विषय के प्रति उच्च व सकारात्मक अभिवृत्ति पायी जाती है उनकी पर्यावरण जागरूकता उच्च होती है।

1.8 परिकल्पनाओं का परीक्षण

परिकल्पना 01: ''स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया जायेगा।'' को 0.05 स्तर पर अस्वीकृत किया जाता है।

परिकल्पना 02: ''स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की पर्यावरण जागरूकता के मध्य सार्थक अन्तर नहीं पाया जायेगा।'' को 0.01 स्तर पर अस्वीकृत किया जाता है।

परिकल्पना 03: ''स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान वर्ग के छात्र-छात्राओं की जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य सार्थक सहसम्बन्ध नहीं पाया जायेगा।'' को 0.05 स्तर पर अस्वीकृत किया जाता है।

1.9 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में पाया गया है कि स्नातक स्तर पर जीव विज्ञान विषय में छात्र-छात्राओं ने जीव विज्ञान विषय के प्रति मध्यम स्तरीय अभिवृत्ति पायी गयी। जबकि जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के संदर्भ में छात्रायें, छात्रों की तुलना में अधिक सकारात्मक पायी गयी एवं दोनों समूहों के मध्य जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति के संदर्भ में सार्थक अन्तर पाया गया है। पर्यावरण जागरूकता के संदर्भ में छात्राओं का मध्यमान छात्रों के मध्यमान की तुलना में अधिक पाया गया है एवं प्राप्त क्रान्तिक अनुपात का मान छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर को दर्शाता है। पर्यावरण जागरूकता के प्रथम आयाम (प्रदूषण के कारणों के प्रति जागरूकता), द्वितीय आयाम (वायु, वन, मृदा, आदि संरक्षण के प्रति जागरूकता) एवं तृतीय आयाम (ऊर्जा संरक्षण के प्रति जागरूकता) के संदर्भ में छात्राओं का मध्यमान छात्रों के मध्यमान की तुलना में अधिक पाया गया है परन्तु प्राप्त क्रान्तिक अनुपात के मान छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर को नहीं दर्शाते है। इसी प्रकार पर्यावरण जागरूकता के चतुर्थ आयाम (मानव स्वास्थ्य का संरक्षण के प्रति जागरूकता) एवं पंचम आयाम (वन्य जीव-जन्तु एवं कृषि संरक्षक के प्रति जागरूकता) के संदर्भ में छात्राओं का मध्यमान छात्रों के मध्यमान की तुलना में अधिक पाया गया है एवं प्राप्त क्रान्तिक अनुपात के मान छात्र-छात्राओं के मध्य सार्थक अन्तर को दर्शाते है। जीव विज्ञान विषय के प्रति अभिवृत्ति एवं पर्यावरण जागरूकता के मध्य धनात्मक व सार्थक सहसम्बन्ध पाया जाता है अर्थात् जिन विद्यार्थियों में जीव विज्ञान विषय के प्रति उच्च व सकारात्मक अभिवृत्ति पायी जाती है उनकी पर्यावरण जागरूकता उच्च होती है।

सन्दर्भ सूची

हुसैनी, इल्यासू (2015): एटीट्यूड ऑफ सेकेण्डरी स्कूल स्टूडेंस टूवर्ड्स बायोलॉजी एज ए स्कूल सब्जेक्ट इन नाईजीरिया। इंटरनेशन जर्नल ऑफ रिसर्च एण्ड रिव्यू, वॉल्यूम-2 (10), पेज नं. 596-600

शेखर, मनी (2013): साइंस एटीट्यूड ऑफ हायर सेकेण्डरी बायोलॉजी स्टूडेंस। जर्नल ऑफ अप्लाइड रिसर्च वॉल्यूम-3 (9), पेज नं. 178-179

फॉरीयो, डोरकॉस (2014): स्टडी एटीट्यूड एण्ड एकेडमिक अचीवमेंट इन बायोलॉजी एट सेकेण्डरी स्कूल। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ साइंटिफिक एण्ड रिसर्च पब्लिकेशन, वॉल्यूम-9 (8), पेज नं. 333-340

websites

http://lasusterg.okebsf.org/papers-for-review/group-5/socio-culturalfactors-affecting-the-interest-and-achievement-of-nigerian-pupils-inscience/

https://www.ied.edu.hk/apfslt/v9_issue1/aktamis/

http://repository.up.ac.za/bitstream/handle/2263/24239/dissertation.pdf?seque nce=1

http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/

http://web.stclair.k12.il.us/splashd/Experimt.htm.

http://www.eduresearch.dauniv.ac.in

बिहार में नक्सलवाद "एक चुनौती एवं समाधान"

डॉ० अंशु कुमार मल्लिक

असि० प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, एस०एम०डी० डिग्री कॉलेज मठिया नेचुआ जलालपुर, गोपालगंज

सैद्धांतिक रूप सेनक्सलवाद एक राजनीतिक विचारधाारा है जो मार्क्सवाद लेनिनवाद और माओ-त्से-तुंग विचारधाारा से संचालित तथा अनुशासित है। माना जाता है कि नक्सली सच्चे, ईमानदार, साहसी और आत्मबलिदानी होते हैं। व्यापक भ्रष्टाचार के प्रति प्रतिरोध नि:स्वार्थता अत्यंत ही दलित-महादलित पीड़ित तबके के साथ भी पूरी तरह घुल मिल जाने की क्षमता उनकी बेजोड़ होती है। परन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से नक्सली राजनीतिक व्यवहार में पूर्णत: इन्हीं मापदंडों पर आधाारित रही है,यह कहना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होगा। वर्तमान समय में नक्सली राजनीतिक भारतीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था की मुख्यधारा अलग होती जा रही है। यद्यपि पिछले 51 वर्षो से नक्सली आंदोलन का लगातार विस्तार हुआ है और इसने दबे-कुचले तबके को चेतनशील भी बनाया है। तथापि सिद्धांत एवं अध्ययन के प्रति समर्पित और अनुशासन की ऊँची भावना से ओत-प्रोत नेतृत्वकारी कार्यकर्त्ताओं के अभाव के कारण यह आंदोलन पर्याप्त भीड़ जुटाने की क्षमता रखने के वाबजुद दिगभ्रमित हो गया है जिससे पूरे बिहार में इसके संघर्ष घिसाव और हताश की स्थिति में पहुँच गए है। आज स्थिति यह है कि महज तीन वर्षो के अंदर ही उसके आठ विधायक में से पाँच विधायक ने तो पार्टी को धत्ता बताकर अलग हो गए।

समाज के विभिन्न तबकों के बीच और एक बहुत बड़ी आबादी तक फैलाव के बावजूद इसे सिर्फ मात्रात्मक उपलब्धियाँ हासिल हो सकी है, गुणात्मक नहीं जिसके कारण ये बौद्धिक समाज तथा मानव कल्याण ही विरक्त होगये है। इस लिए जब चुनाव का समय आता हैं तब "बुथलुट'' का बहाना इन्हें बनाना पड़ता है जबकि सच्चाई यह है कि बूथ सभी कब्जा करते हैं। अगर हार-जीत सिर्फ इसी कारण हो तो सत्ता परिवर्त्तन कदापि संभव नहीं हैं। इसके साथ दरअसल होता यह हैं कि बहुत से स्वार्थी तत्व (भूमिपति, सामन्त, पूँजीपति, लम्पट) ऐन चुनाव के वक्त अपना पासा बदल लेते हैं क्योंकि उनका स्वार्थ इस आंदोलन को नुकसान पहुँचाने में ही निहित हैं। गौरतलब तो यह हैं कि नक्सलियो ने खुद अपने कार्यक्रमों में मध्यम या उच्च मध्यम वर्ग के सदस्यों के अलावा राष्ट्रीय पूँजीपतियों को भी गोलबंद करने की नीति बनायी है। उनका मानना हैं कि मुक्ति आंदोलन में ये शक्तियाँ भी सहायक हो सकती हैं। आज वर्त्तमान परिवेश में समाज के सकारात्मक विकास में नक्सली राजनीति नकारात्मक सिद्ध हो रही है। काश ये शक्तियाँदलित वर्ग के उत्थान में मुख्य धारा के अंर्तगत सकरात्मक भुमिका निभाती तो आज इस समाज की दशा और दिशा बेहतर होती। यह विडम्बना ही कही जा सकती हैं कि तब उनके संघर्ष का निशाना कौन होगा। रही बात कमजोर वर्ग के लोगों की तो वे चुनाव को बहुत ज्यादा महत्व नहीं दे पाते है। ऐसा संभव भी नहीं दिख पड़ता हैं क्योंकि शिक्षा की अनदेखी करके उनके बच्चे-बच्चियों के हाथों में झंडे एवं परंपरागत हथियार पकड़ाकर तथा बड़े नेताओ लाडलों के हाथो में पब्लिक स्कूलों की किताबे थमाकर कितने दिनों तक उन्हें बरगलाया जा रहा है "लाडों पढ़ने के लिए, पढ़ो लड़ने के लिए'' के सूत्र वाक्य को कम से कम उन्हें तो अवश्य ही कबूल करना चाहिए था। पर तथाकथित बड़े नेताओ को यह नक्सली राजनीति की सबसे बड़ी भूल शिक्षा और कौशल विकास की अवहेलना करना है। हाथों में पुस्तक के बजाय झंडे पकड़ाकर अपनी निम्न एवं स्वार्थपूर्ण सोच का परिचय देते गँवारा नहीं क्योंकि इसमें उनके अस्तित्व का संकट दिख रहा होता हैं। यह भी घोर आश्चर्यजनक बात है कि नक्सली संगठनों का नेतृत्व प्राय: ब्राह्मणों ने ही संभाल रखी हैं। ये इतने वर्षो से एक भी पिछड़ा, आदिवासी, दलित या महादलित अपने संगठनो को तैयार नहीं कर पाये हैं?

नक्सलवाद की कमजोरी

जनसमुदाय को इस संगठन की जनता और हमारी जनता के रूप में बाँटकर देखना नक्सलियों का एक संकीर्ण विचार है। हमेशा दूसरे संगठनों की कमियाँ देखना एक गलत दृष्टिकोण है। अपनी कमियाँ भी देखी जानी चाहिए तथा तदनुरूप संघर्ष नीति में बदलाव लाया जाना चाहिए। मजदूर नेता शंकर गुहा नियोगी को तो उग्र नक्सलियों ने "सुधारवादी" ग्रास रूटर्स सिद्धांत के प्रवक्ता तथा "गैर पार्टी क्रांतिवाद का भारतीय प्रतीक कहा पर आज जबकि नियोगी मजदूर आंदोलनो के बीच सशरीर नहीं रहे नक्सलवाद की सभी शाखाएँ उन्हे मजदूर आंदोलन का नक्सलवादी प्रतीक मानने में कोई संकोच नहीं बरत रही हैं जब नक्सली स्वंय ही उनके गुट-उपगुट में बँटे हैं और लिबरेशन तथा "पार्टी युनिटी" ने पटना, भोजपुर, गया, जहानावाद, कैमूर, औरंगाबाद आरा, छपरा, जमूई आदि जिलो में कई बार आपसी विवाद में हथियार उठाये है, एक दूसरे का अपहरण किया है तथा अनगिनत हत्याएँ की हैं आज इन्हीं कुकृत्यों के चलते नक्सलवादी राजनीति आंतकवाद का पर्याय बन गयी है और अपने मुख्य उद्देश्य से भटककर गरीब समाज में भी भय का पर्याय बना गयी है। तब किसे सच्चा नक्सली माना जाए यह चिंतनीय विषय है। क्या स्वार्थ एवं नेतृत्व की भूख नक्सलियों की एकता में बाधक नहीं हैं? नक्सली आंदोलन का यह नकरात्मक पक्ष रहा है कि इसका विकास एक बड़ी धारा के रूप में नहीं हो पाया है। इस अभाव के कारण ही देश के कई हिस्सों में कई तरह की विकृतियाँ लिए बुनियादी परिवर्त्तनों की आकांक्षा रखनेवाले आंदोलन का जन्म हुआ है। यह खुद के नेताओं की संकीर्णताओं का कुठाराघात सहने को मजबूर हो गया हैं। बहरहाल नक्सलियों के विभिन्न गुटो में एकता स्थापित करने के लिए ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता हैं जो धैर्यवान हो,दूसरों के बताये सूझाव को सुनने के लिए तैयार हो, अनुभवों के नतीजे निकालने में सक्षम हो तथा आत्म आलोचना कर सके। इंडियन पीपुल्स फ्रंट, बिहार के अधयक्ष रवीन्द्र सिंह मानते हैं कि मुट्ठी भर पार्टी और क्रांति के ठेकेदारों का जय-जयकार न करने के कारण वे विभिन्न तरह की धामकियाँ देते हैं। (संपत्ति जब्त करने तथा जनरल डायर की तरह समाप्त करने) कुछ लोगों की तो उन्होनें हत्या तक भी कर दी हैं और इन्हीं तथ्यों के चलते नक्सलवादी राजनीति केन्द्र एवं राज्य सरकार के द्वारा प्रदान विभिन्न तरह के विकासात्मक संसाधनों का प्रयोग नहीं होने देते सड़क, पुल पुलिया, बिजली नल नाली और कंपनियों की स्थापना में ये लोग विधवांसक विरोध प्रकट करते हैं। जिनके चलते नक्सलवादी क्षेत्र विकास से वंचित हो गया और एक अपमान जनक जीवन जीने को विवश हो गया। वे किसी प्रकार के विरोधा को न सहन कर पाते हैं और न ही अपने अंदर पार्टी की केद्रीय समिति, पालित ब्यूरो, के सदस्य से लेकर सक्रिय कार्यकर्ताओ की एक बहु-संख्या पार्टी छोड़ने को विवश हुई है?

समीक्षा

नक्सलवाद का भटकाव

सितम्बर 1992 में भोजपुर जिलान्तर्गत सहार प्रखंड के नवादा गाँव में पिछड़ी जाति के एक ही परिवार के तीन सदस्यों की जिस बेहयायी(कायरता तथा बरबरतापूर्ण ढंग से हत्या की गई, उससे पंजाब एवं कश्मीर के आतंकवादी भी मात खा गए। धूर्तता की हद तो तब हुई जब ''लिबरेशन'' ने अपनी गलती स्वीकारते हुए एक पर्चा बाँटा पर्चा पढने पर लगा कि क्रांतिकारी शब्दावली और लफ्फाजी का इस्तेमाल करके वे आम जनता को निम्न स्तर के दिमागवाला मानते है और भारतीय राजनीतिक दलों की तमाम बुराईयों से भी वे ओत-प्रोत हैं। प्रभावित निम्न मधयमवर्गीय परिवार के मिठी के घर मे लगे गोलियों के निशान, खुन के धाब्बे, घर के अन्य सदस्यों की देह परबरसी सैकड़ों लाठियाँ तथा एक दस वर्ष्ाों के बच्ची के पीठ में लगे बीसों छर्रे के जख्म किसी भी सभ्य व्यक्ति को आहत कर देगी। प्रश्न यह उठता है कि जब घर के सभी पुरूष्ाों को राजनीतिक वार्त्ता के बहाने दालान पर बुला-चौपाल लगा दिया गया, घरवालों ने उनके सामने चाय के कप रख दिये तब घर में अबोधा विधावाओं बच्चों पर गोलियाँ क्यों बरसायी जा रही थी ? शायद इसलिए ताकि अनाथ विधावाओं के घर में उन्हें स्थायी चारागाह मिल जाये और आतंक का माहौल कायम करके "सत्ता का जन्म ही बंदुक की नोंक से होता है" की नीति को चरितार्थ किया जा सके। मेरे जानने में ''राष्ट्रीय विकल्प'' प्रस्तुत करने वाली पार्टी के कमांडर की आजतक एक भी घोषित और रक्षा कवच से पिरे शत्रु के विरूद्ध बगैर प्रतिरोध के राइफलें नहीं गरजी होगी जब कि नवादा गांव में साधारण सा परिवार पर उनका सफाया अभियान पूर्णत: सफल रहा। इसके बावजूद पार्टी नेतृत्व को यह बतलाना चाहिए कि विगत 15 वर्षो में बिहार राज्य में उनकी पार्टी ने अभी तक कितनी गंभीर गलतियाँ की है और वैसेसमय सामाज की स्थापना शिक्षा कौशल, अहिंसा सत्य और ईमानदारी पर आधारित होता है न कि बारूद, बंदुक, बेईमानी और हिंसा पर, जबकि नक्सलवादी राजनीति बन्दुक, बेईमानी और हिंसा को वर्ग चरित्र बना लिया है। नक्सली नेता से पुछा गया कि आपने वर्मा जी पर

आपने व्यक्तिगत रंजिश के कारण गोली तो नही चलाई थी तो उन्होनें अपने मृदु स्वभाव से कहा था'' नहीं, अगर ऐसी बात होती तो क्या अपने बहनोई की हत्या का बदला नहीं ले लेता। एक बार बम से घायल अवस्था में उनसे बातचीत हुई। बड़े दुखी मन से उन्होनें कहा था "जब कभी भी जेल से रिहा होऊँगा तो बम से प्रहार करने वाले युवक से जानने का प्रयत्न करूँगा कि क्या गलती/खता थी मेरी।" मैनें वर्मा जी से चुनाव लड़नें की आग्रह की? उनके द्वारा मिला जवाब कि नहीं "प्रश्न यह कि क्या उनके जैसे कार्यकर्त्ता के भरोसे क्या लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। (क्यों नहीं वैसे लोगों की संख्या अति न्युन हो) या स्वार्थी एवं लम्पट भीड़ के द्वारा समर्थकों की संख्या और गुण-दोश की परख किये बिना अंधा-धुंध संख्या बढ़ाने के चक्कर में सर्वत्र अराजकता का माहौल कायम है। केवल क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आज फासीवाद को अपने बलबुते परास्त करने की स्थिति में नहीं है। ऐसी परिस्थिति में विरोधी दलों के मोर्चे के बजाय सिर्फ आई0पी0एफ0 को राष्ट्रीय विकल्प के बतौर वकालत करने की नक्सली नीति "इंका'' और भाजपा'' की राजनीतिक आवश्यकता की पूर्ति करती रही है।

उपसंहार

संपूर्ण तथ्यों का कुशल विश्लेषण यह प्रमाणित करता कि आज के नक्सलवाद के परिपेक्ष्य में अभी का पूरा नक्सली आंदोलन घृणा पर आधारित नकारात्मक आंदोलन है। जिसका वैज्ञानिक समाजवाद से कोई लेना-देना नहीं है। इनका भी कुलीन नेतृत्व है जो वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध आंदोलन नहीं चला सकते है। साम्यवाद को लाने में पूंजीवाद एवं सामंतवाद इतनी बड़ी रूकावट नहीं है, जितनी बड़ी रूकावट सिंद्धात विहिन साम्यवादी और नक्सलवादी बने हुये हैं।

इसी प्रकार तमाम तरह की विकृतियाँ इनके जनसंघर्षो में पायी जाती है। इन लोगों ने लघु किसानों की भी हत्याएं की है। जबकि सैकड़ों एकड़ भुमि रखने वाले रातों रात एक प्रगतिशील किसान बन गए हैं। विकृतियों तथा विसंगतियों भरा संगठन अब ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकता अगर इसे चलाने की ही परम्परा है तो तमाम साजिश पूर्ण कमियों को दुर करना होगा, अन्यथा इसकी धाार को कुंद होने से नहीं रोका जा सकता।

समाधान पहल

आँपरेशन 'समाधान' भारत में नक्सली समस्या को हल करने के लिए गृह मंत्रलय द्वारा शुरू की गई एक पहल हैं। समाधान से तात्पर्य हैं ।

1. कुशल नेतृत्व (smart leadership)
2. आक्रामक रणनीति (Aggressive strategy)
3. अभिप्रेरणा एंव प्रषिक्षण (Motivation and training)
4. अभियोज्य गुप्तचर व्यवस्था (Actionavle intelligence)
5. कार्ययोजना आधारित प्रदर्शन सूचनांक एंव परिणामोन्मुखी क्षेत्र (Dashbord vased key permomance indicaters and key result area)
6. कारगर प्रौद्यौगिकी (Harnessing technology)
7. प्रत्येक रणनीति की कार्ययोजना (Action plan for each threat)
8. नक्सलियों के वित पोषण को किल करने की रणनीति (No access to financing)

नक्सल समस्या के समाधाान में आनेवाली चुनौतियाँ

1. दरअसल नक्सलवाद सामाजिक-आर्थिक कारणों से उपजा था। आदिवासी गरीबी और बेरोजगारी के कारण एक नीचले स्तर की जीवनशैली जीने को मजबूर है। स्वास्थ्य-सुविधा के आभाव में गंभीर बीमारियों से जूझते इन क्षेत्रों में असमाजिक मौत कोई आश्चर्य की बात नहीं होती।
2. आदिवासियों का विकास करने के बजाय, उन्हें शिक्षा, चिकित्सा सेवा और रोजगार देने के बजाय उन्हें परेशान करने के लिए नयें-नयें कानून बनाए जाते हैं।

3. आर्थिक असमानता, भ्रष्टाचार, खेती की दुर्दशा अभी भी जस की तस बनी हुई है। यकिनन इस तरह की समस्याओं में हमेशा असंतोष के बीच होते है।, जिनमें विद्रोह करने की क्षमता होती है।
4. इन्हीं असंतोषों की वजह से ही नक्सलवादी सोच की बढ़ावा मिल रहा है। इसमें बड़ी विडम्बना ये है कि सरकार शायद इस समस्या के सभी संभावित पहलुओं पर विचार नहीं कर रही है।
5. इसके साथ ही बुनियादी ढ़ाँचे का अभाव तथा प्रशिक्षित मानव संसाधानों और संचार सुविधाओं की कमी है।
6. नक्सलियों द्वारा अंतर्राज्जीय सीमा का लाभ उठाया जाना तथा केन्द्र और राज्यों तथा अन्य राज्यों के बीच आपसी समन्वय का अभाव तथा अन्य राज्यों के बीच आपसी समन्वय का अभाव।

आगे की सोच

1. एक तरह जहां इस समस्या की कारण आर्थिक और सामाजिक असमानता समझी जाती रही है। वहीं दुसरी ओर इसे अब एक राजनीतिक समस्या भी समझा जाने लगा है। यही कारण है कि जानकारों की नजर में नक्सलवाद सियासी दलों का एक चुनावी मुद्दा है जिसको मौका पाते ही रोटी सेकने के प्रयास होने लगता है।
2. पाँचवी अनुसुची के तहत अनुसूचित क्षेत्रों में (Tribes Advisory Council) की स्थापना की बात की गई। दरअसल इन क्षेत्रों में Advisory Council एक तरह की पंचायत है जो आदिवासियों को अपने क्षेत्रों में प्रशासन करने का अधिकार देती है। इस कौसिंल में अधिकतम 20 सदस्य होते है। जिनके तीन चौथाई सदस्य वे होते है जो संबधित राज्य की विद्यान सभा में अनुसुचित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते है।
3. ऐसा इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि कि हमारी सरकारे लगातार संविधान की पाँचवी अनुसूची को तरजीह देने से कतराती रही है। गौरतलब है कि इस अनुसूची में अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण से जुडे मामले आते है।
4. यह सार्वभौमिक सत्य है कि हिंसा से प्राप्त की हुई व्यवस्था ज्यादा दिन तक नहीं टिक पाती और अंततः टूट जाती है। दूसरी ओर सरकार को भी कानून व्यवस्था की समस्या से ऊपर उठकर इनकी मुलभुत समस्याओं को दूर करने का प्रयास करने चाहिए।

संदर्भ सूची

1. सच्चिदानन्द पाण्डेयः- नक्सल वायलेंसः- ए सोसियों पॉलिटिकल स्टड़ी, दिल्ली चाणक्य प्रकाशन, 1985
2. आज, पटना, 26 अक्टुबर,1992, पृ0 12
3. विश्वामित्र - मार्क्सवाद बनाम मिथ्यावाद, भारत कम्युनिस्ट पार्टी (मा0ले0),पृ0-10-11
4. महाराज सिंह भारती- समाजवाद, दर्शन और आचरण, उत्तर प्रदेश अर्जक संघ, पृ0 67-68
5. वाल्टर होजर - सहजानन्द से चारू और अब, वाराणसीः सहजानन्द अध्ययन शोध प्रकाशन संस्थान, पृष्ठ - 254
6. हिन्दुस्तान, पटना, 19 जुन 1993, पृ0 2
7. द विजन

महामारी के दौर में आत्मालोचन करती कविताएँ

शीतांशु

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, दीफू परिसर, दीफू, असम

कोरोना का दौर हिन्दुस्तान में अभी तीन-चार महीने का है जबकि एक अच्छी कविता लिखने में कई बार काफी लंबा वक्त लग जाता है। मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ तो कई वर्षों में लिखी गई। कवियों को किसी स्थिति को आत्मसात करने में समय लग सकता है। इसलिए इस दौर की कविताओं पर कोई टिप्पणी लिखते या पढ़ते वक्त इस सीमा का ध्यान रखना चाहिए कि अभी भी कई संवेदनशील कवियों ने इन स्थितियों पर अपनी कविताएँ पूरी नहीं की हैं। इनमें से कुछ भविष्य में प्रकाशित होंगी। कई वरिष्ठ कवि प्रक्रिया में हैं लेकिन अपनी कविताओं को अन्तिम रूप नहीं दे पाए हैं। इसलिए सीमित मात्रा में जो साहित्य उपलब्ध है उसी पर बातचीत हो सकती है। इसके साथ ही, प्रकाशन-मुद्रण का काम धीमे पड़ जाने के कारण ये कविताएँ प्रामाणिक ढंग से प्रकाशित होकर अभी सामने नहीं आई हैं। सोशल मीडिया के माध्यमों पर उपलब्ध कविताओं पर ही बात हो सकती है, जिनका रूप कवि प्रकाशन के समय तक परिवर्तित कर सकता है। उसमें कई बदलाव हो सकते हैं और नई अर्थ छवियाँ संप्रेषित हो सकती हैं। इसलिए संभावना बनती है बस कुछ रुझानों पर चर्चा की। कहना न होगा कि समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ, विभिन्न सीमाओं से बँधी सीमित दौर की इन कविताओं पर की गई इस टिप्पणी से न संप्रेषित हो सकती है न निर्धारित।

इस महामारी ने जो स्थितियाँ पैदा की हैं उसने नव-उदारवादी आक्रामकता के साथ जन-समुदाय को घोर पीड़ा और कष्ट में धकेल दिया है। लेकिन जब भी ऐसी स्थितियाँ आती हैं, युग के साहित्य के स्वरूप में कुछ सार्थक बदलाव रेखांकित होता है। समाज को व्याप्त रही असंवेदनशीलता का उद्घाटन तो इस दौर की कविताएँ करती हैं लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह है कि तमाम लोगों के भीतर संवेदनशीलता का विस्तार भी हुआ है। इस विपत्ति ने निस्संदेह समकालीन कविता की परिभूमि को विस्तृत करने का कार्य किया है। ऐसे बहुत सारे लोगों ने कविताएँ लिखीं इस बीच जिनका कविता से कोई सीध संबंध नहीं था। विद्यार्थियों, आलोचकों, पुलिस कर्मियों, नेताओं, अभिनेताओं, यहाँ तक कि ऐसे लोगों ने भी कविताएँ लिखीं जो निष्ठुरता और निरंकुशता के प्रतिमान बन चुके हैं। हालांकि, यह भी वास्तविकता है कि इनमें से ढेर सारे लोग वैचारिक स्तर पर इतने परिपक्व नहीं हैं कि वर्तमान यथार्थ के बहुआयामी चरित्र में प्रवेश कर पाएँ। कई तो नव-उदारवादी प्रचार-तंत्र के शिकार हैं। ऐसे में, जब इस दौर के परिदृश्य से धुँधलका हटेगा तो उसमें सिर्फ पूँजीवादी सूचना-तंत्र से फैलाया गया धूल नहीं होगा बल्कि प्रगतिविरोधी सामन्य लोगों द्वारा की गई अभिव्यक्तियों की भी हिस्सेदारी होगी। लेकिन अंत में जो कविताएँ निकल कर आएंगी उनमें निश्चय ही काफी कुछ सार्थक और सुखद होगा।

पिछले तीन महीने की प्रतिनिधि कविताएँ घनीभूत पीड़ा, वेदना के दृश्यों, अपराधबोध, कुछ न कर पाने के दुख से अटी पड़ी हैं। वैश्वीकरण और सोशल मीडिया के माध्यमों ने जिस तरह लोगों में तुरंत स्थापित हो जाने की होड़ को जन्म दिया है, जिस तरह कविता के परिदृश्य में मूल्यविहीन गतिविधियों की आवाजाही बढ़ी है, उससे हटकर कई संवेदनशील युवाओं का ध्यान सीधे अपेक्षित की ओर गया है। इस भावना की ओर कि एक कवि होने से पहले मनुष्य होना महत्वपूर्ण है और कविता लिखना जितना महत्वपूर्ण कर्म है, मनुष्यता का विकास उतनी ही बड़ी जिम्मेदारी। इसीलिए ऐसी अनेक कविताएँ पिछले तीन महीने में ऐसी दीख जाती हैं जिनमें कवियों को इन परिस्थितियों में लोगों के लिए कुछ न कर पाने की पीड़ा सता रही है। बोधिसत्व लिखते हैं कि 'यही एक बात परेशान कर रही है मुझे इन दिनों/आदमी के दुख का अनुमान भी नहीं मिल पाता/कल भी शायद न पता चले की कौन लोग

थे जो व्यथा से भर कर/रोते रहे आज रात भर/...पूर्णिमा हो या अमावस/सबका रंग क्षीण हो गया है/ प्रकाश होने ने होने से/ बहुत अंतर नहीं पड़ता मन पर।' (अभी इसी समय) यह कविता आत्म की विवशता और कुछ न कर पाने के अपराधबोध से शुरू होती है, फिर एक गहरे आत्मालोचन के गह्वर में उतरती है और अंत में पूरे युग पर व्याप्त गई असंवेदनशीलता और चेतनशून्यता की प्रेतछाया की ओर चलने लगती है। दिन पर दिन हमारे मूल्यों का क्षरण हो रहा है, उसकी हत्या हो रही है, सारे प्रतिमान ध्वस्त हो रहे हैं, लेकिन संवेदनाएँ जैसे किसी ने कहीं कैद कर ली हैं। मदन कश्यप लिखते हैं कि 'नई सदी में ताकतवर और हृष्ट-पुष्ट ईश्वर/ अचानक कितना निरीह दिखने लगा है इस समय में/ मैं मरने से पहले/ ईश्वर को मरता हुआ देखना चाहता हूँ।' न जीवन की सुन्दरता बच रही है, न मूल्य, न उल्लास। वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी एक ठहराव के साथ कहते हैं कि 'उम्मीद किसी कचरे के छूट गए हिस्से की तरह/ किसी कोने में दुबकी पड़ी है।' बच रही हैं तो ऐसी चीजें जो मनुष्यता का सिर शर्मसार करने वाली हैं। अतीत में करती आई हैं। कुछ न बचा पाने की पीड़ा कवियों के भीतर घर करती जा रही है। यह इतने अंदर तक पैठती जा रही है कि कविताओं के स्वर में कुछ न कर पाने के आक्रोश से उपजी बेचैनी और झुंझलाहट बार-बार दिखाई देती है। लेकिन ऐसी कविताएँ भी लिखी जा रही हैं जो यह कह रही हों जैसे, कि हम तब तक मनुष्य के सुन्दरतम को बचाने की कोशिश करेंगे, अपनी आवाज तब तक ऊँची रखेंगे, जब तक हमारी भी हत्या नहीं हो जाती। अमित एस. परिहार लिखते हैं, 'अभी भी बचा है बहुत कुछ/ बचा है आठ माह से गर्भवती स्त्री का गर्भ/ हजारों हजार किमी की यात्रा में पैदल चल रहे लोगों के तलुओं में/ बचे हैं समय के घाव/ पती पत्नी और बच्चे में बच गया है बच्चा/ ट्रेन की पटरियों में बची है रोड/ रोड में बचा है पिघलता तारकोल/ तारकोल में बचे हैं जले हुए पाँव/ जले हुए पाँवों में बचा है घर पहुँचने का जुनून/ देश की सेनाएँ बची हैं/ सरहद बची है सरहद में बचे हैं दुश्मन/ दुश्मन बचे हैं तो बचे हैं महाराज/ आप भी। (महाराज अब आप कुछ भी न कहें)

कोरोना दौर के कवि लॉकडॉउन और उसके बाद हुई समस्याओं का शिकार हुए लोगों के बीच मौजूद नहीं हो सकते थे लेकिन सोशल मीडिया और टेलीविजन के पटल से जो भी हृदय विदारक सूचना या दृश्य उन तक पहुँचा उसे शब्दों में बाँध लेने की सशक्त कोशिश उन्होंने की। रेलवे स्टेशन पर एक मर चुकी माँ को जगाने की कोशिश कर रहे बच्चे का दृश्य हो या रेल की पटरियों से कट कर मर गए लोगों का दृश्य या एक गर्भवती हथिनी के मारे जाने का दृश्य- कवि इन दृश्यों से उद्वेलित हैं। पंकज चतुर्वेदी की कविता है, 'कोरोना काल में/ रेलवे प्लेटफॉर्म पर/ सबको भयभीत करता हुआ/ एक माँ का शव पड़ा था/ उसका बच्चा/ माँ का आँचल खींचकर/ उसे जगा रहा है/ बच्चा मृत्यु को नहीं जानता/ सिर्फ अपनी माँ को जानता है।' (रेलवे प्लेटफॉर्म पर) शंकरानंद अपनी कविता 'रोटी की तस्वीर' में लिखते हैं कि 'यूँ तो रोटी किसी भी रूप में हो/ सुंदर लगती है/उसका दिखना उम्मीद की तरह चमक जाता है/ लेकिन यह कितना दर्दनाक है कि/ रोटी पटरी पर है और/ उसे खाने वाले टुकड़ों में बिखर गए हैं।' और संदीप प्रसाद चाँद के तमाम रूपों में एक नया आयाम देकर हमारी हिंसक होती जा रही संस्कृति का बिम्ब रचते हैं- 'रेल की पटरियों के बीच/ बिखरी है खून से सनी रक्तिम रोटी/ लाल चाँद सी।' (लाल चाँद) इस दौर की कविता घर, जंगल, गाँव, घर जाने वाली सड़क, रेल की पटरी, रास्ते की रोटी, सामान, नदी आदि ऐसे ही चित्रों से अटी पड़ी है जो कि शहर में काम की जगह और गाँव के घर के बीच में मौजूद हैं।

आधुनिकता के आवरण में हमने जो ढकोसला तैयार कर रखा है, इन तीन महीनों की कविता उनसे मुक्त होना चाहती है। ये गगनचुम्बी इमारतें, ब्रिज, हवाई जहाज, टेलीविजन आदि, जो सभ्यता की प्रतीक बनी हुई हैं, वे किस काम की हैं अगर हमारे मजदूरों की यह दुर्दशा है। मध्यवर्गीय चिन्ताओं, आशाओं-आकांक्षाओं में डूबती-उतराती साहित्यिक दुनिया की नजर उस वर्ग की ओर गई है जिनसे पूँजीवादी आधुनिकता ने इतना कुछ छीन लिया है कि साहित्य भी उनके लिए लक्जरी ही है। पूँजीवादी आधुनिकता के ऐसे छलावों को रेखांकित करती हुई अदनान कफील दरवेश की यह कविता देखिए- 'हमने कुएँ खोदे, नहरे निकालीं/ जिनका पानी हम पर ही हराम हुआ/ हमने सड़कें बनायीं जिसने दुनिया की हर आबादी को एक दूसरे से जोड़ दिया/ लेकिन सर्द अफसोस कि आज वबा के इस दौर में हमारा/ वफादार कोई साबित न हुआ/ हवाओं ने भी नश्तर बनकर हमारे टूटते सीनों को छलनी किया/ वे काली सड़कें भी जो अमूमन घरों तक जाती थीं/ हमें दर्दनाक मौत के हादसों तक ले गईं/ ये मेरा आखिरी बयान है/ इसे अदल-ओ-इंसाफ की अदालत में दर्ज किया जाए।' (एक मुर्दा मजदूर का बयान)

जहाँ युवा कवि उद्वेलित मन के साथ अपनी परिस्थितियों में डूब-उतरा रहे हैं वहीं कई वरिष्ठ कवियों के स्वर में गहरी चिन्ता से ओत-प्रोत सभ्यता समीक्षा दिखाई दे रही है। बीसवीं सदी की पीड़ाओं से अभी वे उबर नहीं पाए थे कि इक्कीसवीं सदी की दिशा उन्हें परेशान कर रही है। लोग घरों में कैद हैं और कवि दोहरे स्तर पर कैद है। उसकी चिन्ता है कि लॉकडाउन खत्म होते

होते न जाने हम क्या-क्या खो चुके होंगे। अशोक वाजपेयी, राजेश जोशी, अष्टभुजा शुक्ल, लाल्टू, गुलजार, देवीप्रसाद मिश्र आदि कई महत्वपूर्ण कवियों की संवेदना इस दौर में सभ्यता समीक्षा की ओर ज्यादा है। राजेश जोशी की ये पंक्तियाँ कि 'यह सभ्यताओं के सबसे बड़े संकट का समय है/ सारी सड़कों पर पसरा है सन्नाटा/ घरों के दरवाजे बंद हैं/ एक भयानक पागलपन पल रहा है दरवाजों के पीछे/ जो दीवार फोड़कर निकल आएगा।' हमारे समय पर बराबर लागू होती है।

उपेक्षित अस्मिताओं के लिहाज से भी इस दौर की कविता महत्वपूर्ण है। वैश्वीकरण के प्रभाव के संबंध में दलित विमर्शकारों में स्पष्टत: दो धड़े रहे हैं। दलित बुद्धिजीवियों में कई वैश्वीकरण के पक्ष में खड़े हैं और कुछ इसके विरोध में खड़े हैं। दोनों ही पक्षों में काफी वाद विवाद हो चुका है। व्यक्तिगत तौर पर मेरे लिए यह दुखद था कि प्रतिरोध के ऐसे साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों में भी इतने लोग साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के पक्ष में जाकर खड़े हो गए हैं। लेकिन यह भी समझना होगा कि इसके पीछे कुछ कारण हैं। कारण यह है कि पारिवेशिकता से मुक्ति और अन्याय, अवमानना और असमानता से भरी दुनिया में अपने लिए अवसर तलाशने के लिए दलित समाज और साहित्यकार संघर्षरत रहे हैं और इसी वजह से एक बड़े तबके में वैश्वीकरण की ओर यह झुकाव आया। सुखद यह है कि दूसरी ओर एक धड़ा शिद्दत से वैश्वीकरण से उपजी खतरनाक परिस्थितियों के खिलाफ खड़ा भी रहा।

अब इन तीन महीनों में जो घटनाएँ घटी हैं उसने चिन्तन को सार्थक दिशा में बदला है। वैश्वीकरण की धूरी शहर हैं और इन शहरों में दलितों, मजदूरों, स्त्रियों और आदिवासियों की जो दुर्दशा हुई है उससे अब यह समझना कठिन नहीं है कि कौन सा पक्ष सही था। इन स्थितियों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शहर को सार्वभौमिकता और मुक्ति का प्रतीक समझकर हम गाँवों को वैसे ही नहीं छोड़ सकते जैसे कि वे हैं। अब जब शहर ने धेखा दिया है और लोग गाँव की ओर लौट रहे हैं तो उनके बारे में कौन सोचेगा। हिन्दुस्तान की सत्तर प्रतिशत आबादी गाँवों में बसती है, उनके बारे में कौन सोचेगा। कोरोना दौर की कविता यह स्पष्ट करती है गाँव और शहर दोनो ही जगह सामाजिक चेतना तैयार करनी होगी। शहर हो या गाँव, हर जगह को रहने योग्य बनाना होगा। इतने लोग जो अपने गाँवों की ओर लौटे, उनकी मुक्ति तभी संभव है जब सिर्फ शहर में हम मुक्ति न ढूँढें बल्कि गाँवों को भी जकड़नों से मुक्त करें, रहने योग्य बनाएँ। तो, यह सही है कि गाँव में असमानता और अवमानना है लेकिन स्पष्ट है कि शहर भी खतरनाक है, इसलिए गाँवों में इस अवमानना और ऐसी पारिवेशिकता के बावजूद कोरोना दौर की कविता सचेत है और शहर के छलावे को समानान्तर उद्घाटित कर रही है। जसिंता केरकेट्टा आदिवासी जीवन की ऐसी ही विडंबना की ओर ध्यान दिलाती हैं- पुलिस जंगल की भाषा नहीं समझती/ आदिवासी पुलिस की भाषा नहीं समझते/... कोई भी भाषा जंगल के आदमी को/ किसी भी अत्याचार से क्यों नहीं बचा पाती/ वे दिन रात यही सोचते हैं/ पर आज वे समझते हैं/ दरअसल शहर की भाषा जानना या नहीं जानना/ जंगल में बचे रहने की शर्त नहीं है/ जंगल में लोगों के मारे जाने के लिए/ जंगल में उनका होना भर काफी है (मारे जाने के लिए- जसिंता केरकेट्टा)

यह रुझान सबसे महत्वपूर्ण इस लिहाज से है कि समकालीन कवियों ने यह समझा है कि कोई भी लड़ाई सफल तब है जब उसमें सबकी मुक्ति हो। सिर्फ शहर में रहने वालों की मुक्ति होगी तो लड़ाई सार्थक कैसे होगी। सिर्फ दलितों, सिर्फ स्त्रियों, सिर्फ मजदूरों की मुक्ति नहीं चाहिए। न ही यह संभव है। हमें एक ऐसी व्यवस्था चाहिए जिसमें सबकी मुक्ति हो। साथ ही इस दौर ने यह भी समझाया कि मजदूरों की लड़ाई में भी विभिन्न अस्मिताओं को शिरकत करना होगा। अगर सारी अस्मिताएँ मात्र अपनी लड़ाई लड़ेंगी तो मजदूरों की लड़ाई कौन लड़ेगा। इस लिहाज से कोरोना काल की कविताएँ सार्थक भूमिका निभा रही हैं। अलग अलग अस्मिताओं से आने वाले रचनाकारों ने अपने से इतर अस्मिता या वर्ग के प्रश्नों को बहुत ही सार्थकता के साथ उठाया है। पुरुषों ने स्त्रियों के, गैर आदिवासियों ने आदिवासियों के, हिन्दुओं ने मुस्लिमों के, स्त्रियों ने पुरुष के रूप में, दलितों ने गैरदलितों के और गैरदलितों ने दलितों के, आदि आदि।

पिछले कुछ दशकों में हमने देखा है कि कविता की संप्रेषणीयता, पठनीयता, पाठकों के साथ इसके संबंध, राजनीतिक खेमेबाजी और उसका कविता की संवेदना और शिल्प पर प्रभाव, छंदों के प्रयोग, आदि को लेकर तरह-तरह के सवाल उठते रहे हैं। यह वास्तविकता है कि संवेदनारहित गद्यात्मक गद्य में ढेर सारी कविताएँ आई। काव्यात्मक गद्य नहीं गद्यात्मक गद्य। ढेर सारे संवेदनशून्य व्यक्तियों ने जिन्हें कवि कहा जाता है शब्दों में ट्रेनिंग पा ली है और उससे खेलना सीख लिया है। रीतिकाल में एक कवि ने इसी प्रवृत्ति से दुखी होकर लिखा था कि 'डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच, लोगन कबित्त कीबो खेलि करि जानो है।' बाजारवाद और सोशल मीडिया ने ऐसी स्थिति कर दी है कि कुछ 'कवियों' का ध्यान कविता से हटकर, भावनाओं की सार्थक अभिव्यक्ति में समर्थ एक संवेदनशील मनुष्य बनने से हटकर राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, ब्रह्माण्डीय बनने की ओर ज्यादा है। यह भी अकारण नहीं हुआ

है। इसका एक प्रमुख कारण वैश्वीकरण के दौर में पल्लवित-पुष्पित हुआ प्रचार का महत्व, व्यक्तिवाद, दिखावा, उपभोक्तावाद और बाजारवाद है। इस स्थिति ने निस्संदेह कविता के शिल्प को भी बहुत प्रभावित किया है। दूसरा प्रमुख कारण है, अपने साहित्य, संस्कृति, परंपरा, भारतीयता के वास्तविक अर्थ, संवैधानिक मूल्यों को समझने से पहले सोशल मीडिया के प्रति आकर्षण। ढेरों कवि वहीं हैं, लोक के बीच होने की बात तो भूल ही जाइए। ऐसा नहीं है कि यह दूसरी विधओं के साथ नहीं हुआ। आलोचना के साथ भी हुआ है। लेकिन दिक्कत यह है कि इस स्थिति को उद्घाटित करने का दायित्व आलोचना पर ही है। आलोचना का दायित्व ऐसे उत्तर-सत्य के समय में काफी बढ़ गया है क्योंकि अच्छी और खराब रचना के बीच के फासले को पहचानने न देने के उपकरणों का विकास बहुत तीव्र ढंग से हुआ है और भ्रम की निर्मितियों का दायरा अब कहीं व्यापक हो चुका है।

मुझे यह उम्मीद है कि उक्त स्थितियाँ पूरे परिदृश्य के एक हिस्से पर लागू होती हैं और भविष्य में ये कविताएँ जो धूल की तरह ऊपर छाई हुई हैं, समय के साथ छँट जाएंगी। कोरोना दौर की कविताओं ने इस उम्मीद को और प्रबल बनाया है। इस दौर में मुक्त छंद हों, गजलें हों, गीत हों, सबमें कविताएँ लिखी गई। लाल्टू ने काव्यात्मक गद्य में सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। मृत्युंजय ने अलग-अलग छन्दों में आधुनिक चेतना पिरोई है। वशिष्ठ अनूप, कैलाश मनहर, महेश कटारे, ओम निश्चल आदि कई कवियों ने गजलों को समृद्ध किया है। कैलाश मनहर की यह गजल देखिए- शूल राहों के बहुत तेज-ओ-नुकीले दिक्खे/ आजकल साहब के तेवर जरा ढीले दिक्खे/ चाल षडयन्त्र की फिर सोच रहे हैं शायद/ इन दिनों उनके बयानात लचीले दिक्खे। महेश कटारे की यह पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं- 'जाकर मंदिक को चाटो तुम या मस्जिद को चूमो अब/ काम धम सब बंद हो चुके ईश्वर अल्लाह पूजो अब/ जीवन से भी धर्म बड़ा है यह जब तुमने मान लिया/ बेशक जीवन मर जाने दो धर्म बचाने घूमो अब।' वर्तमान स्थितियों ने विषय -वस्तु को ही नहीं अभिव्यक्ति के स्वरूप को भी गहरे प्रभावित किया है। ये कविताएँ अधिकांशत: संप्रेषणीय हैं, संवेदनाओं से ओत-प्रोत काव्यात्मकता ज्यादा गहन है, भाषा में सहजता आई है और व्यंग्य और लय में एक बदलाव आया है। व्यंग्ययुक्त पीड़ा ने एक खास लय पैदा की है। यह लय इस दौर की समकालीन कविता की पहचान रहेगी। लय में व्यंग्य और तीव्र हो जाता है और अनेक कवियों ने इस दृष्टि से कविता को समृद्ध किया है। पर समकालीन कवियों को सतर्क रहना होगा कि इन सबके नकारात्मक पक्ष भी हैं। सहजता पाने का अर्थ अभिधत्मकता न बन जाए और व्यंजना और ध्वन्यार्थ की ओर से ध्यान ही हट जाए। संप्रेषणीयता का यह मतलब नहीं कि संवेदनाओं को परिपक्व होने से पहले ही प्रकट कर दिया जाए। और अतिशय व्यंग्य कई बार घृणा से पैदा होता है, कविता उससे कमजोर होती है। कवि को उदात्त होना चाहिए। उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसका प्राथमिक मूल्य उदात्तता है, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और उससे उपजा व्यंग्य नहीं। व्यंग्य सार्थक मूल्यों के विकास के लिए आना चाहिए, अगर वह मूल प्रवृत्ति हो गई तो कविता नष्ट हो जाएगी।

इस आलेख में कोरोना दौर की कविताओं की राजनीति और दूसरे कई अन्य पहलुओं पर चर्चा नहीं की गई है। इस आलेख की अगली कड़ी में उन पर चर्चा होगी। यहाँ इतना संप्रेषित करने का प्रयास किया गया है कि क्रूर होती जा रही परिस्थितियों और कविता की सिकुड़ती दुनिया के बीच कोरोना दौर की कविताओं ने उम्मीद जगाई है। इस दौर की कविताएँ प्रमाण हैं कि कविता से हम सिर्फ एकान्त का आनन्द नहीं ग्रहण करते बल्कि सत्ता के चरित्र, पूँजी की आक्रामकता, आम जनों की स्थिति की भी पहचान करते हैं। वर्तमान समय में व्याप्त असहायता, लोगों में व्याप्त भय, चुप्पी, खामोशी और इन सबके साथ कभी भी फूट पड़ने को तैयार आकांक्षा और आत्मविश्वास कोरोना दौर की कविताओं में प्रत्यक्ष है।

संदर्भ-

1. https://samalochan.blogspot.com/2020/04/blog-post_16.html?m=1
2. https://samalochan.blogspot.com/2020/06/blog-post_8.html?m=1

(**नोट:** इस आलेख में उद्धृत अधिकांश कविताएँ सोशल मीडिया के विभिन्न माध्यमों, विशेषकर फेसबुक से ली गई हैं। पाठक मूल देखने के लिए अभी उन्हीं का उपयोग कर सकते हैं क्योंकि अधिकांशत: कविताएँ अभी अप्रकाशित हैं।)

यूरेशियन समुदाय का पृथकीकरण और उनकी औपनिवेशिक समाज में परिस्थितिः अठारहवीं सती के अंत में ब्रिटिश नस्लवादी नीति के विशेष सन्दर्भ में

विवेक मोहन

सहायक प्रवक्ता, इतिहास विभाग दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड कॉमर्स, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

एंग्लो-इंडियन शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए एक लिए किया जाता था जिसकी माता या पिता यूरोपीय मूल के थे। मिश्रित नस्लीय पहचान, रंग, परम्पराओं, भाषा और अन्य सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण ब्रिटिश और कभी-कभी भारतीय या तो तिरस्कृत करते थे या उन्हें निष्कृष्ट मानते थे। उन्हें 'द्वितीय श्रेणी के ब्रिटिश नागरिक', 'अर्ध-जाति के भारतीय' या 'हाफ-कास्ट', 'हाईब्रिड', 'हाफ-ब्रिड', 'मिश्रित-रक्त' और 'यूरेशियन' के रूप में माना जाता था तथा उन्हें निम्न दर्जे के पदों पर रखा जाता था। प्रस्तुत लेख में अठारहवी शताब्दी में कुछ ऐसे नियमों और कानूनों का विश्लेषण किया गया है, जिनसे एक विलग और विशिष्ट समुदाय, जो कि यूरोपीय या भारतीय किसी में भी फिट नही बैठता था। सत्ता पर काबिज होने के आरंभिक काल से ही, विशेष रूप से विलियम जोंस के प्राच्यवाद के समय में जहाँ एक और इंडो-यूरोपियन अंतर्संबंधों को उद्धघाटित किया गया वहीं दूसरी और 'मिश्रित नस्ली' प्रारूपों को सभ्यता के लिए नुकसानदेह माना गया। यूरेशियन समुदाय को लगातार हाशिये पर रखने के प्रयास किये गए जिसने इस समुदाय को संगठित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत में नस्लवादी अध्ययन मुख्य रूप से ब्रिटिश-इंडियन युग्मक पर अवस्थित रहे है। परन्तु यूरेशियन पहचान पर लहदी भाषा में शोध-कार्य सीमित मात्र में उपलब्ध है। यूरेशियन लोगों के तिरस्कार का प्रतिरूप या पैटर्न 1780 के मध्य से आरम्भ हुआ जो 1947 नीति या व्यवहार में कायम रहा और अन्तः स्वतंत्रता के पश्चात् इन्हें अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता मिली और कुछ विशेषाधिकार प्रदान किये गए।

संकेत-शब्दः नस्लवाद, यूरेशियन, ब्रिटिश नीतियाँ, निष्कृष्टता।

भूमिका

औपनिवेशिक शक्तियों ने विश्व के विभिन्न हिस्सों में अपने नियंत्रण को मजबूत और चिरस्थाई बनाने के लिए अनेक सांस्कृतिक-साम्राज्यवादी 'तकनीकों' का प्रयोग किया जिनमे 'सेल्फ' (स्वयं) और 'अदर' (अन्य) का निर्माण और उनके साथ कुछ विशिष्ट गुणों-अवगुणों को भी जोड़ा गया। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजी शासन नस्लवादी घमंड, सैन्य-बल के साथ साथ प्रबल और परिवर्तनीय विचारधारात्मक सत्ता के अवयवों के मिश्रण पर आधारित था जिसने इसे निरन्तर बल और वैधता प्रदान करने का कार्य किया। ज्ञान-सत्ता और स्थानीय स्तर पर देशज वर्गों और व्यक्तियों के सह:संबंध भी मील के पत्थर साबित हुए। साथ ही तत्कालीन नृविज्ञान, कपाल-विज्ञान, छद्म विज्ञान, चिकित्सीय खोजों, इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि ने 'उच्च' और 'निम्न' मनुष्यों के अंदर आने वाली अनेकों नस्लों को परिभषित, निलृमत और सुद्रढ़ किया जो वैश्विक स्तर पर समुदायों के बीच जल-विभाजक

के रूप में सामने आए। अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शती में 'नस्ल' का प्रश्न और इससे सम्बंधित प्रश्न अकादमिक और लोकप्रिय दोनों विमर्शों के केन्द्रीय विषय बन गये थे। प्राच्यवादियों, इवानजेलिकल, उपियोगितावादियों और पैतृकवादियों ने लगातार शुद्धता-प्रदुषण, नस्लीय पदानुक्रम, नस्लों की मिलावट जैसे मुद्दों पर अनेक विमर्शों को उत्पन्न किया और सांस्त्रतिक साम्राज्यवाद को पोषित किया जिसमे उच्च जाति के भारतीय पुरुषों ने भी सहयोग दिया।

वास्को-द-गामा एक आने के बाद 1510 में अलबुकर्क के गोवा पर अधिकार के बाद भारतीय महिलाओं और पुर्तगाली पुरुषों के मध्य वैवाहिक संबंधों से लुसो-इंडियन समुदाय अस्तित्व में आया। हालांकि सत्रहवी एवं अठारहवी शताब्दी के मध्य तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कर्मचारियों को भारतीय महिलाओं के साथ वैवाहिक मुजफ्फरपुर के लिए प्रोत्साहित किया परन्तु अठारवी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से इस नीति का परित्याग कर दिया गया। 1730-1780 के मध्य की उदारवादी नीति अब कठोर होने लगी क्योंकि अकादमिक, प्रशासनिक और लोकप्रिय विमर्शों में यूरेशियन वर्णसंकरता (hybridity) एक गंभीर समस्या बन गई थी। यही समय था जब ब्रिटिश साम्राज्य अपनी जड़ें मजबूत बना रहा था और उसे भारत में लगातार सफलता भी मील रही थी। साम्राज्य की प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर करती थी कि उसके बारे में जनता कैसी राय रखती है जिसे जोसाफ सरामेक "एम्पायर ऑफ़ ओपिनियन"[1] की संज्ञा देते है। समस्त साम्राज्य के सबसे महत्वपूर्ण तत्वों में उच्च-वर्गीय, अभिजात्यता और प्रतिष्ठा सर्वोपरि थे जिनकी उपेक्षा करना असंभव माना जाता था। 1780 के दशक से भारतीय जनता के समक्ष ब्रिटिश प्रतिष्ठा और आदर्शो को अक्षुण्ण रखना भी कंपनी राज में ही नहीं शाही सत्ता के काल में भी महत्वपूर्ण था। औपनिवेशिक परिस्थितियों में यही पक्ष सत्ता और सत्ताहीन के बीच सबसे बड़ा अंतर था जो इसे वैधता भी प्रदान कर रहा था।

इसी कड़ी में 'श्वेत व्यक्ति पर भार' और 'सभ्यता का मिशन' जैसे प्रभावी घोषों ने भारत में ब्रिटिश राज को स्थापित और सुदृढ़ करने में अत्यंत प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन किया। इस प्रकार 'शुद्ध' ब्रिटिश मनुष्यों में उच्चता जातीय गौरव का अहंकार और भारतीयों में 'हीनता की भावना' के साथ साथ अधीनस्थता की मनोग्रंथि को स्थापित किया गया। ब्रिटिश साम्राज्य के दीर्धकाल के लिए यह एक प्रमुख आधार था। साम्राज्य में ऐसी परंपरागत नीतियाँ प्रसिद्ध सांसद एड्मुर्क बर्क का भी प्रभाव माना जा सकती है जिन्होंने निजी और सार्वजानिक स्तर पर शुचिता, प्रतिष्ठा, नैतिकता, शासन में रूढ़िवादिता पर बल जबकि रेडिकल विचारों के प्रसार को सही नहीं माना। ब्रिटिश शासन के आरंभिक काल में भी प्राचीन इतिहास और परमपराओं पर ही बल दिया गया। आंग्ल-वादी विद्वानों यथा विलियम जोंस, कोलेब्रूक, हाल्हेड और विल्किंस आदि ने भी अतीत के आधार पर आधुनिक के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया और इसी विचारधारा का पोषण भी किया। इंडो-यूरोपीय भाषाई सह-संबंध, आर्यानिकरण और नस्लवादी प्रश्न और सिद्धांतों ने ब्रिटिश शासन में सदैव केन्द्रीय भूमिका में बने रहे। अंग्रेज, 'आर्य' और उच्च-जाति के हिन्दू सर्वोच्च समझे जाने लगे जबकि अन्य समुदाय जैसे यहूदी, अश्वेत, मुस्लिम और निम्न-जातीय भारतीय नस्लीय आधार पर निष्कृष्ट कहे जाते थे। उच्च वर्गीय/वर्णीय और निम्न वर्गीय/वर्णीय प्रारूपों के मध्य वैवाहिक संबंध अतीत में उच्च-नस्लीय पतन का कारण बने अत: इनके बीच आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर को न्यायसंगत और वैध ठहराया जाता रहा। इन विमर्शों ने लगातार नस्लीय अंतर को गहरा किया और प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर जैसे, सेना, न्यायिक-व्यवस्था और दिन-प्रतिदिन के मुद्दों में भी इसे फैलाया।[2] ब्रिटिश राज की अक्षुण्णता के लिए नस्लीय सर्वोच्चता एक आवश्यक प्रारंभिक बिंदु था जो जिसका नस्लवाद सिर्फ 'श्वेत हीरो और अश्वेत शैतान'[3] तक ही सीमित नहीं था बल्कि श्श्वेतों में भी अनेक विभेदों पर बल दिया गया था। अश्वेत भी अपने ऐतिहासिक कारकों की वजह से मानव पदानुक्रम में सर्वोच्चता और निम्नता के विभिन्न श्रेणियों में सारणीबद्ध किए गये।

फ्रैंक एंथनी ने दर्शाया है कि 1780 के बाद यूरेशियन कैसे एक भारतीय अल्पसंख्यक के रूप में सामने आए।[4] इस समुदाय को भी लगातार नस्लीय भेदभाव का सामना करना पड़ा। वस्तुत: नस्ल का प्रश्न, रंग और अनुवांशिकी से गहरे तौर पर जुड़ गया था। अब नस्ल न सिर्फ रंग, व्यवहार, उत्पत्ति, अतीत और वर्तमान में श्रेणी-स्थान, चरित्र, अभिक्षमता, नैतिकता, पदानुक्रम, योग्यता से ही नहीं बल्कि बुद्धिमता और जीवन मूल्यों के परिमाण से जुड़ गया। अठारहवी शती के अंत से पर्यावरणवादी विचार भी अब केंद्र में आने लगे जिन्होंने भारत की उष्ण और उपोष्ण जलवायु को दुर्बलतादाई मानते हुए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि यूरोपीय भी यहाँ रहकर अपने 'उच्च' और विशिष्ट लक्षणों को खो बैठते है और उनके उच्च और विशिष्ट लक्षणों का ह्रास हो रहा है। इस तरह भारतीयों के साथ वैवाहिक संबंध के कारण भारतीय-यूरोपियन माता पिता की संतान वर्ण-व्यवस्था के वर्ण-संकर की भांति अशुद्ध समझी जाती थी और सर्वश्रेठ नस्लों के पतन का सबसे सटीक कारण थी। भारत की आधुनिक समय में पतनशीलता का सबसे बड़ा

कारण प्राचीन और मध्यकाल में आर्यों का निम्न जाति और समुदायों के साथ संबंध माना गया। पर्यावरणीय-निर्धारणवाद के साथ पतन की इस संकल्पना ने बड़े पैमाने पर यूरेशियन बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था को यूरोप में ही संचालित करने पर बल दिया जिससे इस तरह के नुकसान की क्षतिपूर्ति यूरोप में हो जाए। ऐसे कदम यूँ तो बड़े सीमित स्तर पर लागू किये गए थे परन्तु प्रशासनिक विमर्शों में इसका बड़े जोर शोर से प्रचार किया गया था अत: समानता के सन्दर्भ में ये अत्यंत नाकाफी थे। ऐसा मत था कि यूरोप में शिक्षा और वहां की अनुकूल जलवायु के प्रभाव से इन बालकों का उन्नयन हो सकेगा। ये रियायते शीघ्र ही 1780 के दशक से छीन ली गई और ब्रिटिश शासन नस्लीय प्रारूपों को सीमित, संरक्षित और प्रचारित करने का एक बड़ा माध्यम बन गया और यूरेशियन को मिलने वाली सुविधाएँ न केवल समाप्त कर दी गई अपितु उन्हें एक अशुद्ध और निम्न नस्ल माना गया बड़ी तेज़ी से उन्हें प्रशासन और उच्च पदों से बाहर करने के प्रयास किये गये। हालाँकि बाद में डालृवन और गेल्टन (1850 के बाद) ने नस्लीय संशोधन के विभिन्न सिद्धांत सामने रखे परन्तु यूरेशियन के प्रति भेदभावपूर्ण रवैया यूरोपीय और भारतीय समाज के नीति-व्यवहार और विधि-व्यवस्था का अभिन्न अंग बने रहे और आज तक निर्धारक की भूमिका में है।

केनेथ बालहैटचेट ने दर्शाया है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को वैधता और यूरोपीय सर्वोच्चता बनाए रखना जरुरी था तो इसके लिए निम्न वर्गीय नेटिव और यूरोपीयनो के बीच "ब्रिज" या सेतु भीं बनने से रोकना था।[5] क्योंकि यूरोपियन और एंग्लो-यूरोपियन के बीच समानता भारतीय लोगों को भी समतावादी व्यवस्था के लिए प्रेरित कर सकती थी अत: ऐसे संबंधों को किसी भी कीमत पर रोकना जरुरी समझा गया।[6] वलेरी एंडरसन इंगित करते है कि 1780 के दशक से यूरेशियन 'एक विलग, विवादित और निश्चित पहचान' बन गई थी। यूरेशियन और यूरोपियन बीच समानता की समाप्ति के लिए 1786 में एक नियम के तहत यूरेशियन अनाथ बच्चों को शिक्षा के लिए ब्रिटेन में जाने की मनाही स्थापित कर दी गई। कारण स्पष्ट थे कि यूरोपीय और यूरेशियन बच्चों के बीच शिक्षा की खाई को गहरा करना था और 'होम-नस्ल' (ब्रिटिश) और 'कंट्री-नस्ल' (यूरेशियन) में शैक्षणिक अंतर पैदा करके केवल शुद्ध यूरोपियन को ही विशेषाधिकार प्रदान करना था। अब यह मान लिया गया कि उच्च और आधुनिक यूरोपीय शिक्षा, पर्यावरण और जीवन-शैली का अनुकरण यूरेशियन नस्ल में सुधार करने में अक्षम था क्योंकि जन्मजात और अनुवांशिक गुणों में परिवर्तन लगभग संभव ही था जो ब्रिटिश नस्लीय नीतियों का केन्द्रीय बिंदु था।

यह स्पष्ट है कि लार्ड कार्नवालिस के समय से लगातार प्रशासनिक स्तर पर केन्द्रीयकरण के प्रयास किये गए जिसने प्रशासनिक स्तर पर एंग्लो-इंडियन की साफाई पर अत्यधिक बल दिया। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में उन पर और भी अधिक प्रतिबन्ध लाद दिए गए जिससे ब्रिटिश और यूरेशियन समुदायों के बीच कभी न खत्म होने वाला अंतर पैदा हो गया। कलकत्ता और मद्रास जैसे इलाकों में इन्होने अपनी अनेक सभाएं बना ली थी जिन्होंने यूरेशियन लोगों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक सहायता, धर्म-कर्म जैसे कार्यों में योगदान दिया और एक एकीकृत और संगठित समुदाय के निर्माण में सहायता प्रदान की। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह स्थापित हो गया था कि अब धर्म, अतीत और भाषाई विशेषताएँ किसी 'नस्ल' की प्रधन अभिलक्षण नही था परन्तु आधुनिक विज्ञान ने रक्त की शुद्दता को भी महत्वपूर्ण माना। नृजातिविज्ञानी भी इस आधार पर अशुद्ध और शुद्ध समुदायों के बीच वैवाहिक संबंधो को उच्च मानव मूल्यों के विरुद्ध मानते थे। लिनेउस से लेकर डेनियल पीके, गोबिनेऊ, चार्ल्स वाइट, स्पेंसर, डालृवन, हंटर और रिसले तक लगातार इन नस्लीय मान्यताओं पर बल दिया गया। ब्रिटिश भारत में यूरेशियन की प्रस्थिति अन्य देशों में रहने वाले यूरेशियनों से निष्कृट थी।[7] इसका सबसे प्रमुख कारण भारत में स्थित भाषाई, संस्कृतिक और सामुदायिक विविधता का होना था। उनका 'मैं कौन हूँ'? (Who am I)[8] का प्रश्न औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत में सदैव महत्वपूर्ण बना रहा और उनकी पहचान के मुद्दे को बारंबार रेखांकित करता रहा।

अंतर-नस्लीय संबंध प्रशासनिक संदेह, घृणा और विवाद को जनम देते थे क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि 'अवैध यूरेशियन बालक उभरते हुए औपनिवेशिक शासन की नैतिक सत्ता के लिए एक बड़ा खतरा थे। समस्त संसार में नस्लवाद का इतिहास निर्णय लेने के अधिकार और निर्णय न लेने की अधिकार की वंचिता के साथ सम्मिलितिकरण और अस्वीकरण से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है जिनकों रुदिबद्ध करने का कार्य लगातार शासक वर्ग और अन्य प्रभुत्वशाली समूहों ने किया। ब्रिटिश नस्लवाद 1780 के दशक से ही स्पष्ट रूप में सामने आ गया था। यह वो काल था जब ब्रिटिश भारतवासियों के साथ नस्लीय संबंध का रहस्य उद्घाटित कर रहे थे वहीं दूसरी और 'अर्ध-यूरोपीय' पहचानों के प्रतिउपेक्षित भाव उत्पन्न कर रहे थे और कुछ ही वर्षों में यह विचारधारा औपनिवेशिक समाज पर भी लागू हुई।

निष्कर्ष

इस प्रकार उन्नीसवीं शती के मध्य तक यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश न केवल भारतीय-यूरोपीय बल्कि अंतर-यूरोपीय के बीच भी नस्लवादी सांस्कृतिक खाई स्थापित करना चाहती थे जिसमे उन्हें बड़ी सफलता भी मिली। यूरेशियन समुदाय के अशुद्ध रक्त और निम्नतर प्रारूप होने के कारण उनका यूरोपीय समुदाय में आत्मसातीकरण नही हो पाया जिसने उनकी एक विशिष्ट पहचान को सुनिश्चित किया। लार्ड कार्नवालिस के काल में यूरेशियन समुदाय पर नस्लीय दबाव अत्यधिक बढ़ गये थे जिसमे उन्हें लगातार हाशियाकृत करने के प्रयास किये गये। 1830 के दशक में ब्रिटिश संसद में जॉन रिकेट्स जैसे लोगों ने उनके लिए 'ईस्ट-इंडियन' शब्द प्रयोग करने पर बल दिया। 1857 के संग्राम के बाद यह समुदाय अपने सक्रिय संगठनों और राजनैतिक गतिविधियों के बल पर कुछ अधिकार भी अलृजत किए परन्तु उन्हें कभी भी ब्रिटिश समकक्ष नही माना गया। उन्होंने न केवल ब्रिटिश अपितु भारतीयों से भी लम्बा संघर्ष किया और अंततः उन्हें 1949 एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में मान्यता मिली और उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व, शैक्षणिक सहायता और आरक्षण की व्यवस्था अनुच्छेद 331 और 332, 338 (ब) के जरिये सुनिश्चित की गई।

सन्दर्भ

1. सरामेक, जोसाफ (2011) जेंडरः मोर्टलिटी एंड रेस इन कंपनी इंडिया, 1765-1858, पालग्रेव, न्यूयॅर्क, पृष्ठ 06.
2. बेलनटाईन, टोनी (2002) ओरिएंटलिस्म एंड रेस, पालग्रेव, न्यूयॅर्क, 173.
3. भाभा, होमी (1996) 'द अदर क्युश्चनः ङिरेंस, ङिरेंशियेन्स एंड थे डिस्कोर्स ऑफ़ कोलोनियलिज्म' बेकर ए. हॅस्टन एवं अन्य (संपादित) ब्लैक ब्रिटिश कोलोनियल स्टडीज, यूनिवलृसटी वि शिकागो,लन्दन एंड शिकागो, पृष्ठ 100.
4. एंथनी, फ्रैंक (1962) ब्रिटेन्स बिट्रेयल इन इंडियाः द स्टोरी ऑफ़ द एंग्लो-इंडियन कम्युनिटी, अलाइड पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, पृष्ठ 2-3.
5. बालहैटचेट, केनेथ (1980) रेस, सेक्स एंड क्लास अंडर द राजः इम्पीरियल एटीटड्डस एंड पॅलिटिक्स एंड देयर क्रिटिकस, नीलसन, लन्दन, पृष्ठ 131.
6. एंडरसन, वलेरी (2015) रेस एंड पॅवर इन ब्रिटिश इंडिया, आई. बी. टोरस एंड कंपनी लिमिटेड, लन्दन, पृष्ठ 4.
7. पूर्वोक्त, पृष्ठ 18-19.
8. बालहैटचेट, केनेथ (1980) रेस, सेक्स एंड क्लास अंडर द राजः इम्पीरियल एटीटड्डस एंड पॅलिटिक्स एंड देयर क्रिटिकस, नीलसन, लन्दन, पृष्ठ 96
9. कनिष्का सिंह (3 अगस्त 2016) 'पोस्ट-1947, द मिक्स्ड फार्च्यून ऑफ़ द मिक्स्ड रेस एंग्लो-इंडियन्स', द इंडियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली।
10. कार्टन, एड्रिअन (2012) मिक्स्ड-रेस एंड मॅडलृनटी इन कोलोनियल इंडिया, रौटलेज, लन्दन, पृष्ठ 31-32.

जातिगत चेतना और दलित आंदोलन पर गांधी व अम्बेदकर के विचारों का मूल्यांकन

डॉ० राजकिशोर राम

+2 शिक्षक (इतिहास) राज इंटर कॉलेज,
बेतिया पश्चिमी चंपारण

शोध सारांश

जाति भारतीय समाज की एक सच्चाई है, इस बात से इन्कार नहीं है। दलितों की भूमिहीनता और गरीबी यहाँ तक कि अशिक्षा के मूल में भी जति का चिन्तन है। जाति ब्रह्मणवादी, सामंती व्यवस्था का मुख्य आधार है। इसी आधार पर दलित, सामाजिक और आर्थिक शोषण के शिकार हुऐ है, लेकिन इस बुनियाद पर गरीबी के सवाल छोड़ दिये जाए और वर्ग चेतना को नकार दिया जाये तो क्या ऐसा करना वर्तमान समाज के यथार्थ को झुठलाना नहीं होगा? इसमें संदेह नहीं है कि वर्ण व्यवस्था के कारण ही सामाजिक और आर्थिक आर्थिक दासता दलितों को मिली है, वर्ण व्यवस्था पर चोट करके सामाजिक समता हासिल की जा सकती है या सामाजिक समता के लिए वर्ण व्यवस्था पर प्रहार, परन्तु यह आर्थिक समता का भी निदान है, यह समझना भूल होगी। आर्थिक मुक्ति के लिए भूमि की राष्ट्रीयकरण की जरूरत है, शिक्षा और औद्यौगिक क्षेत्र में राष्ट्रीय समाजवाद की जरूरत है। ये सवाल भारत की अर्थव्यवस्था के सवाल है। ये समाजशास्त्र के नहीं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सवाल है। जब तक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर चोट नहीं की जायेगी, उसे सुरक्षा दे रहे सामन्तवाद से नहीं लड़ा जायेगा, तब तक आर्थिक समाजवाद सिर्फ एक स्वप्न ही बना रहेगा। डॉ. अम्बेदकर इस आर्थिक समाजवाद क प्रबल समर्थक थे और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के कटु आलोचक थे। उनके आर्थिक विचार मूल वामपंथी दर्शन के विरूद्ध नहीं है बल्कि उससे सहमति रखते हैं। सिर्फ जाति के समाजशास्त्र तक सीमित रहने वाले दलित आलोचकों को डॉ. अम्बेदकर के 'भारत में जातियाँ, 'राज्य और अल्पसंख्यक' तथा मजदूर और संसदीय लोकतंत्र जैसी पुस्तकों और वार्ताओं को गहराई से पढ़ने और समझने की जरूरत है। यह अम्बेदकर ही थे जिन्होंने लिखा कि 'व्यक्ति ही समाज बनाते हैं' यह कथन अक्षरशः सत्य है। बर्गो के मिलने से समाज बनता है। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, लेकिन यह सच है कि समाज के भीतर ही वर्ग है। उनका मत था कि जातियाँ वर्गों के बाद ही अस्तित्व में आयी है। पहले वर्ग ही थे और प्राचीन हिन्दू समाज भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। डॉ. अम्बेदकर जाति व्यवस्था के खात्मे के लिए वर्णव्यवस्था का अन्त चाहते थे।पर उनका यह आर्थिक दर्शन भी था जिसे वह आर्थिक समाजवाद के लिए बहुधा जरूरी समझते थे। उनका मत था कि आर्थिक विषमता सच्चे लोकतंत्र की स्थापना नहीं कर सकती। ऐसा लोकतंत्र शासक वर्ग का तन्त्र ही हो सकता है। यद्यपि डॉ. अम्बेदकर इस मत से सहमत नहीं थे कि मनुष्य सिर्फ एक आर्थिक प्राणी है, परन्तु वह यह भी मानते थे कि यह दलित-मजदूर वर्ग का सामाजिक सच भी है। वे इस कदर आर्थिक विषमता के शिकार व भूखे है कि रोटी उनकी पहली जरूरत बन जाती है। दूसरी चीजों पर वे बाद में सोचते है। इसलिए जनतंत्र में अपनी भूमिका का अर्थ नहीं जानते और सिर्फ कुछ सेर चावल के बदले अपने स्वाभिमान तक बेच देते हैं। इन आर्थिक सवालों को हल किये बिना आर्थिक मुक्ति और सही लोकतंत्र की स्थापना कैसे सम्भव है? दलितों के लिए गौरतलब सवाल यह होना चाहिए किवे जाति चेतना को खत्म करना चाहते हैं या सुरक्षित रखना चाहते हैं? यदि वे खत्म करना चाहते हैं तो दलितों के सामाजिक और आर्थिक मुक्ति दोनो जरूरी है। यदि हमारा लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति का है तो दलित राजनीति के माध्यम से ही हासिल कर सकते हैं।

मुख्य शब्दः वर्णव्यवस्था, समाजवाद, वर्णाश्रम, हरिजन, द्वितीय गोलमेलन, जाति चेतना, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था

अम्बेदकर और गाँधी

अम्बेदकर और गाँधी आज भी दूर खड़े हैं। अपने नेता से बढ़कर उनके अनुयायी होने का दावा करने वाले लोगों का मानना है कि इन दोनों का मेल-मिलाप असम्भव है। एक तरह से यह कथन गलत भी नहीं नजर आता। इन दोनों महापुरुषों के स्वभाव, आस्थाओं, विचारां, संवाद शैली और कार्यप्रणाली में इतनी विभिन्ताएँ रही है कि समानता के कोई सून्न नजर नहीं आते। कहाँ गाँधी और कहाँ अम्बेदकर, इनके व्यक्तित्व भिन्न, इनके संघर्ष शैलियाँ भिन्न। इनमें समन्वय का क्या काम? फिर अनेक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों तथा प्रसंगों पर दोनों में न सिर्फ मतभेद रहे बल्कि संघर्ष भी हुआ। इन सब ऐतिहासिक प्रसंगो को नजरअंदाज कर कोई गाँधी और अम्बेदकर में समन्वय करना चाहें तो कर ले, किन्तु वह वास्तविक नहीं महज एक खुशफहमी रहेगी "गाँधी अपने व्यवहारिक आदर्शवादी मानते थे। यह उनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषता है। व्यवहारिक आदर्शवादी एक-एक कदम सोच समझकर उठता है। उसे अपने देश, समाज और अनुयायियों का ध्यान रखना पड़ता है। भारत जैसे देश में तो और ज्यादा जहाँ रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास और कई प्रकार की विषमताएँ हावी थी, आज भी हावी है। इन परिस्थितियों में सबको साथ लेकर चले बिना स्वराजय की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती थी। इस विवशता से गाँधी बहुत हद तक परम्परावादी प्रतीत होते थे। यहाँ तक कि जीवन के आखिरी दौर को छोड़कर वे आजीवन वर्णव्यवस्था का समर्थन करते रहे। कहते रहे कि 'वर्णाश्रम धर्म और अस्पृश्यता में कोई संबंध नहीं है।' समाज परिवर्तन की बात भी उन्होंने मुहावरे में ही कही है। उन्होंने अस्पृश्यों के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों का संधर्ष छेड़ने के बजाय सवर्णों में पाप बोध जगाने और उसके प्रायश्चित पर जोर दिया। 1931 में नासिक के कलाराम मंदिर में अस्पृश्यों के प्रवेश के लिए सत्याग्रह के बारे में भी गाँधी का यह मत था कि यह सत्याग्रह अछूतों को नहीं अस्पृश्यों को करना चाहिए। 'पारम्परिक प्रतीकों को नया अर्थ देने में कुशल गांधी जी ने भारतीय समाज के पददलितों को 'दलित' कहने के बजाय 'हरिजन कहा।' भारतीय दलितोद्धार के इतिहास के एक नायक महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता को हटाकर दलितों को न्याय, समता, प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए जो-जो किया उससे उन्होंने दलितों को कभी उकसाने का प्रयास नहीं किया। शान्ति और प्रेम से लोगों का हृदय परिवर्तन हो, यही उनका लक्ष्य था। महात्मा गाँधी ने अंग्रेजों के जातिगत निर्णय के विरोध में किये गये अनशन से अंग्रेजों को दलितों के लिए स्वतंत्र मतदान संघ का निर्णय बदलने के लिए विवश किया। महात्मा गाँधी ने 'हरिजन सेवक संघ', की स्थापना की और स्वयं को दलितोद्धार के लिए समर्पित किया। इसके लिए उन्होंने 'हरिजन' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक शुरू किया जो फरवरी सन् 1933 ई. से प्रकाशित होना शुरू हुआ। इन तमाम कार्यों के बावजूद गाँधी का दलितोद्धार कार्यक्रम काफी विवादास्पद रहा। दलित आन्दोलन के आगे की पंक्ति के दो बड़े नेताओं डॉ. बाबा साहब भीमराव अम्बेदकर एवं पी.के. अत्रे ने महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार को ढोंग माना। इस सन्दर्भ में डॉ. अम्बेदकर जी ने माना कि माना कि कांग्रेस और महात्मा गाँधी ने दलितोद्धार का कुछ भी कार्य नहीं किया जिसका गवाह खुद गाँधी का मौका दिया इसलिए आज भी दलितोद्धार की इनकी नीयत पर लोग संदेह करते हैं। उन्होंन स्वयं को कट्टर सनातनी, वर्णाश्रम धर्म का समर्थक और जन्मगत पेशे अपनाने के प्रति प्रबल आग्रह दिखाया। कट्टर सनातनी होने की उनकी उद्घोषणा और अछूतोद्धार आन्दोलन परस्पर अन्तर्विरोधी है। दूरगामी दृष्टि से देखा जाय तो ये दोनों आग्रह मिलकर लोकतंत्र और समाज की धारणा के विपरीत प्रतीत होते हैं। गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी ने दावा किया था कि अगर वोट डलवाये जाये तो उन्हें ही सर्वाधिक वोट अछूतों के मिलेंगे। पूना समझौता आते-आते अछूतों की ओर से हस्ताक्षर करने का अधिकार अम्बेदकर को मिला। इस प्रकार गाँधी के हाथ से अछूतों का नेतृत्व लगातार फिसलता ही गया।

दलित, गाँधी और अम्बेदकर

गाँधी और अम्बेदकर के विचारों का आंकलन करते समय गोलमेज सम्मेलन, अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन मण्डल की अम्बेदकर की मांग, यरवदा जेल में गाँधी के उपवास और समझौते दोनों में कुछ समय तक सहयोग और विरोध ही गांधी और अम्बेदकर के बीच रानीतिक विवाद का कारण बना। अम्बेदकर ने गोलमेज सभा में दलितों की समस्या को उठाकर राष्ट्रीय स्तर पर दलित आन्दोलन का आगाज किया था। वहीं गांधी जी ने द्वितीय गोलमेलन (1931) में पृथक निर्वाचन मण्डल का विरोध करते हुए कहा था- 'क्या अछूत बने रहेंगे? छुआछूत बनी रहे, इसके बेहतर है कि हिन्दू धर्म मर जाय। मैं अम्बेदकर एवं अछूतों के उद्धार की उनकी इच्छा तथा उनकी योग्यता के प्रति पूरा सम्मान रखते हुए कहना चाहता हूँ शायद उनके अपने जीवन के कटु अनुभवों ने इस क्षण उनके निर्णय को गलत दिशा मोड़ दिया है। मुझे यह कहने में पीड़ा हो रही है पर यदि मैं यह न कहूँ तो यह अछूतों जो मुझे जान की तहर प्रिय है, के प्रति बेईमानी होगी। पृथक निर्वाचन मण्डल में हिन्दू धर्म में विभाजन पैदा हो जायेगा। इसलिए

मैं पूरी दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि यदि मेरे रोके यह रूक सकता है तो अपनी जान की बाजी लगाकर भी मैं इसे रोकने की कोशिश करूंगा। पर अम्बेदकर का मानना था कि हिन्दू समाज अपने आप अछूतों को उनका हक दे देगा, इसकी कोई संभावना नहीं है। वे गाँधी को स्वेच्छा से असहमत होते हुए कहते हैं कि, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि चातुवर्ण व्यवस्था आधारित असमानता समाप्त हो जायेगी या हिन्दू लोग इसे समाप्त करने की कोशिश करेंगे। यह असंभव है, अम्बेदकर का यह कहना था कि बिना अलग से राजनीतिक अधिकार हासिल किये दलितों को हिन्दू समाज में अपनी हीन स्थिति से छुटकारा नहीं मिल सकता है। इसी सोच के तहत पृथक निर्वाचन मण्डल की मांग पर डटे रहे और अन्तत (1932 में अंग्रेजी हुकूमत ने इसे मान लिया। गांधी अपने संकल्प के मुताबिक इस तथाकथित 'कम्यूनल अवार्ड' के खिलाफ आमरण अनशन पर चले गये। यह अत्यन्त विरोधभासी चीज लगती है कि 'हरिजनों' के उद्धार के लिए अपनी सारी शक्ति झोंकने वाले गांधी इस हद तक उनके रजनीतिक अधिकार के खिलाफ क्यों चले गये। शायद इसका कारण राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की मूल चिन्ता थी।' जब गांधी ने पृथक निर्वाचन-मण्डल के खिलाफ आमरण अनशन कर दिया तो 26 दिसम्बर 1932 को अम्बेदकर के साथ इस मुद्दे पर उनका समझौत हुआ, जो पूना पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के बाद अम्बेदकर ने जो बयान दिया वह गांधी के बारे में स्पष्ट तौर पर उनके भावों को उजागर करता है 'मुझे खुशी है कि सबके सहयोग से महात्मा गाँधी की जान बचाना है और साथ ही दलित वर्गों के लिए भविष्य में जरूरी संरक्षण प्राप्त करना संभव हो सका। मेरा ख्याल पूरे विचार-विमर्श का बहुत बड़ा श्रेय महात्मा गाँधी को दिया जाना चाहिए। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे गांधी से मिलकर बहुत ताज्जुब हुआ कि उनमें और मुझमें बहुत कुछ समान है।' वास्तव में गांधी और अम्बेदकर के बीच बहुत कुछ समान था और यह भी सच है कि आजाद भारत के प्रथम मंत्रिमण्डल में अम्बेदकर को शामिल करने की जोरदार वकालत गांधी ने ही की थी। उन्हें कांग्रेस से बाहर का बताकर विरोध करने वालों से गाँधी ने कहा कि 'आजादी देश के लिए आयी है कंग्रेस के लिए नहीं।' अम्बेदकर के प्रति गांधी का यह लगाव महज निजी सम्मान नहीं था, बल्कि उनके संघर्ष की भूमिका का भी व्यापक स्वीकार था। छुआछूत के विरूद्ध अपने अविचल संधर्ष एवं अम्बेदकर के दलित चिन्तन एवं कर्म से अन्त (क्रिया के दौरान 1945 तक आते-आते गांधी चातुवर्ण व्यवस्था की अपनी पुरानी अवधारणा से ऊपर उठ गये और आगे बढ़े। 20 फरवरी 1947 को उन्होने कहा कि एक जातिविहीन समाज में वर्ण आधारित पेशे की कोई जगह नहीं होगी। इस जाति संबंधी दृष्टिकोण में परिवर्तन की तार्किक परिणति के 14 जून 1947 के भाषण में गाँधी जी ने कहा कि 'अवर्ण और सवर्ण' का फर्क मिट जाना चाहिए। अम्बेदकर ने दलितों के प्रति गाँधी के हित चिंता को नये सिरे ये देखना भी शुरू कर दिया था और 6 सितम्बर 1954 को राज्यसभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि 'दलित गांधी के अत्यन्त प्रिय थे।' जाति-प्रथा के समूल नाश की अम्बेदकर की अवधारणा गांधी के भीतर अपने विशेष अन्दाज में उतरी थी। शायद यह बात उतनी अधिक जानी नहीं जाती कि गांधी ने विवाह के बारे में आश्रम में एक नियम बना रखा था वे उसी जोड़े के विवाह में जाते थे और अपना आशीर्वाद देते थे जिनमें एक सवर्ण एवं दूसरा दलित हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी और अम्बेदकर आजाद भारत की अपनी सुन्दर तस्वीर गढ़ने की कोशिश में लगे थे, भले ही उनकी कूचियों में अन्तर हो। दोनों समकालीन भारत की बेचैन आत्मा के प्रतिनिधि थे। बेचैनी गांधी को अन्तत इस निष्कर्ष पर ले गयी कि आने वाले वर्षों में दलितों को उस दल-दल से निकालने के लिए कानून बनाने पड़ेंगे जिसमें पूंजीपतियों, जमींदारों, तथाकथित ऊँची जातियों एवं उसवके बाद ब्रिटिश शासकों ने उन्हें डूबो दिया है। मौजूदा समया में उनके पास जमीन नहीं है, वे पूरी तरह तथाकथित ऊँची जातियों पर दया कर रहे हैं और राज्य की दया पर रह रहे हैं। गांधी जी की ये पंक्तियाँ समाज के सबसे उपेक्षित वर्गों के प्रति उनकी गहरी प्रतिबद्धता का इजहार कर रही है। उन्हें दलित-विरोधी बताने की कोशिश न के केवल तथ्यात्मक रूप से गलत है बल्कि दलित आंदोलन के हित में भी नहीं है। वस्तुत: गाँधी और अम्बेदकर की साझी विरासत के सहारे ही भारतीय समाज के क्रांतिकारी रूपांतर की उम्मीद की जा सकती है।

भारतीय समाज दलितों को हिन्दू धर्म में सम्मान के साथ जीने देता है और न हिंदू धर्म की दहलीज को लांघने देता है। ऐसे में दलित करे तो क्या करें? अब मूल प्रश्न यह है कि हिन्दूवाद का कहर दलितों पर ही क्यों टूटता है? सबसे पहले तो गौर करने की बात यह है कि दलित कोई विशेष जाति या समुदाय नहीं है बल्कि दलित शब्द उन लोगों का प्रतिक है जो सदियों से दबाये और कुचलें जाते रहे हैं जो अभाओ से जूझते हुये सदियों से धरती पर स्वर्ग का निर्माण करते आ रहे हैं ये मेहनतकश लोग हैं। बस दुर्भाग्य यह है कि समाज इनको घटिया समझकर नकारता तो रहा है परन्तु इन्हें अपनाने की हिम्मत नहीं जुटा पाया है। इस जातीय आतंकवाद के कुहरे में आज समूचा दलित समुदाय के सामने मुख्य समस्या यह है कि कट्टर हिंदूवादी आतंक से कैसे मुक्ति

मिले। इसके लिए दो विकल्प है एक तो यह कि हम हिंदू धर्म की सीमाओं को लांघकर अन्य धर्मों के बीच में जाकर सम्मान खोजें। इसी वजह से अनेक दशकों से दलितों का धर्मान्तरण हो रहा है परन्तु धर्मान्तरण ही दलितों का एकमात्र विकल्प है इस पर दलित चिंतक एक मत नहीं है। दलितों के मसीहा बाबू जगजीवन राम का मनना है कि धर्मान्तरण कायरतापूर्ण कदम है। हरिजन जिस धर्म में जायेंगे उनका हरिजन होने का अभिशाप भी उनके साथ-साथ जायेगा। इसलिए दलित उद्धार के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्रांति का आह्वन करना चाहिए। 'दलित टूडे' के सम्पादक दलितों का उद्धार धर्मान्तरण से नहीं बल्कि शिक्षा से मानते हैं। इसी मत को स्वीकार करते हुए डॉ. सूरजमल सितम शिक्षा को धर्म से ज्यादा जरूरी मानते हैं क्योंकि शिक्षा हीवह माध्यम है जिसके द्वारा मनुषय जहाँ अपना सम्मानजनक रास्ता निर्धारित करता है तो दूसरी ओर दूसरों को भी अच्छे रास्ते पर चलने की प्रेरणा देता है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम दलित उत्पीड़न रोकने के लिए चुनौतियों से डटकर मुकाबला करना जरूरी मानते हैं तो रूपचंद गौतम विचार परिवर्तन को व्यवस्था परिवर्तन का धरदार हथियार मानते हैं। इस सबसे इस बात की पुष्टि होती है कि धर्मान्तरण मात्र वैचारिक शुद्धता के लिए है न कि हिंदू कट्टरवाद के आतंक से बचने के लिए दलितों का सुरक्षा कवच।

निष्कर्ष

निष्कर्षत: स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व दलित चेतना का आंदोलन परस्पर विरोधाभासी विचारों के बीच धीरे-धीरे आकार ले रहा था दलितोद्धार का प्रश्न विपरीत एवं विरोधी वातावरण से होकर गुजर रहा था। इस तरह की संक्रमणकालीन परिस्थितियों में पूर्ण सामाजिक परिवर्तन आसान नहीं था रूढ़िवादी, पोंगापंथी, शेषणकारी, अत्याचारी एवं समर्थ वर्ग पर चोट करने के लिए उनमें से ही गाँधी और अम्बेदकर जैसे विचारक तथा समाजसुधारक आगे आये जिंहोंने दलितों के शेषण के लिए उच्च जातियों पर करारा प्रहार करते हुए उन्हें कसकर फटकारा, उनकी तीव्र आलोचना की तथा दलितों में उनके अधिकारों के प्रति एक चेतना जागृत की। अत: आज उन पहलुओं को अपनाने की आवश्यकता है जिससे वर्तमान परिवेश में हम अपने अस्तित्व की सूरक्षा कर सके। इसके लिए सबसे पहले हमें शिक्षा को अपनाना होगाा क्योंकि अशिक्षित दुनिया की तमाम उपलब्धियों से हमेशा अलग-अलग रहता है। शिक्षा तमाम समस्याओं की एक सफल कुंजी है।

संदर्भ-सूची

* संदर्भ, हंस, अंक सिम्बर 2002, पृष्ठ 63
* य.दि. फड़के, अम्बेदकरी चलवल, पृष्ठ 34
* हरिजन से दलित, सं. राजकिशोर, पृष्ठ 113
* अम्बेदकर और गाँधी: गणेश मंत्री, राष्ट्रिय सहारा, संपादकिय, 28 मार्च 1998
* गाँधी, अम्बेदकर और दलित, पृष्ठ 2,3
* दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओम प्रकाश बाल्मीकि, पृष्ठ 48, 49
* दलित समाज दशा और दिशा, डॉ. राजविर सिंह 'कमल' पृष्ठ 125
* युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, अंक 41-42, 1998 पृष्ठ 6

अति-पिछड़ों और निजी क्षेत्र में आरक्षण का सवाल: एक अध्ययन

डॉ० गणेश सहनी

एम.ए., पीएच.डी, राजनीति विज्ञान,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

नब्बे के दशक की शुरूआत में हुए आरक्षण विरोधी आंदोलन के बाद इस संबंध में विवादों की दूसरी लहर उस समय आई जब सन् 2006 में केंद्र की संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार में मानव संसाधन मंत्री और वरिष्ठ कांग्रेसी नेता अर्जुन सिंह ने उच्च शिक्षा के संस्थानों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 फीसदी सीटों के आरक्षण का प्रस्ताव किया। दिल्ली के मेडिकल छात्रों ने इसका कड़ा विरोध किया और मई के मध्य भाग से जून के पहले हफ्ते तक आरक्षण विरोधी आंदोलन चलाते रहे। यह आंदोलन मंडल सिफारिशों के खिलाफ चले पहले आंदोलन की तरह व्यापक आधार वाला नहीं था। हालाँकि समाचार माध्यमों के आरक्षण विरोधी पूर्वग्रह ने इसे लगातार सुर्खियों में बनाए रखा, पर देश के विभिन्न भागों से इस छिटपुट समर्थन ही मिला। सरकार ने आंदोलनकारियों की चिंताओं को समझते हुए बीच का रास्ता निकाला और करीब आठ हजार करोड़ रूपए खर्च करने का प्रावधान करते हुए शिक्षा संस्थानों में सीटें बढ़ाने का निर्णय ले लिया। आरक्षण विरोधी मेडिकल छात्रों ने इसका भी विरोध किया। संभवत: उन्हें लग रहा होगा कि जब इन संस्थानों में सीटें बढ़ जाएँगी, तो आरक्षित छात्र और सामान्य श्रेणी के छात्रों समेत प्रौद्योगिकी, चिकित्सा और प्रबंधन में प्रशिक्षितों की संख्या बढ़ जाएगी। नौकरियों के लिए प्रतियोगिता और सघन हो जाएगी। आरक्षण विरोधी छात्रों का यह अंदेशा गलत भी साबित हो सकता है और सही भी। यह गलत इसलिए साबित हो सकता है कि जब तक नये प्रशिक्षित लोगों की खेप बाजार में आएगी, उस समय तक बाजार की प्रक्रियाएँ भी अवसरो को बढ़ा चुकी होगी। यह सही इसलिए साबित हो सकता है कि तब तक निजी क्षेत्र में भी आरक्षण के प्रावधान हस्तक्षेप कर चुके होंगें।

दरअसल आरक्षण विरोधियों का पाखंड और छल इतना नंगा हो चुका है कि उसे अंधा भी देख सकता है। पहले जब नौकरियों में आरक्षण दिया गया था तो उनका तर्क था कि इसके बजाय पिछड़ों को शिक्षा में प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। आज जब उन्हें शिक्षा में प्रोत्साहन का प्रस्ताव रखा जा रहा है, तो पहले दिए जाने वाले इस तर्क को पूरी तरह भुला दिया गया है। आरक्षण विरोधी पैरोकार आईआईटी और आईआईएम की साख के साथ देश की साख जोड़ते हैं, पर वे बहुत सुविधाजनक तरीके से भारतीय सामाजिक यथार्थ के उन पहलुओं की तरफ से आँखें बंद कर लेते हैं जिसके तहत जातिगत विभेद समाज के बहुत बड़े हिस्से को समान नागरिकता के अधिकारों का उपभोग करने लायक ही नहीं छोड़ते। ऐसे आरक्षण विरोधी तो इतने दृष्टिहीन हैं कि सिर पर मैला ढोने वाली कुप्रथा की तरफ से भी आँखें बंद कर लेते हैं, जैसे कि इस प्रथा से देश की साख अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बेहतर हो रही हो। जाहिर है कि आरक्षण पर चल रही मौजूदा बहस आरक्षण विरोधियों के पाखंड और राजनीतिक दाँवपेच की संकीर्णताओं के कारण बेहद विकृत हो गई है। इसकी विकृति की सीमा यहाँ तक बढ़ गई है कि ओबीसी की संविधानसम्मत श्रेणी के अस्तित्व पर ही चालाकी से प्रश्न चिह्न लगाए जाने लगे हैं। इस बहस को सकारात्मक बनाने के लिए नागरिक समाज की शक्तियों को अलग से पहलकदमी ले कर कुछ विशिष्ट हस्तक्षेप करना होगा ताकि समतामूलक समाज बनाने का एजेंडा जड़ता का शिकार न हो जाए।[1]

आरक्षण के सवाल पर विवादों के ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा ठीक वैसा ही है जैसा उस समय निकला था जब पहली बार मंडल आयोग की सिफारिशें लागू करने का फैसला किया गया था। ठीक पहले की ही तरह सामाजिक-आर्थिक रूप से स्थापित अभिजनों की तरफ से आरक्षण नीति की वैधता उपयोगिता पर सवाल उठाए जा रहे है, और ठीक पहले की ही तरह राजनीतिक ताकतें इस नीति का लाभ उठा कर अपनी गोटी लाल करने की फिराक में हैं। समतामूलक समाज बनाने के लिए अपनायी जाने

वाली संविधानसम्मक और न्यायिक दृष्टि से निर्विवाद इस नीति के साथ जो बदसलूकी नब्बे क दशक के शुरूआत मे की जा रही थी, वैसी ही स्थिति एक बार फिर बनती हुई दिख रही है। एक तरफ मैरिट के नाम पर आरक्षण को प्रगति-विरोधी विचार के रूप में पेश किया जा रहा है, दूसरी ओर राजनीतिक दाँव है जो समान अवसरों और समान नागरिकता की संभावनाएँ साकार करने के बजाय ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक फायदे हड़पने के चक्कर में है। अभिजनों को लग रहा है कि अगर आईआईटी और आईआईएम संस्थानों में पिछड़ों वर्गों के लिए आरक्षण बिना विरोध के स्वीकार कर लिया गया तो अगला नंबर निजी क्षेत्र में आरक्षण की पेशकश का होगा। आरक्षण विरोधी मोर्चेबंदी के पीछे यही अंदेश काम कर रहा है।[2]

दूसरे आरक्षण विरोधी आंदोलन के थक कर खत्म हो जाने का मतलब यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि अब इस तरह हा आंदोलन दोबारा नहीं होगा। आरक्षण विरोधी मेडिकल छात्रों और उनके समर्थकों के सरोकारों से साफ था कि वे सामाजिक न्याय के सिद्धांत के बंधनों में बाजार की शक्तियों को बाँधने की किसी भी पेशबंदी को भाँप गए हैं। वे समझ गए हैं कि सरकारी क्षेत्र में आरक्षण जितना हो सकता था, उतना हो चुका है। अब निजी क्षेत्र की बारी है। सरकार और निजी क्षेत्र के बीच इसकी चर्चा शुरू हो चुकी है।

खास बात यह है कि इस बहस से अभी तक कोई कारगर नीतिगत प्रस्ताव निकल कर नहीं आ पाया है। सरकार बीच-बीच में जिस नीति के कार्यान्वयन के दावे करती रहती है, कोई नहीं जानता कि वह नीति दरअसल क्या है। कांग्रेस के नेतृत्व वाली सरकार के चुनावी वायदों में यह शामिल था और न्यूनतम कार्यक्रम में भी निजी क्षेत्र में आरक्षण लागू करने का जिक्र है। लगता है सरकार यह मान कर चल रही है कि कोई नयी नीति बनाने की जरूरत नहीं है और केवल पहले से चली आ रही नीति को ही निजी क्षेत्र में कार्यान्वित किया जाना काफी होगा। आरक्षण के निजी क्षेत्र में विस्तार की माँग करने वाले दबाव समूहों का रवैया भी इसी किस्म का है। उन्हें तो लगता है कि सिर्फ रानीतिक इच्छा शक्ति की कमी है, वरना आरक्षण के मौजूदा प्रावधान निजी क्षेत्र से मनवाना कठिन नहीं होगा। दूसरी तरफ बाजार की ताकतों पर भरोसा करने वाले वे जड़ उदारतावादी हैं जो सब कुछ कारपोरेट सेक्टर की सदिच्छा पर ही छोड़ देना चाहते हैं। इसके लिए कारपोरेट सेक्टर की सदिच्छा पर ही छोड़ देना चाहते हैं। इसके लिए कारपोरेट सेक्टर की सदिच्छा पर ही छोड़ देना चाहते हैं। इसके लिए कारपोरेट सामाजिक जिम्मेदारी के सिद्धांत का सहारा लिया जा रहा है, लेकिन जिसका निजी क्षेत्र के व्यवहार और आचरण में कीहं कोई प्रमाण नहीं मिल रहा है। ये उदारतावादी चाहते हैं कि विशेष अवसरों के सिद्धांत पर क्षेत्रवार अमल की कोई नीति न बनाई जाए और उसे अलग-अलग कारपोरेट फर्मों की इच्छा पर छोड़ दिया जाए। इस तरह की नीति का परिणाम यह हसेगा कि इस नीति के कार्यान्वयन की निगरानी करने की जिम्मेदारी किसी को नहीं दी जाएगी। विभिन्न उद्योग संघ भी इस सिलसिले में केवल आँकड़े और अन्य जानकारी जमा करने के केंद्र बन कर रह जाएँगे। कुछ कंपनियाँ सामाजिक न्याय और डायवर्सिटी लागू करने की शोकेस बन कर रह जाएँगी, और ज्यादातर कंपनियाँ कर्मचारियों की भर्ती के मामले में अपनी पुरानी और भाई-भतीजावादी नीतियों पर चलती रहेंगी। दरअसल, उदारतावादियों की यह दलील अपने आप में एक हथकंडे की तरह है ताकि निजी क्षेत्र सामाजिक न्याय की लफाजी करता रहे, पर उसे एक सुसंगत नीति का रूप न लेने दिया जाए।[3]

इस हालत का फायदा सरकार भी उठा रही है, और निजी क्षेत्र को भी इसका लाभ हो रहा है। दोनों ने मिल कर निजी क्षेत्र में आरक्षण के प्रश्न को 'अनिर्णय बनाए रखने की सक्रिय नीति' के दायरे में धकेल दिया है। पार्टियाँ निजी क्षेत्र की अनिच्छा पर दोष मढ़ कर इस मुद्दे को राजनीतिक रूप से भुनाने की मंशा से ठंडे बस्ते में डाले हुए हैं। निजी क्षेत्र सोचता है कि इसमें जितनी देर हो उतना अच्छा है। चूँकि सरकार पुरानी नीति को ही निजी क्षेत्र में लागू करना चाहती है, इसलिए आरक्षण विरोधियों को एक बार फिर बदले हुए भूमंडलीय आर्थिक संदर्भ में विशेष अवसरों के सिद्धांत की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगाने का मौका मिल गया है।

वस्तुस्थिति यह है कि आरक्षण का सिद्धांत एक है, पर सरकारी क्षेत्र और निजी क्षेत्र में उसे लागू करने के लिए दो अलग-अलग नीतियाँ अपनानी होंगी। दोनों नीतियों के बीच फर्क करने के तीन मानक हो सकते हैं। पहला, निजी क्षेत्र में आरक्षण को न्यायसंगत ठहराने के लिए एक नए परिप्रेक्ष्य का विकास (दूसरा, नीतिगत कार्यान्वयन के आयामों का निर्धारण) और तीसरा, लाभार्थियों की शिनाख्त करने का तरीका। अगर सरकारी क्षेत्र में आरक्षण का सवाल राज्य द्वारा समाज में हो रही प्रतियोगिता के परिणामों में हस्तक्षेप से जुड़ा हुआ है, तो लिजी क्षेत्र में इसका मतलब दूसरा है। वहाँ सामाजिक न्याय का अर्थ उदारतावादी लोकतंत्र के तर्क के मुताबिक लगाया जाना चाहिए। निजी क्षेत्र में आरक्षण का अर्थ होना चाहिए आर्थिक होड़ में सबके लिए समतल मैदान तैयार करना ताकि विभिन्न सामाजिक पृष्ठ भूमियों से आए लोगों के साथ किसी तरह का भेदभाव न होने की गारंटी की जा सके।[4]

इस संदर्भ में उदारतावादी लोकतंत्र की खामी यह है कि उसका पलड़ा अघोषित रूप से स्पर्द्धा में शामिल प्रतियोगितों के बीच से मजबूत प्रतियोगी के पक्ष मे झुका रहता है। वह पहले से ताकतवर प्रतियोगी के उस फायदे को नजरअंदाज कर रहता है। वह पहले से ताकतवर प्रतितयोगी के उस फायदे को नजरअंदाज कर देता है जिसके तहत उसे स्पर्द्धा में बढ़त के साथ प्रवेश करने में कामयाबी मिलती है। उदारतावादी लोकतांत्रिक व्यवस्था जीवन के हर क्षेत्र में मुट्ठी भर अभिजनों का बोलबाला मानती है जिसके कारण वे अपनी श्रेष्ठतर समझी जाने वाली नैतिकता और शक्ति के दम पर स्पर्द्धा के नियमों को ही अपने मक्ष मे कर लेते हैं। अभिजनों का दावा होता है कि यह सब वे क्रियाविधि संबंधी पारदर्शिता बनाए रखने के लिए कर रहे हैं। इस तरह राज्य के दायरे के बाहर के क्षेत्रों में मौजूद आर्थिक, सांस्कृतिक और सौंदर्याभिरूचि संबंधी असमानताएँ अभिजनों के पक्ष में ही काम करती रहती हैं। दरअसल, उदारतावादी लोकतांत्रिक सिद्धांत के पास राज्य की राजनीतिक ताकत और राज्य के दायरे से बाहर की ताकतों के बीच संबंध का कोई संतोषतनक फार्मूला नहीं है। इन राज्येतर ताकतों को न केवल उदारतावादी राज्य मान्यता देता है, बल्कि उन्हें प्रोत्साहित भी करता है। यही है वह वजह जिसके कारण निजी क्षेत्र में आरक्षण के लिए कोई बेहतर 'लोकतांत्रिक आधार' अभी तक नहीं बन पाया है। लेकिन, यह भी एक हकीकत है कि इस कमी के बावजूद उदारतावादी सिद्धांत सरकार को ऐसी नीतियाँ बनाने से नहीं रोकता जिसके तहत निजी क्षेत्र में भर्ती के लिए समतल मैदान की गारंटी की जा सके।

राजकीय क्षेत्र के मुकाबले निजी क्षेत्र में कहीं अधिक विविधता है। सैकड़ों-हजारों विभिन्न तरह के आर्थिक संगठन हैं। न केवल उनकी आकार भिन्न है, बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और नीतिगत आयाम भी अलग-अलग हैं। ऐसे विविधता संपन्न क्षेत्र के लिए कोई लागू करने लायक नीति तैयार कर पाना, उसके कार्यान्वयन की निगरानी और समीक्षा करना किसी भी तरह से आसान काम नहीं कहा जा सकता। जाहिर है कि एसी परिस्थिति में कोटा निर्धारित करने और लाभान्वितों की शिनाख्त करने वाली सबके लिए एक नीति बनाने से काम नहीं चल सकता। इसके लिए तो एक मार्गनिर्देशिका तैयार करनी होगी जिसके साथ-साथ विभिन्न तरह के लाभार्थियों की एक सामान्य सूची इस संदर्भ के साथ होगी कि एक खास इकाई कितने और कैसे लाभार्थियों को सामाजिक न्याय के सिद्धांत के तहत अपने यहाँ भर्ती कर सकती है। यानी सेवायोजक इकाई को कुछ गुंजाइश देनी होगी ताकि वह आपतौर से मार्गनिर्देशिका और सामान्य सूची के आधार पर अपने हिसाब से लाभार्थियों की संख्या और किस्म तय कर सके। लेकिन, जहाँ तक मार्गनिर्देशिका और सामान्य सूची के निर्माण और उसके कार्यान्वयन की देख-रेख का सवाल है, राज्य को यह जिम्मेदारी उठानी होगी। यह जरूर है कि इस प्रक्रिया में उसे व्यापार जगत के प्रतिनिधियों और राज्येतर क्षेत्र के लोगों को बाकायदा शामिल करना होगा।[5]

दूसरा सवाल है कि निजी क्षेत्र में आरक्षण का लाभार्थी कैसे तय होगा। यह काम भी सरकारी क्षेत्र के तर्ज पर नहीं हो सकता। इसका सबसे पहला कारण यह है कि कर्मकांडीय आधार पर राजसत्ता से विभिन्न समुदायों को तो ऐतिहासिक रूप से दूर रखा गया है, पर आर्थिक क्षेत्र से उन समुदायों को उस तरह बहिर्वेशित नहीं किया गया है। दूसरे, आर्थिक क्षेत्र मे सामाजिक न्यया की अवधरण समुदायों की उन कमजोरियों पर ध्यान दे सकती है जो गैर-पारंपरिक किस्म की और नयी हैं। यानी आर्थिक क्षेत्र में भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ-साथ स्त्रियों और विकलांगों की समुदायगत वंजनाओं का परिष्कार हो सकता है। चूँकि निजी क्षेत्र में आरक्षण के लाभार्थियों का प्रश्न एक से अधिक श्रेणियों से जुड़ा हुआ है, इसलिए कार्यान्वयन के तरीके भी एक से अधिक होंगे। लाभार्थियों की शिनाख्त अलग-अलग और विभिन्न स्थानीय संदर्भों में करनी होगी। लाभार्थी तय करते समय विषमता के ऐतिहासिक पहलुओं को भी ध्यान में रखना होगा, और भेदभाव के समकालीन आयामों को भी ध्यान में रखना होगा, और भेदभाव के समाकालीन आयामों को भी। अर्थात सामाजिक न्याय के पहलू और डायवर्सिटी के पहलू मिला कर ही निजी क्षेत्र की आरक्षण नीति बन सकती है। एक तरफ तो सेवायोजक इकाई को लाभार्थियों की कुछ निश्चिनत श्रेणियों और किसी निर्धारित कोटे से नहीं बाँध जा सकता, दूसरी ओर सरकार को यह सुनिश्चित करना ही होगा कि यह नीति लक्ष्य आधारित हो और कुल मिला कर निजी क्षेत्र सामाजिक न्याय के लक्ष्यों को वेधता नजर आए।[6]

अगर दलितों के उदाहरण पर गौर किया जाए तो साफ हो जाता है कि निजी क्षेत्र छुआछूत के शिकार रह चुके समुदायों की शिनाख्त सामाजिक न्याय के तर्क के आधार पर कर सकता है। वह खास तौर से उन दलित समुदायों को अपना लाभार्थी बना सकता है जिन्हें अभी तक सामाजिक प्रगति नसीब नहीं हो पाई है। ध्यान रहे कि पारंपरिक रूप से दलित समुदाय जातिप्रथा से बाहर रहे हैं। उन्हें समाज के उत्पादन और सेवाक्षेत्र में कोई तयशुदा भूमिका नहीं दी गई थी। जीवित रहने के लिए उन्हें स्थायी रूप से एसे काम करने पड़े जो उन समुदायों द्वारा भी अस्वच्छ और निकृष्ट माने जाते हैं जो जातिप्रथा के लिचले पायदान पर पड़े हुए हैं। इसी

तर्क के आधार पर जनजातियों को भी निजी क्षेत्र लाभार्थी बना सकता है। आदिवासी दलितों की भाँति कर्मकांडीय और सांस्कृतिक निकृटता के तो शिकार नहीं हैं, पर समाज ने उन्हें शारीरिक अलगाव में डाल रखा है। आधुनिक आर्थिक इकाइयों को चाहिए कि वे पहले आर्थिक और प्रौद्योगिकीय सहायता कार्यक्रमों के जरिए आदिवासियों तक पहुँचें, और फिर उन्हें सेवायोजन के जरिए अपने दायरे में ले लें।[7]

जहाँ तक अन्य पिछड़े वर्गों का सवाल है, सरकारी क्षेत्र की ही भाँति निजी क्षेत्र में भी यह श्रेणी सैद्धांतिक और व्यावहारकि रूप से कुछ दिक्कततलब है। सिद्धांत: यह कहा जा सकता है कि पिछड़े वर्ग समझे जाने वाले खेतिहार और कारीगर समुदाय आर्थिक रूप से अलगाव में पड़े हुए समुदाय नहीं समझे जा सकते। यह सही है कि द्विजों के वर्चस्व के कारण वे कर्मकांडीय और सामाजिक रूप से अलगाव में पड़े रहे, पर जातिप्रथा के आर्थिक पहलुओं का आधार यही समुदाय थे। प्राथमिक उत्पादन से जहुड़े पिछड़े वर्गों के कई समुदाय विभिन्न कोषलों में पारंगत होने के कारण ऐसी सामाजिक पूँजी से सम्पन्न थे जिसके आधार पर आधुनिक अर्थव्यवस्था में जगह बनाना और इस प्रकार मध्यवर्ग में प्रवेश करना उनके लिए अपेक्षाकृत आसान हो सकता है। भारत के प्रत्येक राजय में ऐसी शूद्र जातियाँ हैं जो व्यापार की दुनिया में अपनी कामयाब उपस्थिति दर्ज करा चुकी हैं। इन शूद्र जातियों ने प्रगतिशील बड़े किसानों, भवन निर्माताओं, होटल संचालकों और छोटे-बड़े उद्यमियों के रूप में पैर जमा लिए हैं। गुजरात के पंचाल, दक्षिण भारत के चारी और भंडारी ऐसे उदाहरणों के रूप में देखे जा सकते हैं। दूसरी तरफ, यह भी सही है कि बहुत सी शूद्र जातियाँ अपने पारंपरिक कौशलों से वंचित हो कर भूमिहीन मजदूरी के चक्र में फँस गई हैं। ऐसे समुदायों के लिए निजी क्षेत्र को आदिवासियों की ही भाँति आर्थिक और प्रौद्योगिकीय सहायता कार्यक्रमों का सहारा लेना पड़ सकता है। जाहिर है कि दलितों और आदिवासियों के मुकाबले पिछड़े वर्गों के बीच से आरक्षित सेवायोजना करते समय लाभार्थियों की शिनाख्त करने के मामले में निजी क्षेत्र को काफी समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है।[8]

कुल मिला कर निजी क्षेत्र में आरक्षण का प्रश्न हल करने के लिए सरकार और कारपोरेट क्षेत्र इन आठ सुझावों पर गौर कर सकता है:

1. निजी क्षेत्र के लिए सामाजिक न्याय का सिद्धांत लागू करने हेतु नए चिंतन की आवश्यकता है। सरकारी क्षेत्र के लिए इस्तेमाल की जाने वाली पद्धति यहाँ नहीं चलेगी। नया चिंतन इस तर्ज पर होना चाहिए कि निजी क्षेत्र के लिए लाभकारी और समुचित नीतियों की सूत्रीकरण उदारतावादी लोकतंत्र के संस्थागत तर्क के दायरे में हो सके।
2. अगर सरकारी क्षेत्र के आरक्षण को ही निजी क्षेत्र में लागू कर दिया गया तो बहुत बड़ा नुकसान होगा। न केवल अर्थव्यवस्था को चोट पहुँचेगी, बल्कि सामाजिक न्याय की स्थापित नीति की साख भी गिरेगी।
3. निजी क्षेत्र के लिए लाभार्थियों की श्रेणियों को फिर से रचना होगा। लाभार्थियों की शिनाख्त करते समय सामाजिक न्याय के पहलू भी ध्यान में रखने होंगे और डायवर्सिटी के भी। यानी पारंपरिक रूप से वंचित समुदाय (जैसे, दलित और आदिवासी) भी शामिल करने होंगे और सांस्कृतिक-राजनीतिक रूप से हाशिए पर पड़े भाषाई व धार्मिक अल्पसंख्यक भी।
4. नीति का कार्यान्वयन करते समय सामाजिक, जनसंख्यामूलक और सांस्कृतिक विभेदों के प्रति संवेदनशील रहना होगा। मसलन, कोई समुदाय किसी इलाके में अल्पसंख्यक हो सकता है, पर किसी दूसरे भौगोलिक क्षेत्र में उसकी उपस्थिति बहुसंख्यक हो सकती है। स्थानीय और क्षेत्रीय पहलुओं का ध्यान रखने से किसी फर्म को सेवायोजन के अपने लक्ष्य निर्धारित करने में मदद मिल सकती है।
5. यह सही है कि कार्यान्वयन के स्तर पर नीति पूरे एकसार ढंग से लागू नहीं हो सकती, पर उसे राज्य द्वारा कानून बना कर पूरे क्षेत्र के लिए घोषित किया जाना चाहिए, ताकि विभिन्न रूपों में और विभिन्न स्तरों पर पूरा क्षेत्र उसे लागू करने के लिए बाध्य हो।
6. नीति का जोर लाभ पहुँचाने पर होना चाहिए, न कि लाभार्थियों की स्थिर श्रेणी बनाने पर। नीति के तहत निजी क्षेत्र को ऐसी पहलकदमियाँ लेने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए जिससे आर्थिक और प्रौद्योगिकीय सहायता कार्यक्रम चला कर लाभार्थियों को सेवायोजन के योग्य बनाया जा सके और उनकी उद्यमशीलता बढ़ाई जा सके। नीति को इस दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए कि उसके जरिए सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से वंचित समुदाय आधुनिक अर्थव्यवस्था का अंग बन सकेंगे। साथ ही यह नीति निजी क्षेत्र की बहुत सी इकाइयों द्वारा अपनाए जाने वाले भेदभावपूर्ण और पुराने पड़ चुके सेवायोजन संबंधी

रवैये को दुरूस्त करने की दृष्टि से भी देखी जानी चाहिए। मसलन, विभिन्न कंपनियों को चाहिए कि वे लाभार्थियों के लिए अधिकारी प्रशिक्षण के विशेष कार्यक्रम चलाएँ ताकि आवश्यक स्तर की डायवर्सिटी हासिल की जा सके।

7. निजी क्षेत्र की प्रकृति को देखते हुए यह नीति स्थायी रूप से निर्धारित लाभार्थी श्रेणियों को प्रतिनिधित्व देने की नहीं हो सकती, पर इसका मतलब यही नहीं निकाला जाना चाहिए कि राज्य निजी क्षेत्र की हर सेवायोजक इकाई में सांस्कृतिक विविधता की गारंटी न करे।
8. जरूरी नहीं कि इस नीति का रूप आरक्षण जैसा ही हो, पर इसका सामाजिक न्याय वाला चरित्र कमजोर नहीं किया जाना चाहिए। न ही राज्य को इस संबंध में अपनी जिम्मेदारी त्यागनी चाहिए।

सन्दर्भ सूची

1. सेठ, धीरूभाई, 2009, *सत्ता और समाज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. उपरोक्त।
3. पानंडिकर, वी.ए.पाई. (सं), 1997, पॉलिटिक्स ऑफ बैकवर्डनेस: रिजर्वेशन पॉलिसी इन इंडिया, कोणार्क पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
4. उपरोक्त।
5. दुबे, अभय कुमार (सं), 2002, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, सी.एस.डी.एस., नई दिल्ली।
6. सेठ, धीरूभाई, 2009
7. मेहता, प्रताप भानु, 2013, द *बर्डेन ऑफ डेमोक्रेसी,* पेनग्यून, न्यू दिल्ली।
8. फ्रैकल, फ्रेंसीन एवं अन्य (सं), 2000, *ट्रांसाफॉर्मिंग इंडिया: सोशल एण्ड पालिटिकल डायनेमिक्स ऑफ डेमोक्रेसी,* ऑक्साफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली

व्यापक और गहन होता हुआ भारतीय लोकतंत्रः एक अवलोकन

डॉ० मो० आले नबी

एम.ए., पीएच.डी., राजनीति विज्ञान
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

शीत युद्ध खत्म होने के बाद उदारतावादी लोकतंत्र का विमर्श लगातार संकीर्ण होता जा रहा है और भारतीय राज्य आर्थिक-राजनीतिक सत्ता की स्तंभीय भूमंडलीय संरचनाओं के साथ जुड़ने की कोशिश में लगा है, लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि पहले दिनों भारत में क्षत्रीय और स्थानीय राजनीति के स्तर पर इस प्रतिसंतुलित करने वाली मजबूत ताकतें उभरी हैं। आर्थक गतिविधियाँ और संगठन केंद्रीकृत सरकारी नियोजन की जकड़ से छूटते जा रहे हैं। अर्थव्यवस्था में पूँजी का प्रवाह बढ़ने से उसका क्षैतिज प्रसार हुआ है। समाज में नयी ऊर्जा आयी है जो अब तक नौकरशाह समाजवाद की सरकारी विचारधारा के कारण गतिरूद्ध पड़ी हुई थी। दूसरी तरफ नये बाजारों और सस्ती उत्पादन सुविधाओं की तलाश में अंतर्राष्ट्रीय पूँजी और बहुराष्ट्रीय निगमों ने क्षेत्रीय और स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं में घुसपैठ की है। नतीजे के तौर पर इन ताकतों का सत्ता की पारंपरिक और स्थानीय संरचनाओं से आमना-सामना हो रहा है। नये सामाजिक आंदोलन भी अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के बरक्स खड़े हुए हैं।

भारतीय राजनीति में जमीनी स्तर पर सक्रिय नये सामाजिक आंदोलन पिछले तीन दशकों से स्थानीय जनता की समस्याओं के लिए भारतीय राज्य और सत्ता की स्थानीय संरचनाओं से संघर्ष करते रहे हैं। राजनीतिक पार्टियों की दिलचस्पी केवल चुनाव लड़ने में रह गयी है इसलिए उनके द्वारा छोड़ी गयी जगह को इन्हीं सामाजिक आंदोलनों ने भरा है। यही आंदोलन इस समय भूमंडलीय आर्थिक और राजनीतिक आंदोलनों ने भरा है। यही आंदोलन इस समय भूमंडलीय आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली ताकतों से संघर्षरत हैं। अंतर्राष्ट्रीय ताकतें स्थानीय दायरों पर कुछ इस तरह से हावी हुई हैं कि उन्हें नियंति और विनियमित करने में नियोजन और नौकरशाही की सरकारी संसथाओं की कोई भूमिका ही नहीं रह गयी है। अंतर्राष्ट्रीय ताकतों ने कुछ दूसरे ही किस्म के स्थानीय संगठनों को जन्म दिया है जो या तो उनके साथ गठजोड़ में हैं या उनके साथ काम कर रही हैं। इनमें अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के लिए समर्थन जुटाने वाली संस्थाएँ भी हैं। परिणामस्वरूप स्थानीय राजनीति के परिदृश्य में टकराव ही टकराव दिखयी देता है। कोई भूमंडलीय संरचनाओं के साथ गठजोड़ में है तो कोई सरकारी संस्थाओं के साथ। कारगिल फूड कंपनी का उदाहरण लिया जा सकता है। दक्षिण भारत में बाजार के लिए खेती करने वाले किसानों के आंदोलन के कारण इस कंपनी को अपने पैर वापस खींचने पड़े थे। दूसरी तरफ पेप्सी फूड्स ने पंजाब में ऐसे ही किसानों की तरफ से मिले समर्थन के कारण अपने पैर जमा लेने में कामयाबी हासिल की।[1]

जाहिर है कि आर्थिक गतिविधियों के प्रसार से स्थानीय स्तर पर राजनीतिक कार्रवाई के लिए नयी गुंजाइशें बनी हैं और पार्टियों के सिर्फ चुनाव तक सीमित रहने के कारण खाली हुई जगह को नाना प्रकार की राजनीतिक संरचनाओं ने भरा है। इनमें गैर-सरकारी वैकासिक संगठन, मानवाधिकार संगठन, महिलाओं और बच्चों के अधिकारों की रक्षा करने वाले संगठन, बंधुओ मजदूरों को मुक्त कराने वाले आंदोलन, वनवासियों, मछुआरों, कारीगरों, छोटे और सीमांत किसानों के पक्ष में उनकी संस्कृति और आजीविका बचाने के लिए सक्रिय संगठन और आंदोलन जनता के जिन तबकों और समुदायों को संगठित करते हैं उनका अस्तित्व दाँव पर लगा हुआ है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एक तरफ उनकी आर्थिक गतिविधियों को तेजी से हड़पे ले रही है और दूसरी तरफ खुद को उत्तरोत्तर आंतर्राष्ट्रीय ताकतों के हवाले किये दे रही है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें बहुत ही कम लोग और समुदाय बच पाते हैं। स्थानीय

जनता को अपनी जमीन से उखड़ कर मजबूरन अपनी जिंदगी को फटाफट एक नये दायरे में बसाना पड़ता है। यह नया दायरा उजरती मजदूरी और उपभोग की तेजी से फैलती हुई जन-संस्कृति का दायरा होता है। इसमें कुछ लोग ही टिक पाते हैं, बाकी किनारों पर खदेड़ दिये जाने के लिए अभिशप्त होते हैं। जिनके पास जमीन, सामाजिक हैसियत और शिक्षा जैसी सुविधाएँ हैं वे सामाजिक प्रगति की सीढ़ियाँ चढ़ पाते हैं। पर जिनके पास ऐसी पृष्ठभूमि नहीं है उन्हें सामाजिक-आर्थिक वंचितों का जीवन गुजारना पड़ता है।[2]

चाहे कोई भी भौगोलिक और सांस्कृतिक माहौल हो, इस मामले में लोगों का तजुर्बा एक सा है। नये सामाजिक आंदोलन और संगठन इसी समस्या से जूझ रहे हैं। इनका नेतृत्व नये किस्म के राजनीतिक तत्त्वों के हाथ में है। भारतीय राजनीति के जमीनी स्तर पर काम करने वाले इन तत्त्वों ने अपने शहरी निम्नमध्य और मध्यवर्गीय स्त्रोत के बावजूद गाँवों और आदिवासी इलाकों को अपने काम का केंद्र बनाया है। इनमें से कई ने नौकरियाँ छोड़ कर या राजनीतिक दलों को त्याग कर जनता के संगठनों की स्थापना की है या उसके हित में चलाये जा रहे आंदोलनों को अपनाया है। वे छोटे-छोटे भौगोलिक क्षेत्रों में लंबे अरसे तक काम करते हैं और अपने काम को जनता के सशक्तीकरण की संज्ञा देते हैं। इस प्रक्रिया में वे राजनीतिक मुद्दों को सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पुन:परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। इन तत्त्वों की राजनीति आमतौर पर दलगत और चुनावी दायरे के बाहर रहती है। यानी वे मुद्दा आधारित राजनीति करते हैं और उनके मुद्दों का स्थानय समुदायों के लिए गहरा महत्त्व होता है। राजनीतिक दल इन मुद्दों की इसलिए परवाह नहीं करते क्योंकि उनका असर बड़े राजनीतिक दायरे पर नहीं पड़ता। नतीजतन, चुनाव के गणित के लिए इन मुद्दों का कोई महत्तव नहीं होता।[3]

आमतौर पर क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर कार्यरत इन नये राजनीतिक तत्त्वों द्वारा अपनाये जाने वाले सांगठनिक रूपों के बारे में जानना हो तो ग्रासरूट्स राजनीति से संबंधित साहित्य देखना चाहिए जिसमें इस राजनीतिक गतिविधि को 'गैरपार्टी राजनीतिक संरचनाओं', 'छोटे स्तर पर चलाये जाने वाले आंदोलनों' या 'सामाजिक कार्यकर्ताओं के आंदोलनकारी समूहों' की संज्ञा दी जाती है। ममें इन लोगों को आंदोलनकारी समूह कहना पसंद करूँगा। इन्हें प्रतिबद्ध सामाजिक कार्यकर्ताओं के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो सचेत रूप से किसी खास इलाके या समुदाय के हितों के लिए काफी शिद्दत से काम करते हैं और वहाँ के सामाजिक और राजनीतिक रूपांतरण की सचेत कोशिश करते हैं। इन आंदोलनकारी समूहों का दीर्घकालीन लक्ष्य कहीं ज्यादा बड़ा है। वे चाहते हैं कि राजनीतिक के स्थानीय से लेकर सभी स्तरों पर आम लोगों का सबलीकरण हो। इसी मकसद के लिए वे लोकतंत्र को पुन:परिभाषित और पुनर्रचित करना चाहते हैं ताकि उसे अधिक सहभागी, जनता की आकांक्षाओं के प्रति अधिक चिंतित और उसके प्रति सीधे जवाबदेह बनाया जा सके। वे उपने काम की शुरूआत जन-जीवन को सीधे प्रभावित करने वाले मुद्दों के आस-पास जन-गोलबंदी से करते हैं। उनका प्रयास होता है कि सामाजिक ऊर्जा को जमाकरके उसका इस्तेमाल समाज में सत्ता के मुजफ्फरपुर को बदलने में किया जाये।

ये आंदोलनकारी समूह साझा बेहतर राजनीतिक सरोकारों और अपनी एक जैसी स्थानीयता के बावजूद एक-दूसरे से काफी अलग-अलग होते हैं। अपने कार्य-क्षेत्र के सांस्कृतिक माहौल में रचे-बसे होने के कारण हर समूह की अपनी अलग सांगठनिक और कार्यक्रमगत पहचान होती है। इसके साथ ही वे बड़े राजनीतिक नेटवर्कों, गठजोड़ों, और कुछ ऐसे मुद्दों पर संयुक्त कार्रवाइयों में भी भागीदारी करते हैं जिनकी प्रकृति स्थानीय सीमाओं से परे जाती है और जो विभिन्न इलाकों की जनता के लिए चिंता का विषय होते हैं। अभी तक ऐसे आंदोलनकारी समूहों का व्यवस्थित सर्वेक्षण नहीं किया गया है पर जानकारों द्वारा किये गये आकलन के अनुसार ऐसे पच्चीस से पचास हजार आंदोलनकारी समूह देश भर में सक्रिय हैं।[4]

स्थानीयता से परे जाकर इन समूहों को आपस में जोड़ने वाले मुद्दों में सरकार और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा बनायी गयी विशाल वैकासिक परियोजनाओं (जैसे कि बड़े बाँधों का निर्माण), फौजी इस्तेमाल के लिए सरकार द्वारा जमीन के अधिग्रहण (रॉकेट परीक्षण रेंज बनाना) या एटमी संयत्र की स्थापना का विरोध शामिल है। इन मुद्दों में सामुदायिक संपत्ति, गैरमजरुआ जमीन और जंगलात की संपत्ति गाँव को वापस करने के संघर्ष भी शामिल हैं। आंदोलनकारी समूहों की आमतौर पर सीधी कार्रवाई वाला संघर्ष होता है। वे स्थानीय जनता, सामाजिक कार्यकर्ताओं और दूसरे इलाकों के लोगों की मदद से सामूहिक सत्याग्रह आयोजित करते हैं। हमदर्द व्यावसायिक समूहों, समाचार माध्यमों और बुद्धिजीवियों का समर्थन हासिल करने की कोशिश की जाती है। जन-कार्रवाई के जरिये मुद्दे को उठाने के बाद ये समूह अपने वैकल्पिक प्रस्तावों पर समर्थन जुटाने में लग जाते हैं। इससे होता यह है कि स्थानीय जनता की निर्णयकारी प्रक्रिया में सहभागिता का आग्रह उभर आता है। बहस इस बात पर होने लगती है कि जन-जीवन को प्रभावित करने वाली परियोजनाओं के विषय में फैसला लेते समय जनता की सहभागिता क्यों नहीं होनी चाहिए। साथ ही ये आंदोलनकारी कोशिशें परियोजनाओं के पारिस्थितिकीय और आर्थिक औचित्य पर भी सवाल खड़ा करती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आंदोलन समूहों और उनके सिद्धांतकारों द्वारा लोकतंत्र के दायरों को बढ़ाने की संभावनाओं की तलाश सक्रिय रूप से की जा रही है। इसमें नई विश्व व्यवस्था के चैम्पियनों द्वारा प्रवर्तित विमर्श या देश में भूमंडलीकरण के पैरोकारों की बजाय सामाजिक रूपांतरण को अराजनीतिक गतिविधि की तरह न लेकर एक जीवंत राजनीतिक कार्यसूची के रूप में देखते हैं और इस कार्यसूची में सामाजिक चेतना और संगठन के सभी रूपों के लोकतांत्रिकीकरण को प्राथमिकता दी जाती है। ये संगठन चुनाव, पार्टियों और विधायिकाओं के सीमांत पर सक्रिय रहते हुए खुद को सरकारी दायरों से बाहर रखते हैं। इस प्रकार उनमें राजतंत्र और समाज एवं आधुनिकता और परंपरा के बीच एक सूत्र बन जाने की क्षमता पैदा हो जाती है। वे चाहते हैं कि लोगों का इतना सबलीकरण हो कि वे अपने भाग्य के विधाता स्वयं बन सकें। इस प्रक्रिया के दौरान भारत में लोकतंत्र से संबंधित विमर्श के आधार बदल सकते हैं।[5]

आंदोलनकारी समूहों की राजनीति की खास बात यह है कि वे लोकतंत्र से संबंधित ऐसे नये विमर्श को अपने सतत् राजनीतिक आचरण के जरिये व्यक्त करना चाहते हैं। राजनीति प्रतिनिधित्व की संस्थागत संरचनाओं को यह आंदोलनकारी समूह आलोचना-भाव से देखते हैं। उनकी मान्यता है कि इन संरचनाओं ने समाज के लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया को रोक दिया है। लेकिन उनकी इस आलोचना का आधार सैद्धांतिक न होकर जमीनी स्तर पर हुए दैनंदिन राजनीतिक संघर्ष के परिणामों से निकलता है। वे चाहते हैं कि छोटे-छोटे आंदोलनों के प्रसार के जरिये लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया में आयी जड़ता टूटने का रास्ता निकले। उन्हें यकीन होता है कि लोगों को राजनीतिक सहभागिता की गहराई में ले जाकर उनकी सामाजिक चेतना बढ़ायी जा सकती है, स्थानीय तौर पर ऐसा राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय माहौल बनाया जा सकता है जिसमें जीवन-स्थितियाँ खुद लोगों के हाथ में ही हों। इन आंदोलनकारियों के ही शब्दों में सारी कोशिशों का सार 'जनता को उसका लोकतंत्र वापस देना' ही है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आंदोलनकारी स्थानीय मुद्दों को भूमंडलीय के बजाय स्थानिकता से परे जाने वाली भाषा में परिभाषित करते हैं। पारिस्थितिकी, मानवाधिकार और महिलाओं और बच्चों के अधिकारों पर राजनीतिक मुहिम चलाने वाले गठजोरों और संयुक्त कार्रवाइयों के आयोजनों से यह स्पष्ट हो जाता है। स्थानीय जनता की स्वायत्तता और आत्मनिर्भरता बढ़ाने वाली राजनीति करते-करते ये समूह आंदोलनों की व्यासपक राजनीति से जुड़ जाते हैं। आम जनता के विभिन्न तबकों की इस प्रक्रिया में आंदोलनकारी सहभागिता होती है। यह राजनीति स्थानीय जरुर है पर यह स्वशासी संस्थाओं की पारंपरिक राजनीति से भिन्न है। यह सत्ता और विचारधारा की संरचनाओं से स्तंभीय सूत्र में बँधी हुई नहीं है। न यह राष्ट्र-राज्य की पैरोकार है और न ही नयी विश्व-व्यवस्था की। यह राजनीति प्रांतीय और क्षेत्रीय संकीर्णता को भी प्रोत्साहन नहीं देती। नाना प्रकार के भौगोलिक क्षेत्रों और सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल में रहने वाले समुदायों के बीच इन आंदोलनों का क्षैतिज विस्तार होता चला जाता है। ध्यान रहे कि ये सभी समुदाय समान समस्याओं से पीड़ित होते हैं: अप-विकास के कारण अधिकारों से वंचित इन समुदायों से सरकारी मदद तो हमेशा दूर रहती है पर सरकारी दमन उन्हें उत्पीड़ित करने के लिए हमेशा तैयार रहता है।[6]

इन बातों का यह मलतब हरगिज नहं निकाल लेना चाहिए कि ये आंदोलनकारी समूह अपनी राजनीति को भारतीय लोकतंत्र के संस्थागत ढांचे के विरोध में परिभाषित कर रहे हैं। इस गलतफहमी के उलट वे तो अपनी समांतर राजनीति के लिए संस्थागत लोकतंत्र को अनिवार्य लेकिन अपर्याप्त शर्त मानते मानते हैं। एक तरह से उनकी कोशिश होती है कि वे उदारतावादी लोकतंत्र के प्रचलित ढांचे से सीधा टकराव न मोल लेकर उसके इर्द-गिर्द काम करते हुए उसके परे चले जाएँ और समाज में सत्ता की वर्चस्वी संरचनाओं के लोकतंत्रीकरण के लिए सामाजिक चेतना उन्नत करें। ये आंदोलन राजसत्ता पर तो कब्जा नहीं करना चाहते, पर उनका दीर्घकालीन कार्यक्रम आंदोलनकारी प्रक्रिया के जरिए राज्य के चरित्र में बदलाव लाना और उसकी पुनर्रचना करना जरुर है।[7]

निष्कर्ष

जाहिर है कि साठ और सत्तर के दशकों में प्रचलित स्थानीय राजनीति को देखने का नजरिया अब पुराना पड़ चुका है। उस समय माना जाता था कि स्थानीय राजनीति राज्य सरकार के प्रशासन के सबसे निचले स्तर का निर्माण करती है और उसे राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं की अधिसंरचना का दर्जा दिया जाता था। आज की स्थानीय राजनीति बदल चुकी है। अब वह पंचायतों, सहकारी संस्थाओं, विकास-खंड के प्रशासन और चुनाव लड़ने के मकसद से बनाये गये राजनीतिक दलों के संगठनों तक ही सीमित नहीं रह गयी है। आज की स्थानीय राजनति में ऐसे नये-नये मुद्दे उभरते हैं और उसमें ऐसे तत्व सक्रिय रहते हैं कि उन्हें इन प्रशासनिक और चुनावी सीमाओं में कैद नहीं किया जा सकता। यहाँ एक बार फिर ध्यान रखने की जरुरत है। कि इसका

मतलब स्वशासी संस्थाओं का कम महत्वपूर्ण हो जाना नहीं है। ये संस्थाएँ स्थानीय राजनीति का जरुरी आयाम बनी हुई हैं। नये पंचायती राज कानून ने उन्हें अधिक अधिकार संपन्न करके उनकी राजनीतिक प्रासंगिकता बढ़ा दी है। दिक्कत यह है कि वे उदारतावादी राज्य की स्तंभीय सत्ता-संरचना के सबसे निचले हिस्से का ही अंग हैं। इसके विपरीत आंदोलनकारी करना यह चाहते हैं कि स्वशासी संस्थाओं की राजनीति का दायरा बढ़े, उसे और स्वायत्त संदर्भों में परिभाषित किया जाए, उसे स्थानीय सीमाओं से निकाल कर समाज की राज्य पर निर्भरता को प्रोत्साहित करने वाली स्तंभीय संरचना के बाहर स्थित किया जाए।

जब तक छोटे-छोटे आंदोलनों की यह राजनीति अपना क्षैतिज प्रसार करते हुए सत्ता की वर्चस्वी सरंचनाओं और विचारधाराओं को चुनौती देती रहेगी, तब तक भारतीय लोकतंत्र में एक नयी अर्थवत्ता का समावेश होता रहेगा और लोकतंत्र की गहनता बढ़ती रहेगी। अगर ऐसा होता रहा तो आगे चलकर उदारतावादी लोकतंत्र की उन भूमंडलीय संस्थागत संरचनाओं के चरित्र में भी परिवर्तन आ सकता है जो आजकल समाज और जनता को अधिकार-वंचित करने वाली सत्ता को ही मजबूत करने में लगी हुई है।

संदर्भ सूची

1. डिसूजा, पीटर (सं), 1999, कंटेम्परारी इंडिया, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. उपरोक्त।
3. जयाल, नीरीजा गोपाल (सं), 2001, डेमोक्रेसी इन इंडिया, ऑक्साफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
4. कविराज, सुदीप्त (सं), 1997, पॉलिटिकल इन इंडिया, ऑक्साफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
5. कोहली, अतुल, 1987, स्टेट एंड पावर्टी इन इंडिया: पॉलिटिक्स ऑफ रिॉर्म, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
6. उपरोक्त।
7. आलम, जावीद, 2006, लोकतंत्र के तलबगार? (अनुवाद: अभय कुमार दुबे), वाणी प्रकाशन, सी.एस.डी.एस., नई दिल्ली।

महात्मा गाँधी के 'अहिंसा'

डॉ० मधु सिंह

अतिथि शिक्षक (दर्शनशास्त्र)
आर.बी.एस. कॉलेज, समस्तीपुर, बिहार

'महात्मा गाँधी' जिन्हें पूरा विश्व 'राष्ट्रपिता' के नाम से संबोधित करता है, वे देश की स्वतंत्रता के लिए अहिंसा शांतिपूर्ण संघर्ष के लिए विश्वभर में वन्दनीय रहे। गाँधी जी ने अहिंसा का मार्ग अपनाते हुए अंग्रेजों को चुनौती दी और वह उसमें सफल भी हुए। उन्होंने देश में घूम-घूमकर जनता को अपनी भूमि, अपनी भाषा और सादा जीवन के प्रति प्रेम का पाठ पढ़ाया। नीच और सुरक्षित समाज की सेवा करना ही उनका पहला कर्तव्य था। गाँधी जी ने सत्य, अहिंसा के आदर्शो को सामने रखते हुए रामराज्य की कल्ल्पना को साकार रूप देने के लिए स्वयं को समर्पित किया। इसी कारण वे जन-जन के लोकप्रिय नेता बने और 'महात्मा' कहलाये।

अहिंसा शब्द का प्रयोग वैदिक काल से प्रयुक्त होता रहा है बुद्ध और महावीर ने तो अहिंसा को सर्वोपरी स्थान दिया है। वैष्णव संतो ने भी अहिंसा को धर्म को माना है। योग दर्शन के प्रणेता ने आत्मशुद्धि की साधना के पाँच नियमों में अहिंसा को पहला स्थान दिया। गाँधी जी ने उपरोक्त भारतीय परम्परा से, बाइबिल के प्रवचन से तथा टालस्टॉय के ग्रंथों से अहिंसा के सिद्धांत को ग्रहण किया, लेकिन गाँधी जी अहिंसा परम्परागत अहिंसा से पूर्णत: अलग है वे अहिंसा को एक विशेष अर्थ में लेते है। उनके अनुसार अहिंसा किसी को हानि नहीं पहुंचाना तथा मन और वचन से समाज सेवा, निर्भयता, आत्मा, त्याग, सन्यास आदि है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाना अहिंसा का अंग है किंतु इसकी न्यूनतम अभिव्यक्ति है। अहिंसा का सिद्धांत प्रत्येक अशुभ विचार अनुचित शीघ्रता, झूठ बोलने, घृणा करने, किसी भी व्यक्ति की बुराई की इच्छा करने से खंडित होता है। यह उस वस्तु को जिसकी संसार की अपेक्षा है बाधित करने में भी भंग होता है। उन्होंने कहा था– "अहिंसा कायरों के लिए नहीं है, वीर योद्धाओं के लिए। अंग्रेजी शासन ने एक बार भारत को कायर करार दिया था। इस बार गाँधी ने कहा, एक बार पराजित करने का तात्पर्य यह नहीं है कि भारत हमेशा के लिए कायर हो गया है, अधिकांश यही होता है कि जो व्यक्ति आपके आपको जैसा समझता है, वह एक दिन वैसा ही बन जाता है। कोई यह कहता है कि मैं बस काम को नहीं कर सकता तो वह सचमुच उस काम को करने में असफल साबित होगा, लेकिन अगर उसमें आत्मविश्वास है, वह आत्मविश्वास के साथ किसी काम को करने की धारणा बना ले तो वह उस काम में सफलता पा सकता है। भले ही वह कमजोर हो इसमें कोई संदेह नहीं है, वह उस काम को करके ही रहेगा"।[1]

साधारणतया अहिंसा की नीति का पालन करने वाला को लोग निर्बल समझते हैं लेकिन ऐसी बात नहीं है। अहिंसा में अमोद्य शक्ति है। अहिंसा कार्यरता नहीं है। बल्कि एक वीरतापूर्ण कार्य है। अहिंसा में जो आन्तरिक सामर्थ्य निहित है वह किसी दूसरी वस्तु में नहीं। बुराईयाँ से लड़ना, शत्रु के साथ सद्व्यवहार करना तथा उसके हृदय का परिर्वतन करना, ऐसे कार्यो से आत्मबल में हृदय का वृद्धि होती है। सच्चा वीर वह है जो दूसरो के उपकार के लिए अपना बलिदान कर देता है, जो व्यक्ति मृत्यु से डरता है। वह सच्चा अहिंसक नहीं हो सकता है।

गाँधीजी ने कहा है "अहिंसा नहीं हो सकता है। अहिंसा के जो मेरे सिद्धांत है वे अत्यंत सक्रिय हैं इसमें भय और निर्बलता का तनिक भी समावेश नहीं है। हिंसा के लिए इसमें कुछ स्थान नहीं है। मैंने कई बार दोहराया है कि यदि हम अपने को महिलाओं को धार्मिक पूजा के संस्थाओं की रक्षा करना नहीं जानते हैं तो हमें अहिंसा का पथ अपनाना चाहिये। जिससे की उनकी रक्षा हो सके।"[2]

गाँधी जी अहिंसा का अर्थ बुराइयों के विरूद्ध संघर्ष करना मानते हैं लेकिन वह संघर्ष प्रतिशोध की भावना नहीं रखती क्योंकि प्रतिशोध की भावना से बुराइयों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। गाँधी ने स्पष्ट रूप से कहा "मैं उन्हें अनैतिकताओं के प्रति मानसिक एवं नैतिक रूप से विरोद्ध करता हूँ। मैं अत्याचारियों के तलवार के तीक्ष्ण वार की शारीरिक रूप से विरोध नहीं करता बल्कि मानसिक रूप से उनका विरोध करता हूँ, जिससे कि उसमें निराशा छा जाती है। अत्याचारी यह आशा करता है कि मैं उनकी तलवार के तीक्ष्ण वार का शारीरिक रूप से विरोध करूँगा, परंतु ऐसा मेरे नहीं करने से वह लाचार हो जाता है और मेरे प्रति क्रोध, प्रेम व श्रद्धा में बदल जाता है। इसके फलस्वरूप हृदय में मेरा स्थान ऊँचा हो जाता है"।[3]

इस तरह गाँधी जी बदले की भावना में विश्वास नहीं करते है बल्कि शत्रु के नैतिक परिवर्तन की लालश रखते हैं। वे बुराई के रास्ते का विरोध करते है। वे कभी भी बुरे कर्म वाले व्यक्ति को किसी प्रकार कष्ट देने का विचार नहीं रखते बल्कि वे हमेशा उसे सन्मार्ग पर अग्रसर करना चाहते हैं। वे आत्म शुद्धि एवं मानसिक पवित्रता के द्वारा शत्रु में आमूल परिवर्तन लाना चाहते हैं। उनका कहना है कि "अहिंसा का उपासक वह व्यक्ति है जो व्यक्तियों में हो रहे झगड़े को समाप्त कराता है और उन दोनों को दुबारा मिलाने के लिए अपनी जान की परवाह नहीं करता है। अहिंसक व्यक्ति की वीरता हिंसक व्यक्ति की वीरता से महान और श्रेष्ठ होती है। उसकी वीरता का कभी अंत नहीं होता है"।[4]

अहिंसा का अर्थ केवल जीव को मारना नहीं है क्रोध उनका स्वार्थ के वशीभूत किसी व्यक्ति अस्तित्व करने के संकल्प से अथवा उसे दुख देने से उसकी देह को नष्ट करने का नाम हिंसा है। ऐसा न करना ही अहिंसा है। गाँधी जी का कथन है कि "दुनिया केवल तर्क से नहीं चलती जीवन में किसी हद तक हिंसा है इसलिए हमें न्यूनतम हिंसा का रास्ता अपनाना पड़ेगा, जिसे हम सत्य समझते है उसके लिए हम लड़ेंगे पर कमजोर कायरता और आराम तलवी के कारण हिंसा से बचने की कोशिश नहीं करेंगे"।[5]

गाँधी जी के अनुसार "अहिंसा विजय का घोतक है, पराजय का नहीं। आस्तिक को ही अहिसां उपलब्ध होती है जो व्यक्ति या राष्ट्र अहिंसा का प्रेमी है उसे आत्मा सम्मानहीन व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। अहिंसा को प्रत्येक व्यक्ति व राष्ट्र अपना सकता है। इसमें विश्वव्यापकता की गुंज निहित है। प्रमुखता इस बात की है कि राष्ट्र एवं व्यक्ति को परमात्मा में पूर्ण विश्वास होना चाहिए"।[6]

गाँधी जी का विश्वास है कि मनुष्य हमेशा अपूर्ण है सिर्फ सत्य एवं ईश्वर ही पूर्ण है। सत्य ही सर्वभौम से उपर है और वही शुद्ध अहिंसा है। मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए उसे सत्य और ईश्वर की उपलब्धि के लिए अथक प्रयास करना है। उसके सभी विचार, कार्य अभिलाषाएँ, इच्छाएँ अहिंसा के सूचक हो और उसमें अहिंसा का समावेश है। गाँधी जी इस संबंध में कहते हैं "अहिंसा की सच्ची परीक्षा तो उसी वक्त होती है, जब उसका वास्ता उसे तिरस्कार करनेवालों से पड़ता है।"[7]

सत्य और अहिंसा एक दूसरे से निकटतम रूप से संबंबित है। दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। सत्य का पालन करनेवाले जीवन हिंसा पर आधारित रहता है। गाँधी का कथन है कि "यह सर्वविदित है कि अहिंसा के बिना सत्य की खोज और प्राप्ति करना असंभव है। वे एक सिक्का के दो पहलू है पर कौन कहता है कि इस सिक्का का कौन भाग सीध है और कौन उल्टा। यह कहा जाता है कि अहिंसा एक मार्ग है और सत्य एक लक्ष्य"।

गाँधी जी अहिंसा के केवल नई धारणा ही नहीं बल्कि अहिंसक समाज परिवर्तन की नवीन विचार भी रखा। इस तरह उन्होंने क्रांति की कल्पना में ही क्रांति उपस्थित की। क्रांति जो आज तक हिंसा और हत्या, क्रूरता और नृशंसता का पर्यायवाची रही है। उसे गाँधी ने क्रांति मानने से इंकार कर दिया। उनका कहना था कि क्रांति का अर्थ यदि मान्यता, आकांक्षा और जीवन के मूल्यों में आधारभूत परिवर्तन करता है तो यहाँ प्रयोग का स्थान ही नहीं है। इसलिए जितना ही बल प्रयोग और जबरदस्ती होगी उतना ही अधिक विपरित प्रतिक्रिया होगा। अहिंसा का मार्ग कष्ट मार्ग है। इसमें असीम धैर्य और सहनशक्ति की जरूरत है। अनेक कष्ट प्राप्त करने पर भी सत्य के पालन से मन में शांति उत्पन्न होती है। मन में इसे अपनी कर्तव्य को पहचानने की शक्ति प्राप्त होती है। इससे मनुष्य के अंदर अहम की भावना का नाश होता है और अपने अंदर में जो बुराई रहती है उसका भी ह्रास होता है। स्वभाव में नम्रता आ जाती है और मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है।

अहिंसा एक विकासशील धारणा है। अत: नये-नये युगों में इसके अर्थ बदल सकते हैं और इसके क्षेत्र का विकास हो सकता है। गाँधी के अनुसार अहिंसा का पूर्ण रूपेण पालन शरीरधरी मानवों से असंभव है।

गाँधी अहिंसा के पालन में शुभ संकल्प और अभिप्राय पर विशेष बल देता है, परिणाम पर नहीं। इसलिए वे एक कदम मेरे लिए पर्याप्त है या पूर्ण प्रयत्न ही पूर्ण विजय है में विश्वास करते है। यदि सभी भावात्मक गुणों को एक में मिलाया जाय तो अहिंसा का अर्थ सर्वव्यापक और असीम प्रेम है।

यद्यपि गाँधी ने अहिंसा व्रत के पालन का निर्देश आश्रम वासियों और सत्यग्राहियों के लिए व्यक्तिगत जीवन में उतारने की दृष्टि से दिया है, परंतु उनका यह दृढ विश्वास है कि इस व्रत का पालन व्यक्ति, संस्था, समान और राष्ट्र सभी लाभांवित हो सकते है। उनके अनुसार अहिंसा के पालन से क्षणिक शाश्वत का ज्ञात होने लगता है। सारे अहंकार समाप्त हो जाते है। काफी विनम्रता आ जाती है। संसारिक वस्तुओं से राग समाप्त हो जाता है और दीन प्रतिदिन बुराईयों का अंत होता जाता है। आत्मवत् सर्वभूतेषू का वह अनुभव करने लगता है।

निष्कर्षता

अत: हम गाँधी जी के अहिंसा मार्ग को अपनाकर सत्य की लक्ष्य को अपना सकते हैं और अपने जीवन में प्रेम की भावना उत्पन्न कर अपने को और समाज में शांति कायम कर सकते है और अहिंसा से विजय प्राप्त कर सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, लेखक विनोद तिवारी, राजा पॉकेट बुक्स, पेज नं. -92-93
2. यंग इंडिया, 04.11.1926, पृष्ठ-340
3. यंग इंडिया- 11.06.1921 जून पृष्ठ-196
4. राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, पेज नं0-94
5. यंग इंडिया, 29 सितंबर 1927, पृष्ठ-196
6. यंग इंडिया, 29 सितंबर 1927, पृष्ठ-247
7. द मॉर्डन रिमाडंग, अक्टूबर 1996 पृष्ठ-419
8. इन सर्च ऑफ द सुप्रीम, भाग-2, पृष्ठ-27

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के हिन्दू कोड बिल का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ० शादाब नवाज

असिस्टेंट प्रोफेसर, डॉ. एस.पी. सिंह कॉलेज ऑफ टीचर एजुकेशन, लक्ष्मीपुर, तरकौलिया, पूर्वी चम्पारण (बिहार)

प्रस्तावना

'संस्कृति एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। तथा कुछ तत्व उसमें सनातन रहते है और कुछ काल क्रमानुसार या समय व परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते है। यह तो स्पष्ट है कि भारत जैसे महान देश की प्राचीन संस्कृति का निर्माण किसी एक जाति, धर्म या परम्परा से नही हुआ है। कितने ही आचार, विचार और मान्यताओं की कितनी ही नदियाँ इस महासागर में अपना योगदान करती रही है। अन्य संस्कृतियों में भी न जाने कितने शाश्वत गुण समाहित होते गये। आर्यो के आने से पहले यहां अनेक निग्रेंटो, प्रोटो, आस्ट्रोलॉस्टिक, द्रविड आदि जातियों की एक सम्पन्न संस्कृति थी।[1]

आर्यो के आने के बाद भी बहुत समय तक सांस्कृतिक दृष्टि में कोई अलगाव यहां नही दिखायी दिया। आर्यो की कुछ बातों को अनार्यो ने भी अपना लिया था और अनार्यो की कितनी ही बातों ने आर्यो पर अपनी छाप छोड़ी। आर्यावत और दक्षिणावत देश के दो मुख्य भाग थे, लेकिन यह विभाजन भौगोलिक दृष्टि से था। आर्य कोई वंश या वर्ण नहीं था वेदों में कही पर भी वंश या वर्ण के अर्थ हेतु आर्य शब्द का उपयोग नहीं हुआ है। अग्नि पूजा और यज्ञ संस्था को प्रमाण मानने वाला एक पराकर्मी वर्ग आर्य कहलाता था आर्यो में असुर भी और असुर भी थे। यज्ञ वेद विरोधी अनार्यो से उनका लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहा और धीरे-धीरे वे हावी होते रहे। इन प्राचीन आर्यो का समाजशास्त्र विश्व के सारे समाजशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ था। यहां के समाज को संगठित और एकता के सूत्र में बंधने का अथक प्रयास आर्यो ने किया।[2] 600 से 700 ई. पूर्व तक का काल इस दृष्टि से स्वर्ण युग माना गया। कालान्तर में धर्म संबंधी मान्यताऐं और समाज संबंधी रचनाओं पर कर्मकाण्ड़ों, क्षुद्रबुद्धि धर्ममार्तडों का प्रभाव स्थापित होता गया और फिर क्रमशः हिन्दू समाज के विघटन की प्रक्रिया शुरू हो गई। किसी समय जहाँ सामाजिक विकास के लिये पूरी स्वतंन्त्रता थी वहाँ अब धर्म, जाति और वर्ण के नाम पर भेदों की अनेकों दीवारें खडी हो गई है। शूद्र वर्ण को अत्यन्त हीन और अस्पृश्य मानकर धर्म मार्तड़ों के नये सामाजिक आचारों की रचना की। नारी और शूद्र पशुओं से भी निम्न हो गये। स्त्री, श्वान, शूद्र और कृष्णपक्षी अमंगल है प्रवज्या देते समय गुरू उनका दर्शन न करें (शतपथ ब्राह्मण) 'समावर्तन' के बाद स्त्री, शूद्र, प्रेत, कृष्णपक्षी, श्वान का (शतपथ ब्राह्मण) दर्शन न करे, न उनसे कोई वार्तालाप करे। (परासर गुहा सूत्र)। स्त्री और शूद्र कोई सत्कृत्य नही कर सकते। (मनुस्मृति) जैसी अनेक मान्यताओं का जन्म हुआ। न तो वे वेदों को पढ़ सकते थे, और न ही सामाजिक सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार था। ऊपर के तीन वर्गो की सेवा के अतिरिक्त व्यक्ति और समाज के तौर पर उनका कोई अस्तित्व नही रहा।[3] ज्ञान और अनुमान से प्राप्त खोजें यह बताती है कि स्त्री समेत शूद्रों को अनेकों बंधनों में जकड़कर तथा उन्हें सामाजिक गतिविधियों से बाहर निकाल कर धर्म मार्तड़ों ने भारतीय संस्कृति की असीमित हानि की है। इस संस्कृति के निर्माण में जितना योगदान ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का है उतना ही योगदान शूद्रों का भी है। जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचता जिस पर शूद्र समझे जाने वाले लोगों ने या जातियों ने अपनी छाप न छोड़ी हो जिस पर धर्म का भी प्रभाव रहा। क्योंकि धर्म भारतीय जीवन की आधारशिला है। इस आधारशिला को स्थापित करने में केवल ब्राह्मणों का ही नहीं, क्षत्रियों और शूद्रों का भी सहयोग था और क्षत्रियों की तुलना में शूद्रों का कही अधिक था। ब्राह्मणवेताओं राजाओं में कांशी नरेश अजात शत्रु, राजा प्रवाहण, राजा अश्वपति और राजा जनक के नाम उल्लेखनीय है।[4] गाड़ीवन से संवर्ग विध प्राप्त करने वाले राजा ज्ञानश्रुति स्वंय शुद्र ही थे। ऐतरेय ब्राह्मण के रचियता महीदास,

महाभारत के रचियता वेदव्यास धीवर कन्या सत्यवती के पुत्र थे, धर्म क्षेत्र में शूद्रों का ऐसा अपरंम्पार कर्तव्य किसी एक काल में या किसी एक भू-भाग पर नहीं, सभी कालों में सर्वत्र प्रकट होता रहा है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल कबीर के बारे में कहा करते थे कि चम्पा-चम्पा धरती उसकी किरणों की गर्मी पाकर कला, साहित्य और धर्म, जीवन के कितने ही रूपों को जन्म देती है, उस कबीर के निर्गुण पंथ में अधिकतर सन्त शूद्र ही थे।[5] कबीर, जुलाहें दादू धुनिया, मलूकदास कक्कड, रैदास चमार आदि व्यक्ति शूद्र एवं दलित ही थे। प्राचीन काल के ये उदाहरण कि धर्म क्षेत्र में शूद्रों के लिये आगम्य कुछ नही था। वे ब्राह्मण वर्ग के समान वेद विद्या के क्षेत्र में निरंकुश संचार कर सकते थे। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गो के वे सफल पाथस्य थे और आधुनिक काल में भी उनकी गति अवरूद्ध नही हुई है। शूद्र जातियों में जन्म लेकर भी धर्म के क्षेत्र में प्रचंड क्रान्ति करने वाले दो महापुरुष आधुनिक काल में हुए। एक महात्मा ज्योतिराकुलें और दूसरे डा0 भीमराव अम्बेडकर। ज्योतिराकुलें का सत्य शोधक समाज का आन्दोलन आदमी को आदमी से जोड़ने वाला आन्दोलन था। जिस प्रकार धार्मिक ढकोसलों को तोडने के लिये कबीर से हिन्दू, मुसलमान के धर्मो पर करारे आघात किये उसी तरह ब्राह्मण परम्परा को दकियानूसी और अत्याचारों को तोडने के लिये ज्योतिराकुले ने बुद्धि का कृपाण उठाया था। विशेषत: कास्तकारों की और से खुलेआम लडाई छेडने वाले वे प्रथम समाज सेवी थे और लगभग एक हजार वर्षो से रूका हुआ बौद्धधर्मचक्र डा0 अम्बेडकर जी के कारण गतिमान हुआ।[6] आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें धर्मवेत्ता के रूप में जानेगी। स्वतन्त्र चिन्तन, तत्व दर्शन, मौलिक खोज, अकाटय तर्क और प्रखर पांडित्य से युक्त उनके साहित्य ने सदियों से दबे हुऐं दलित समाज में आत्म सम्मान की ज्योति जगा दी। लेकिन इन्हीं महान व्यक्तियों के साथ-साथ महिलाओं के योगदान का भी वर्णन किया जा सकता है क्योंकि स्त्री परम्परा से शूद्र मानी गई। भक्ति मार्ग का श्रेष्ठ संत भी नारी निंदा से नही चुका। लेकिन इन्हीं शूद्र नारियों ने वेदों की अनेक शूक्तियों का प्रणयन किया। ये ब्राह्मण वादिनी भी थी। तत्व चर्चा में हिस्सा लेती थी। श्रेष्ठ ब्राह्मण पंडितों को धर्म संबंधी वाद चर्चा में परास्त करना उनके लिये सहज था। अपाला, रूचि, अदिति, अत्रियी, विश्ववारा, श्रृद्धा, वैवस्वती, यमी, वाग्दिवी, गार्गी, मैत्रेयी आदि महिलाओं के नाम वैदिक साहित्य के जगमगाते रत्न है जो कि पुरुष प्रधान समाज के होते हुए भी समाज की स्त्रियों के लिये एक आदर्श बनी तथा दलितों में चेतना जागृत करने में इन महापुरुषों के साथ-साथ अन्य लेखकों द्वारा रचित साहित्य का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है।[7]

अम्बेडकर का जीवन परिचय

डा0 भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 को मध्य प्रदेश के रत्नगिरी जिले में मऊ नामक गांव में हुआ था। जब रामजी सूबेदार की फौजी टुकड़ी मध्य प्रदेश स्थित महू की छावनी में थी तब 14 अप्रैल 1891 को भीमाबाई को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उस नवजात शिशु का नाम भीम रखा गया। परिवारजन उसे 'भीवा' कहकर पुकारा करते थे। एक दो साल बाद रामजी सेना से सेवानिवृत्त हुए और उन्होंने रत्नागिरि तहसील में कापदापोली गांव में अन्य सेवानिवृत्त सैनिकों के साथ स्थायी रूप से रहने के लिए प्रस्थान किया।

सन् 1894 के आसपास दापोली नगर परिषद की पाठशालाओं में अस्पृश्य विद्यार्थियों का प्रवेश निशेध था। उसके विरूद्ध अस्पृश्य पेंशनरों ने जिलाधीश के पास अर्जी पेश की। अपनी अर्जी में रामजी सूबेदार ने अपने रहने के लिए जगह की भी मांग की। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि दापोली में अपने बच्चों को पाठशाला में भर्ती कराना संभव नहीं है रामजी सूबेदार अपने परिवार सहित मुंबई में आ बसे। वहां से उन्होंने सेना के अधिकारियों को निवेदन पत्र भेजे और फलस्वरूप सतारा पी. डब्ल्यू. के दफ्तर में स्टोर-कीपर की नौकरी प्राप्त की। सतारा की फौजी छावनी में बसे कोंकणवासी महार पेंशनर परिवारों के साथ रहते हुए भीम का बचपन बीता। उनकी प्राथमिक शिक्षा भी यहीं सम्पन्न हुई।

बचपन में भीम बहुत ही शरारती था। पास के वटवृक्ष पर रोज ही 'सूरपाब्या' खेल खेलने और झगड़े मोल लेने, मारपीट करने, ऊधम मचाने और बखेड़े खड़े करने के मारे, घर के लोगों को भी भीम के इन झमेलों को सुलझाते-सुलझाते मुसीबत हो जाती थी। जब भीम छह साल का हुआ तो मां की मृत्यु हो जाने से वह ममता की छत्रछाया से वंचित हो गया। उसके बाद अपंग बुआ मीराबाई ने ही भीम का लालन पालन किया।

सूबेदार रामजी कबीर पंथी थे। वे रोज अपने बच्चों से भजन, अभंग और दोहों का पाठ करवाते थे। सुबह उठकर वे बच्चों से उनका अभ्यास करवा लेते, इसलिए भीमराव के मन पर धार्मिक शिक्षा के संस्कारों की भी गहरी छाप पड़ी थी।

अम्बेडकर और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति

"कांग्रेस का प्रस्ताव सारे देश को अस्त व्यस्तता की परिस्थिति में डालकर अराजकता पैदा कर देगा। इसलिये यह देश की व्यवस्था के लिए एक चुनौती है।" यह प्रस्ताव वायसराय की काउंसिल ने पास किया। सारे देश में तुरंत कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारियां शुरू हो गई। कार्यकर्ता जेल में ठूंसे जाने लगे। देश भर में सरकार का दमनचक्र शुरू हो गया।

श्रम मंत्री बनने के बाद डा. आंबेडकर का पहला सत्कार समारोह दिल्ली में 23 अगस्त, 1943 को 'दलित वर्ग हितकारिणी' संस्था की ओर से सम्पन्न हुआ। मंत्रिपरिषद में शामिल होने के अपने हेतु को समझाने हुए उन्होंने कहा, "अस्पृश्य समाज की बराबरी का दर्जा दिलवाने में सफलता पाना ही मेरी उपलब्धि है। आप लोग दूसरों के गुलाम न रहें, इसके लिए शासन की बागडोर अपने हाथों में लेनी होगी। यदि हमारे समाज का भविष्य सुधारने के मेरे प्रयत्न सफल न हो पाने का मुझे तनिक भी संदेह हुआ तो मैं इस अधिकारी पद से चिपका नहीं रहूंगा वरन् तुरन्त त्याग पत्र देकर बाहर आ जाऊंगा।"

उन्होंने नागपुर के री एस.एन. कोसारे को पत्र लिखकर उन्हें यह राय दी कि वे कांग्रेस द्वारा प्रेरित मजदूर संगठन के अधिवेशन में भाग न लें। डा. आंबेडकर ने 13 नवंबर, 1942 को आल इंडिया रेडियो के मुंबई केंद्र से "भारतीय मजदूर और दूसरा महायुद्ध" विषय पर एक वार्ता प्रसारित की। "यह महायुद्ध इंसान के साथ एक देश का दूसरे देश के साथ कैसा रिश्ता होना चाहिए, इसे दर्शाता है। यदि नाजियों की विजय हुई तो स्वतंत्रता का गला घुट जायेगा। समता अस्वीकार कर दी जायेगी। केवल स्वराज्य पाकर भी उसका कुछ उपयोग नहीं हो पायेगा। मजदूर वर्ग को "भारत छोड़ो", नारे की जगह 'नवभारत का निर्माण करो' की मांग करनी चाहिए। हिंसा के आगे नतमस्तक होकर पाई हुई शांति कभी भी सच्ची शांति नही हो सकती। यदि युद्ध को सदा के लिए समाप्त करना हो तो युद्ध जीतकर सही विराम संधि प्रस्थापित करनी होगी।" उन्होंने अपना यह मत प्रतिपादित किया था।

हिंदू कोड बिल पर नाराजगी

जब आंबेडकर ने सितंबर 1951 में कैबिनेट से इस्तीफा देते हुए विस्तार से अपने इस्तीफे के कारण गिनाए. वो सरकार के अनुसूचित जातियों की उपेक्षा से नाराज थे। आखिरकार वो चीज जिसने उन्हें इस्तीफे के लिए बाध्य किया वो था हिंदू कोड बिल के साथ सरकार का बर्ताव। यह विधेयक 1947 में सदन में पेश किया गया था लेकिन बिना किसी चर्चा के जमींदोज हो गया। उनका मानना था कि यह इस देश की विधायिका का किया सबसे बड़ा सामाजिक सुधार होता। आंबेडकर ने कहा कि प्रधानमंत्री के आश्वासन के बावजूद ये बिल संसद में गिरा दिया गया। अपने भाषण के अंत में उन्होंने कहा, 'अगर मुझे यह नहीं लगता कि प्रधानमंत्री के वादे और काम के बीच अंतर होना चाहिए, तो निश्चित ही गलती मेरी नहीं है।'

नेहरू ने आंबेडकर के प्रति अपनी नापसंदगी नहीं छुपाई इसके बाद भी कांग्रेस से आंबेडकर विरोध जारी रखा। साल 1952 में आंबेडकर उत्तर मुंबई लोकसभा सीट से लड़े। लेकिन कांग्रेस ने आंबेडकर के ही पूर्व सहयोगी एनएस काजोलकर को टिकट दिया और आंबेडकर चुनाव हार गए। कांग्रेस ने कहा कि आंबेडकर सोशल पार्टी के साथ थे इसलिए उसके पास, उनका विरोध करने के अलावा कोई और विकल्प नहीं था। नेहरू दो बार निर्वाचन क्षेत्र का दौरा किया और आखिर में आंबेडकर 15 हजार वोटों से चुनाव हार गए। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हुई, आंबेडकर को 1954 में कांग्रेस ने बंडारा लोकसभा उपचुनाव में एक बार फिर हराया। ये घटनाएं साबित करती हैं कि कांग्रेस और उसके नेता खासकर नेहरू कभी आंबेडकर पर भरोसा नहीं करते थे और उन्होंने अपनी नापसंदगी को छिपाने का प्रयास भी कभी नहीं किया।

हिन्दू कोड बिल और आंबेडकर

बाबा साहेब आंबेडकर एक काबिल वकील थे, उन्हें कानून बनाने की प्रक्रिया के बारे में कोई गलतफहमी नहीं थी। स्वतंत्र भारत के कानून मंत्री के रूप में उन्होंने "हिंदू कोड बिल" पर महीनों काम किया। उनका मानना था कि जाति व्यवस्था में महिलाओं को दबा कर रखा जाता है, और इसलिए उनकी सबसे बड़ी चिंता यही थी कि हिंदू कोड बिल को ऐसा बनाया जाए जिसमें महिलाओं को बराबर का अधिकार हो। उन्होंने अपने बिल में महिलाओं को तलाक देने के प्रस्ताव के अलावा विधवा और बेटी को संपत्ति में अधिकार देने का प्रस्ताव रखा था। संविधान सभा ने इसमें अड़ंगा डाल दिया (1947 से 1951 तक) और बाद में तो इसे रोक ही दिया गया।

इतिहासकार होने वाले डॉ. आंबेडकर ने हिंदू समाज को एक जबरदस्त धक्का दिया। क्योंकि उन्हें मालूम था कि हिंदुओं के अन्य धर्मों में जाने से हिंदुस्तान को बड़े आघात पहुंचे थे। मुस्लिमों का हिंदुस्तान में राज्य स्थापित करने के लिए अतीतकाल में भ्रष्ट हिंदू ही लड़े थे। धर्मान्तरण के इस आंदोलन के छह वर्षों के बाद मुसलमान नेता जिन्ना ने लुई फिशर नामक अमरीकी लेखक को बताया कि भारतीय मुसलमानों में से 75 प्रतिशत मुसलमान पूर्वश्रमी के हिंदू ही थे। नेहरू जी ने तो धर्मनिरपेक्ष उत्साह के साथ उन भ्रष्टों का आँकड़ा 95 प्रतिशत तक पहुँचा दिया। इससे आंबेडकर की धर्मान्तरण की घोषणा विचारक हिंदू नेताओं को आसमान की कुल्हाड़ी क्यों लगी, ग्रह स्पष्ट होता है। हिंदुओं की आत्मघाती उदासीनता और अस्पृश्य लोगों की ओर देखने की इंसानियत-विहीन दृष्टि के कारण राष्ट्र की शक्ति का पतन हो रहा है, यह उन विचारक हिंदू नेताओं को मालूम हो चुका था।

जो काँग्रेस हिंदुओं की संख्या और सामर्थ्य बल पर पुष्ट हुई, उसने हिंदुओं के धर्मान्तरण की ओर ध्यान न देने से पंजाब और त्रवणकोर प्रान्त में हिंदुओं की वैसी दुर्गति हुई है, यह आगे दिए गए आंकड़ों से दिखाई देगा। उससे शिवाजी, दयानंद, श्रद्धानंद, भाई परमानंद और वीर सावरकर भ्रष्ट हिंदुओं को हिंदू धर्म में लेने के लिए निरंतर संघर्ष क्यों कर रहे थे, इसकी कल्पना स्पष्ट आ जाती है। डॉ. मुंजे और डॉ. कूर्तकोटि आंबेडकर से अनुरोध करते हुए इनके पीछे क्यों घूम रहे थे, इसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है। क्योंकि अस्पृश्यों के धर्मान्तरण से उन्हें हिंदुओं के एकमेव देश को बचाना था।

ईस्वी सन् 1901 में असम में प्रति 10,000 जनसंख्या में हिंदू 5578 थे, मुसलमान 2189 और ईसाई 23 थे। 1941 में वह हिंदुओं की संख्या प्रति 10,000 में 4129 तक गिर गया। मुसलमानों की संख्या 3373 ईसाइयों की संख्या 35 तक बढ़ गयी। पंजाब में मुसलमानेतरों की कुल जनसंख्या 53 प्रतिशत थी। मुसलमान 47 प्रतिशत थे। 1941 में मुसलमानेतरों की मात्र 47 प्रतिशत तक नीचे गिर गयी। मुसलमानों की मात्र 53 प्रतिशत तक बढ़ गयी। त्रवणकोर में 1920 में हिंदू कुल जनसंख्या के 83 प्रतिशत थे, ईसाई 12. 4 प्रतिशत थे। 1941 में हिन्दु 60.5 प्रतिशत तक आए, तो ईसाई 32.3 प्रतिशत तक बढ़ गए।

अस्पृश्यों में से अधिक से अधिक लोग येशु के चरणारविंद में अर्पण कैसे किए जाए, इस संबंध में विवेचन करते हुए 'अस्पृश्यों का शोध' (अनटचेबल्स क्वेस्ट) ग्रन्थ के रचियता गॉडफ्रे एडवर्ड फिलिप्स बड़े ठाठ से कहते हैं कि, हिंदू समाज के ईसाइयों में से 70 ईसाई मूल अस्पृश्य वर्ग में से थे। प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता और लिखते हैं कि, '1931 में समाप्त हुऐ दशक में ईसाई समाज में हर महीने अपने आप ही 5000 से भी अधिक ईसाइयो की वृद्धि होती थी और हर महीने ग्रामीण इलाके में 7000 लोग ईसाई धर्म की दीक्षा लेते थे।'

हिंदुओं के इस्लाम धर्म की दीक्षा देने का इस्लाम नेताओं का ध्येय मुसलमानों में पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा था। इसी कारण से जनगणना के समय अस्पृश्यों का हिंदू के रूप में पंजीकरण न हो। इस तरह का आक्षेप मुसलमानों ने लिया था और काँग्रेस दल के व्यासपीठ से मौलाना महंमद अल्ली ने अस्पृश्य वर्ग का हिंदू और मुसलमानों में समसमान बंटवारा कर लेने की अपवित्र इच्छा स्पष्टतया व्यक्त की थी। उस समय राष्ट्रसभा के हिंदू नेता कौरव सभा में बैठे हुए पाण्डवों की तरह गर्दन नीचे करके बैठे थे।

'जातियों का निर्मूलन' नामक आंबेडकर के प्रबंध पर सारे भारत में उलट-पलट चर्चा। आलोचना चल रही थी। किसी ने निंदा की, किसी ने स्तुति। अपनी अपनी क्षमता के अनुसार प्रत्येक विचारी नेता ने आंबेडकर के प्रबंध का खंडन या मंडन करने का प्रयास किया। सावरकर और आंबेडकर का अस्पृश्यता निवारण के बारे में काफी मतैक्य था। परन्तु हिंदुओं का इतिहास एक अखंड पराजय की मालिका है इस विधान का उन्होंने हिंदुओं के वैभवशाली समय की और अँगुली निर्देश कर उत्तर दिया। आंबेडकर का विधान बौद्धिक दृष्टि से जितना छेड़ने वाला, प्रक्षो-प्रवर्तक था सावरकर का उत्तर उतना ही समर्थनवादी लेकिन समर्पक!

अस्पृश्यों के धर्मान्तरण को विरोध दर्शाकर आंबेडकर को गांधीजी ने उत्तर दिया। आंबेडकर के आरोपों को उतर देते समय गांधीजी ने प्रतिद्वंद्वी को स्तुतिसुमन से युक्त ताना कसने की अपनी अतुलनीय शैली में कहा, 'आंबेडकर आगे कोई भी नाम धारण करें। एक बात सही है कि, वे अपना नाम तुरन्त विस्मृति में सहज रूप में पड़ने नहीं देंगे। अपने आनुवंशिक घंधों का अनुकरण कर आजीविका करने की सीख वर्णव्यवस्था हिंदुओं को प्रदान करती है। आंबेडकर की नाप-तौल की जाए, तो सभी धर्म अधूरे दिखाई देंगे, तुच्छ ठहरेंगे। जिस धर्म ने चौतन्य, ज्ञानदेर, तुकाराम, रामकृष्ण परमहंस, तिरुवलुवर राजा राममोहन रॉय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, विवेकानंद जैसे महान नररत्न निर्माण किए 'वह धर्म आंबेडकर कहते हैं उतना तुच्छ निश्चय ही नहीं!' अंत में गांधीजी ने कहा, 'तथापि, समाज सुधारकों का आंबेडकर के इस प्रबंध की ओर आनाकानी करना नहीं चलेगा। आंबेडकर हिंदू धर्म को प्राप्त हुआ एक आवाह्न है।'

इस पर उत्तर देते समय आंबेडकर ने कहा कि, 'जातियों का निर्मूलन' प्रबंध प्रसिद्धि की लालसा से मैने छापा, ऐसा गांधीजी ने कहा है, जिसके बारे में हमें उन पर दया आती है। महात्मा सरीखे जो लोग काँचघर में रहते हैं, वे दूसरों पर पत्थरबाजी न करे तो ही ठीक होगा! 'नैसर्गिक प्रवृत्ति के खिलाफ आनुवंशिक व्यवसाय के गांधी प्रणीत तत्व और चातुर्वण्य में कोई फर्क नहीं। गांधीजी को आनुवंशिक तत्व के अनुसार तराजू न पकड़ते हुए बैरिस्टर बनकर अधूरा संयासी और अधूरा राजनीतिज्ञ नहीं बनना चाहिए था, ऐसा मर्मभेदक सवाल आंबेडकर ने गांधीजी से किया। गांधीजी द्वारा उल्लेखित संतमालिका निर्देश करते हुए उन्होंने कहा कि, 'उन संतों ने जातिभेद के खिलाफ आंदोलन नहीं किया था। उनके पवित्र जीवन का और उनकी उदात्त सीख का जनमानस पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। शास्त्र के खिलाफ उनका कुछ भी नहीं चल सका।' उन्होंने अपने पत्र के अंत में गांधीजी से पूछा, अहो, ऐसे पुरुषोत्तम हाथ की उंगलियों पर गिने जा सके इतने कम क्यों? और बुरे ज्यादा क्यों? हिन्दू धर्म और हिंदुओं के साथ मेरा जो संघर्ष है, वह उनके दोषास्पद सामाजिक बर्ताव के बारे में नहीं, उनके ध्येय के बारे में है। वे ध्येय मेरी समझ के अनुसार गलत है।' किस धर्म ने युगों-युगों से पुरुषोत्तमों की मालिका निर्माण की इसके बारे में आंबेडकर ने कुछ भी नहीं कहा।

निष्कर्ष

डा0 अम्बेडकर के संघर्ष के फलस्वरूप भारतीय संविधान में निहित प्रावधानों के तहत आरक्षण व्यवस्था के लाभ से शोषित समाज के कुछ लोगों के जीवन स्तर में सुधार आया। परन्तु सामाजिक दायित्व के प्रति उनकी चेतना में सुधार नहीं आ सका तथा सामाजिक दायित्व के प्रति उनकी चेतना कम ही रही।

सर्वप्रथम अप्रैल 1971 में पूना में स्थित खड़की उपनगर के एक मद्रासी स्कूल में कांशीराम ने एक सभा आयोजित की। जिसमें मनोहर आटे सहित 50-60 कर्मचारी उपस्थित थे। सभा को संबंधित करते हुए कांशीराम ने कहा कि आज देश भर में अनुसूचित जाति-जनजाति के करीब 17 लाख शिक्षित कर्मचारी है। यदि इन्हें एक झण्डे के नीचे लाया जाए तो एक देशव्यापी गैर-राजनीतिक संगठन बनाया जा सकता है, और उसके माध्यम से डा0 अम्बेडकर के सपनों को पूरा किया जा सकता है।

डा0 अम्बेडकर ने अपने अथक प्रयासों द्वारा जो आरक्षण दलित वर्ग को दिलाया था, उस आरक्षण के बल पर ही जिन लोगों ने पढ़-लिखकर दलित समाज में उन्नति की उन्हीं पढ़े-लिखे लोगों ने अपना एक सामाजिक वर्ग बना लिया और अम्बेडकर तथा अम्बेडकर के विचारों को अस्वीकार भी किया। ऐसे क्या कारण रहे होंगे जिनके कारण पढ़ा-लिखा दलित वर्ग अम्बेडकर से दूर होता चला गया। 18 मार्च, 1956 को आगरा में डा0 अम्बेडकर द्वारा दलित-शोषित समाज से संबंधित पढ़े-लिखे कर्मचारियों के बारे में व्यक्त विचारों से उनके हृदय में गहरी पीड़ा पहुंची। उन्हें ऐसा लगा कि डा0 अम्बेडकर ने इन पढ़े-लिखे सरकारी कर्मचारियों को स्वार्थी बनने के कारण, अपने समाज से ही अलग होकर, एक अलग वर्ग बना लिये जाने के कारण फटकार लगायी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अम्बेडकर बी0आर0– 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट ए रिप्लाई टू महात्मा गाँधी, डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर राईटिंग एंड स्पीचेज', वाल्यू-1, बाम्बे गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, 1979, पृष्ठ-112
2. अम्बेडकर बी0आर0– 'अछूत कौन और कैसे'? भदन्त आनन्द कौसत्यापन (अनु0) लखनऊ, कल्चरल पब्लिशर्स, 1990, पृष्ठ-82
3. अम्बेडकर बी0आर0– 'द अन्टचेबल्स', भारतीय बौद्धशिक्षा परिषद, द्वितीय संस्करण, 1969, पृष्ठ-2
4. अम्बेडकर बी0आर0– 'हू वर द शूद्रा हाऊ देय कम टू बी फोर्थ वर्ण इन द इंडो आर्यन सोसायटी'? बॉम्बे, ठक्कर एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 1946, पृष्ठ-20
5. अम्बेडकर बी0आर0– 'अन्टेचबल्स हू आर दे एंड व्हाइ दे बी कम अन्टेचेबल्स', न्यू देहली, अमृत बुक कं0, 1948, पृष्ठ-38
6. बाली एल0आर0– 'अम्बेडकर बनाम गाँधी' अलीगढ़, आनन्द साहित्य सदन, 1994, पृष्ठ-21
7. बेग नसीरूल्ला जे0– 'राइट्स ऑफ माइनारिटिज अंडर द इण्डियन कांस्टीटयूशन', लखनऊ, बुद्ध विहार, 1976, पृष्ठ-19
8. बघेल डी0एस0– कर्चुली टी0पी0 सिंह - 'राजनैतिक समाजशास्त्र', विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर दिल्ली, 2007, पृष्ठ-330
9. बाल्मीकि ओमप्रकाश– 'सदियों का संताप', गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2008, पृष्ठ-45
10. चंचरीक के0एल0– 'भारत में दलित आन्दोलन एक मूल्यांकन', प्रकाशन, सृष्टि बुक डिपो, 1993, पृष्ठ-53
11. चन्द्रा आर0, चंचरीक कन्हैया लाल– 'आधुनिक भारत का दलित आन्दोलन', यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ-355

12. सी0पी0आई.– 'डाक्यूमेन्टस ऑफ हिस्ट्री ऑफ दी कम्यूनिष्ट पार्टी ऑफ इंडिया', खण्ड-8 (1951-1956), पृष्ठ-915
13. चंचरीक के0एल0, सिंह धीर– 'भारतीय दलित आन्दोलन की रूपरेखा', यूनिवसिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ-373
14. धुर्ये जी0एस0– 'कास्ट, क्लास एंड आक्यूपेशन', पापुलर बुक डिपो, बाम्बे, 1961, पृष्ठ-215
15. फाड़िया बी0एल0– 'राजनैतिक सिद्धान्त', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 1998, पृष्ठ-180
16. फाड़िया बी0एल0– 'लोक प्रशासन के तत्व', साहित्य भवन, पब्लिकेशन, आगरा, 1998, पृष्ठ-122
17. फाडिया बी0एल0– 'भारतीय शासन एवं राजनीति', साहित्य पब्लिकेशन, आगरा, 1998, पृष्ठ-810
18. गोस्वामी एम0सी0– 'कास्ट एंड आक्यूपेंशन इन असामीज विलेज, मैन इन इंडिया', वॉ-46, नं0-3, 1966, पृष्ठ-166
19. गोपाल राम– 'भारतीय मुसलमानों का राजनीतिक इतिहास', मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1970, पृष्ठ-45

Footnotes

1. महीप सिंह एवं चंद्रकांत बांदिवडेकर, साहित्य और दलित चेतना, द्वितीय संस्करण-2000, प्रकाशक-अभिव्यंजना, काम्पलैक्स लारेंस, दिल्ली-110035, पृष्ठ-16
2. तदैव पृष्ठ-18
3. पूरण मल– 'अस्पृश्यता एवं दलित चेतना', पोइन्टर पब्लिशर्स जयपुर-302003 (राजस्थान), पृष्ठ-43 से 46 तक, 2007
4. पी0के0 श्रीवास्तव, आर0एस0 श्रीवास्तव– 'राजस्थान वार्षिकी'-1990, उदयपुर, अरविन्द प्रकाशन, 1990, पृष्ठ-18
5. तदैव, पृष्ठ-23
6. के0एस0 राजपुरोहित– 'स्वाधीनता संग्राम में राजस्थान की आहूतियां', (1805-1947), जोधपुर, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, पृष्ठ-193
7. डी0 वेंकटेश्वरलू– 'हरिजन-अपर क्लास कनफिलक्टस, न्यू देहली, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस, 1990, पृष्ठ-5

'स्वामी विवेकानंद का सामाजिक विचारधारा'

डॉ० मनोज कुमार सिंह

पटना

सारांशः स्वामी विवेकानंद आधुनिक भारतीय इतिहास के एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रगतिशील विचार धारा के संत थे। उन्होंने गांधीजी की भांति भारतीय जन-जीवन के हर पहलुओं पर अपना खुलकर विचार व्यक्त किया। 1893 के शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेकर, जहां उन्होंने भारतीय वेदांत दर्शन की एक खूबसूरत व्याख्या किया, पश्चिमी जगत में काफी अधिक लोकप्रिय हो गए थे। इसी सम्मेलन में आयरलैंड की महिला मार्गरेट एलिजाबेथ नोबेल भी उपस्थित थी जिनका बहुत सारे अध्यात्मिक उलझन का समाधान मिल गया था। वह धीरे धीरे स्वामी जी के विचारों से प्रभावित होकर उनकी अनेकों इंग्लैंड दौरे की सहायिका बनी। आगे आने वाले समय में 1899 से 1911के मृत्यु पर्यंत व भारत में रही तथा स्वामी जी के साथ रामकृष्ण मिशन के सिद्धांतों व धर्म तथा दर्शन को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्वामी जी ने राज्य तथा व्यक्तिगत विचार धारा, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किया। हालांकि आध्यात्मिक, धर्म तथा दर्शन तथा सांस्कृतिक एक महिलाओं की स्थिति इत्यादि अनेकानेक पहलुओं पर उन्होंने खुलकर अपना विचार व्यक्त किया। महापुरुषों एवं महान व्यक्तियों के पत्रों से उनके व्यक्तित्व के विविध पहलुओं के जीवन दर्शन से हम अवगत होते हैं। इस दृष्टिकोण से स्वामी विवेकानंद का पात्र उनके संपूर्ण व्यक्तित्व तथा प्रतिभा संपन्न जीवन पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपने पत्रों के माध्यम से भारतीय संस्कृति और धर्म के कलेवर में नव चौतन्य का संचार किया था। स्वामी जी ने अपने अल्प जीवन काल में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र तथा प्रगतिशील समाज की परिकल्पना की थी। हालांकि स्वामी जी मूल रूप से एक अध्यात्मवादी और हिंदू धर्म के उदाहरण तथा व्याख्याता के रूप में जाने जाते हैं, लेकिन इसके साथ ही साथ सामाजिक क्षेत्र में भी उन्होंने जो चिंतन व मरण कर अपने विचार प्रकट किए उनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने अपने विचारों में संकीर्ण जातिवादी विचारधारा का खंडन किया क्योंकि भारतीय प्राचीन संस्कृति के महान पुजारी माने जाते थे। उन्होंने गांधीजी की भांति भारतीय समाज में लंबे समय से जारी अस्पृश्यता की निंदा की तथा स्पष्ट शब्दों में विचार व्यक्त किया कि अछूतों को भी ऊंचा जातियों की तरह सम्मान अधिकार मिलना चाहिए। स्वामी जी को भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था थी। उन्होंने सामाजिक एकता पर भी आवश्यकता से अधिक बल दिया। वे भारत की अधिकांश जनता को गरीबी के मूल कारण में आलसी तथा भाग्यवादी विचारधारा को जिम्मेवार मानते थे। इसलिए वे भारतीयों में कार्य करने की संस्कृति का विकास करना चाहते थे। वे भारतीय स्त्रियों के दिन-हीन दशा पर काफी अधिक चिंतित थे तथा स्त्रियों के उत्थान में विश्वास रखते थे। पश्चिमीकरण तथा आधुनिकीकरण के अंतर को भी समझते थे तथा भारतीय परिपेक्ष में इसे बिना- जांचे- परखे बिना अपनाना बेवकूफी मानते थे।

परिचयः भारतीय पुनर्जागरण के उग्र दूतों में राजा राममोहन राय की भांति स्वामी विवेकानंद का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उनका जन्म 12 जनवरी सन 1863 मैं कलकत्ता के एक सम्मानित परिवार में हुआ था। उनकी माता आध्यात्मिक विचारधारा से ओतप्रोत थी परंतु उनके पिता स्वतंत्र विचार के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व थे। उनके बचपन का नाम नरेंद्र नाथ दत्त था तथा यह शारीरिक दृष्टि से हिष्ट-पुष्ट तथा सौर्यवान थे। उनका शारीरिक गठन तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। रामकृष्ण के शिष्यता ग्रहण करने से पूर्व में कुश्ती, मुक्केबाजी, घुड़सवारी तथा तैरने आदि में काफी दक्षता प्राप्त कर लिए थे। वे विलक्षण प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे जो पाश्चात्य दर्शन में भी ढले हुए थे। क्योंकि वह पश्चिमी जगत के अनेकों दर्शन निको दार्शनिकों तथा राजनीतिक चिंतकों के रचनाओं को गहनता से अध्ययन किया था इसलिए इन अध्ययनों के कारण उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक हो गया था। प्रारंभ में वे ब्रह्मसमाज की इच्छाओं से प्रभावित थे, लेकिन वैज्ञानिक अध्ययनों के

कारण उनका ईश्वर से विश्वास नष्ट हो गया था। बहुत लंबे समय तक वे नास्तिक बने रहे और कलकत्ता शहर में एक गुरु की खोज में घूमते रहे जो उनके ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान करा सके। जिस समय में अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस से मिले उस समय उनकी आयु 25 वर्ष की थी। इनको अपने गुरु से मुलाकात मानव प्राचीन तथा नवीन विचारधारा का मिलना था। परमहंस की अध्यात्मिक विचारधारा ने विवेकानंद को विशेष रूप से प्रभावित किया। अपने गुरु से मिलने पर विवेकानंद ने अपने रोढ प्रश्न कर अपने मन की उलझन को दूर किया तथा स्वामी जी के मन की चेतना जाग उठी। अब उनका आकर्षण परमहंस के दिन- प्रतिदिन बढ़ने लगी। अब उन्होंने रामकृष्ण के आगे अपने आप को पूर्णरूपेण अर्पित कर दिया और उनके से शिष्य बन गए। उन दिनों पश्चिमी विचारक हिंदू धर्म की कड़ी आलोचना किया करते थे जिससे स्वामी जी के हृदय को गहरा आघात लगता था। इन आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए स्वामी जी ने निश्चय किया कि संसार के सामने भारत की आवाज बुलंद किया जाए। 31 मई सन 1893 मैं वे अमेरिका गए और 11 सितंबर 1893 शिकागो में उन्होंने ''विश्व धर्म संसद'' में अत्यंत सारगर्भित भाषण दिया। उनका यह भाषण संकीर्णता से परे सर्वदेभिकता और मानवता से ओतप्रोत था। वहां की जनता उनकी वाणी को सुनकर मंत्रमुग्ध हो गई। उनके शब्दों में-शजिस प्रकार सारी धाराएं अपने जल को सागर में लाकर मिला देती है उसी प्रकार मनुष्य के सारे धर्म ईश्वर की ओर ले जाते हैं। ''इनकी प्रशंसा में न्यूयॉर्क क्रिटिक ने लिखा- 'वे ईश्वरीय शक्ति प्राप्त वक्त है, उनके सत्य वचनों की तुलना में उनका सुंदर बुद्धिमतापूर्ण चेहरा गैरिक वस्त्र में लिप्त आपका आकर्षण नहीं। 'न्यूयॉर्क हेराल्ड ने भी इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा कि-विवेकानंद निश्चय ही विश्व धर्म परिषद में एक महान व्यक्तित्व है। उनकी प्रवचन सुनने के पश्चात हम अनुभव करते हैं कि इस प्रकार विद्वान देश को मिशनरी योजना हमारा कितना मूर्खतापूर्ण कार्य है। विवेकानंद के व्याख्यानों के सार पर टिप्पणी करते हुए रोमयांरोला ने लिखा- संसार में कोई भी धर्म मनुष्यता की गरिमा को इतने ऊंचे स्वर में सामने नहीं लाता जितना हिंदू धर्म में लाता है। प्रो० राइट ने तो उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा कि इनके ज्ञान की तुलना विश्व विद्यालय के समस्त प्रोफेसरों के एकत्र ज्ञान से भी नहीं की जा सकती।

अध्ययन का उद्देश्यः हमारा भारतीय समाज प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अनेकानेक बदलाव तथा परिवर्तन का साक्षी रहा है। विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक सिंधु- घाटी की सभ्यता का हमारा समाज वर्ण तथा वर्ग विहीन समाज था। भारत में आर्यों के आगमन के साथ वर्ण व्यवस्था का आगमन हुआ, तथा कालांतर में अनेक वर्णसंकर जातियों का उदय हुआ प्रारंभ में वर्ण का आधार कर्म था, लेकिन समय के साथ यह जन्म के आधार में परिवर्तित हो गया तथा इसमें जटिलताएं आनी शुरू हो गई। इन्हें जटिलताओं के बीच कुछ ऐसी सामाजिक कुरीतियों का जन्म हुआ जो मध्यकालीन भारतीय इतिहास में भक्ति आंदोलन को पार कर आज आधुनिक युग तक कायम है। आधुनिक औपनिवेशिक काल में सती प्रथा, मानव बलि प्रथा, बाल विवाह, ठगी प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों को सख्ती के साथ समाप्त किया गया। ऐसी घोर अमानवीय प्रथा थी जो मध्यकालीन अनेक शासकों के प्रयास के बावजूद समाप्त नहीं किया जा सका लेकिन 1829 में इसे राजा राममोहन राय तथा लॉर्ड विलियम वेंटिक के प्रयास से इसे सख्ती से समाप्त किया जा सका। स्वतंत्रोत्तर भारत में नारी शक्ति करण के इस दौर में भी अनेक सामाजिक कुरीतियां कायम है, जैसेः-अस्पृश्यता, छुआ-छूत की भावना, बाल विवाह, जाति-पाति की भावना, नारियों की स्थिति, लोगों में गरीबी तथा अशिक्षा की स्थिति जैसी समस्याओं के समाधान की दिशा में स्वामी विवेकानंद के विचार आज ज्यादा प्रासंगिक है क्योंकि भारत में गरीबी तथा अशिक्षा की स्थिति में कार्य करने की संस्कृति का अथाव प्रमुख कारण मानते थे। वे नारी सम्मान तथा स्वतंत्रता के हिमायती थे। वे अछूतों तथा मुख्यधारा से कटे हुए लोगों को भी उच्च वर्ण के लोगों के सम्मान अधिकार चाहते थे। इसलिए आज के इस दौर में स्वामी जी के विचार ज्यादा प्रासंगिक हो गए हैं।

स्वामी विवेकानंद के सामाजिक विचारधाराः सामान्य तौर पर स्वामी विवेकानंद एक अध्यात्मिक हिंदू धर्म के उदाहरण तथा व्याख्याता के रूप में जाने जाते हैं, इसके साथ ही साथ सामाजिक क्षेत्र में भी काफी चिंतन-मनन कर अपना विचार प्रकट किया। प्राचीन भारतीय संस्कृति के एक महान पुजारी थे और उनका मजबूती से प्रचार भी करते थे इसके साथ ही उन्होंने प्रचलित रूढ़िवादिता और संकीर्णता के विरुद्ध जोरदार संघर्ष भी किया था। वे जाति व्यवस्था के बहुत बड़े आलोचक थे। वे मानते थे कि आधुनिक युग में वर्ण-व्यवस्था सामाजिक अत्याचारों को बढ़ावा देने वाली है। यह वर्ग तथा जाति व्यवस्था में भारतीय समाज को खोखला कर दिया है। वे ब्रह्मचर्य वर्ग के एकाधिकारवाद पर भी आघात किया। गांधीजी तथा अंबेडकर की तरह अस्पृश्यता को भारतीय समाज का कोढ मानते थे। वे इसे अत्यंत निंदनीय तथा कुर मानते थे क्योंकि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान है। वे भारतीय संस्कृति के महान पुजारी होने के नाते देश के बुद्धिजीवियों को पाश्चात्य संस्कृति की चमक-दमक में भारतीय संस्कृति को

नहीं भूल जाना चाहिए वे भारतीय समाज के सभी वर्गों तथा धर्म के लोगों के बीच सामाजिक एकता को कायम बनाए रखने के हिमायती थे। स्वामी जी ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में अपने भ्रमण के दौरान लोगों में गरीबी तथा शिक्षा का प्रमुख कारण कार्य करने की संस्कृति (work culture) का अभाव को बताया। स्त्रियों के दिन-हीन स्थिति से भी काफी दुखी थे इसलिए इनके सुधार के लिए भी अपना आवाज बुलंद किया। उनका मानना था कि वैदिक काल में भारतीय स्त्रियां पुरुषों के समक्ष समस्त अधिकारों का उपयोग करती थी तथा उन्हें प्रत्येक प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की स्वतंत्रता थी। लेकिन दुख की बात यह है कि आज भारत की नारी केवल उपभोग की वस्तु बनकर रह गई है। वे मानते थे कि इनकी दशा सुधारी बिना किसी भी देश का कल्याण संभव नहीं है वे आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण में आधुनिकीकरण के पक्षधर थे तथा पश्चिमीकरण को भारतीय संदर्भ में बिना जांचे-परखे अपनाने के पक्ष में नहीं थे। वे कहा करते थे कि हमें अपने प्रकृति तथा स्वभाव के अनुसार विकसित होना चाहिए तथा विदेशी समाजों के कार्य प्रणाली को अपनाना व्यर्थ है। भारतवासियों में एक नवीन उत्साह तथा चेतना का संचार करके राष्ट्रीय जागरण में योगदान किया जो हमेशा अविस्मरणीय रहेगा। राष्ट्रकवि दिनकर भी मानते थे कि उन्होंने हिंदू धर्म तथा भारतीय संस्कृति की जो सेवा की उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। संसार के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता की सवीच्यता के शिखर पर ले जाने का श्रेय विवेकानंद को ही जाता है। अपनी ओजस्वी वाणी के द्वारा सोए हुए हिंदुओं में स्वाभिमान तथा आत्मगौरव की भावना का संचार किया उसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

निष्कर्ष: इस तरह उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि स्वामी विवेकानंद एक अत्याधुनिक हिंदू धर्म के उद्धारक और व्याख्याता के रूप में जाने जाते हैं, इसके साथ ही साथ उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में विद्वान सामाजिक कुरीतियों से भी वे लगाव रखते थे तथा इसके समाधान के लिए हमेशा चिंतन-मनन किया करते थे। उनका भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से गहरा लगाव था इसलिए इसमें संकीर्णता के तत्वों से वे काफी क्षुब्ध थे। वे आधुनिक वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था तथा ब्राह्मण वर्ग के एकाधिकार को वह हमारी सभ्यता तथा संस्कृति को खोखला करने वाले तत्व मानते थे। उनका मानना था कि ईश्वर के समक्ष सभी मनुष्य एक समान है तो फिर मानव मात्र की इसमें भेद करने तथा इसमें छुआ-छूत की अवधारणा सैलानी का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। वे देश के बुद्धिजीवियों को पश्चिमी दमक-चमक से अलग रहने के लिए भी चेताया। वे देश के विभिन्न भागों का वर्णन कर देश में फैली गरीबी तथा अशिक्षा का प्रमुख कारण कार्य करने की संस्कृति का अभाव बताया। वे तत्कालीन भारतीय स्त्रियों के दीन-हीन स्थिति से भी काफी दुखी थे क्योंकि उनका मानना था कि प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक सभ्यता में उन्हें काफी सम्मान और अधिकार प्राप्त थे लेकिन आज वे उपभोग की वस्तु बनकर रह गई है। वे अपने सम्मेलन में विश्व को भारतीय धर्म तथा दर्शन से अवगत कराया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ० मनोज कुमार सिंह-THE REVOLUTIONARY HUMANISM AND THE Socio-POLITICAL IDEAS OF SWAMI VIVEKANANDA-THESIS
2- SURYA R-LALL-EDUCATION PUBLISHER'S-MEERUTH
3. डॉक्टर प्रभुदत्त शर्मा-आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास
4- Swami Vivekananda books online
5- Swami Vivekananda books pdf

मनमोहन सहगल के उपन्यास 'समझौते से पहले' में राजनीतिक यथार्थ बोध

ब्रह्मलता

शोधार्थी, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

सारांश

देश की राजनीति के बारे में जानकारी ही राजनीतिक यथार्थ बोध कहलाती है। जब लोग देश के हित व अहित के बारे में सोचने लगते हैं, तो इसे राजनीति में भाग लेने लगते हैं, तो समझो कि जो राजनीतिक रूप से जागृत हो चुके है। राजनीति में रूचि लेकर ही आम जनता राजनीति के उतार-चढ़ाव के बारे में जानती है। डॉ. मनमोहन सहगल के उपन्यास 'समझौते से पहले' में हमें राजनीति के व्यापक रूप के बारे में जानकारी मिलती है। इस उपन्यास से लेखक ने राजनीति के क्षेत्र, व्याप्त भ्रष्टाचार, अन्डरवर्ल्ड की राजनीति में भूमिका, राजनीतिक दलों के शड्यन्त्रें, वर्तमान पुलिस की भूमिका आदि का चित्रण किया है। वर्तमान राजनीति के स्वरूप, राजनीति क्षेत्र में आई विसंगतियों को उजागर करना ही इस शोध पत्र का उदेश्य है।

राजनीति

राजनीति एक ऐसी व्यवस्था है जो राज्य और समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। राजनीति दो शब्दों के योग से बना है राज+नीति। राज का अर्थ है राज्य तथा नीति का अर्थ नियम से है। इस प्रकार राजनीति का मतलब है राज्य की नीति। इस नीति में पूरे राज्य को चलाने के लिए नियम होते हैं। नियमों के बिना कोई भी व्यवस्था सुचारू रूप से नहीं चल सकती। राजनीति के बिना सारे देश में अषाँति व अराजकता फैल जाती है और जनसाधारण का जीवन कष्टमय तथा खण्डित हो जाता है। हमारे जीवन का हर पहलू राजनीति से प्रभावित होता है। "व्यक्ति, समाज, राजनीति एक दूसरे से अविच्छिन रूप से जुड़े हुए हैं। राजनीति समाज की दिशा निर्धारित करती है, समाज राजनीति की। इस भाँति दोनों ही एक-दूसरे से प्राण-रस ग्रहण करते हैं।"[1] अत: राजनीति से व्यक्ति, समाज पूर्ण रूप से जुड़े हुए हैं। राजनीति ही समाज को दिशा दिखाती है। राजनीति के संबंध में गाँधी जी ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि - "राजनीति वर्तमान समय में हमें साँप की तरह चारों ओर से घेरे हुए है, जिसके चंगुल से बचने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, किन्तु उससे बाहर नहीं निकल सकते।"[2]

अत: गाँधी जी के विचारानुसार राजनीति व्यक्ति के हर क्षेत्र को प्रभावित करती है, चाहकर भी हम राजनीति से पृथक नहीं रह सकते। इस प्रकार राजनीति पूरे देश व राज्य को चलाने के नियम हैं।

राजनीतिक यथार्थ बोध

देश की राजनीति के बारे में जानकारी ही राजनीति यथार्थ बोध कहलाती है। राजनीति को जब लोग अपने देश, समाज, राज्य के हित-अहित के बारे में सोचते हैं तो उसे राजनीतिक चेतना कहा जाता है। जब शासन+व्यवस्था के द्वारा निर्धारित नीतियाँ, नीतियों को जब अधिकारी क्रियान्वित करते हैं तथा अधिकरियों के आचार-व्यवहार के प्रति लोगों का जागृत होना ही राजनीतिक यथार्थ कहलाता है।

राजनीतिक यथार्थ पर प्रकाश डालते हुए प्रकाषचन्द्र गुप्त लिखते हैं - "राजनीति जनता के हितों की रक्षा करती है और साहित्य में भी उसी का स्वर देती है। यह दुनिया में विशेष रूप से भारत में शक्ति जनतंत्र, करने वाले कला और साहित्य आज की परिस्थिति

में प्रगतिशील कला और साहित्य हैं।"[3] समाज को चलाने के लिए राजनीतिक यथार्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आज राजनीति वैयक्तिक जीवन का अंग बन चुकी है। डॉ. पुश्पपाल सिंह के मतानुसार, "आज के लेखक राजनीति को अपने लेखन से अलग करके इसलिए नहीं देख सकता क्योंकि उसके जीवन यथार्थ की स्थितियों को गढ़ने में राजनीति का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए राजनीतिक जीवन के छल छन्द को कथा साहित्य में अभिव्यक्ति मिलती है।"[4]

वर्तमान में राजनीतिक व्यवस्था

आज हमारी राजनीतिक व्यवस्था इतनी दूषित हो गई है कि कोई भी सभ्य व्यक्ति इसका नाम लेने से भी कतराने लगा है। आज हम हमारी संसद के प्रतिनिधियों की बायोग्राफी पर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं तो अधिकत्तर राजनीतिज्ञ 'जनप्रतिनिधी' अपराधिक मामलों में फँसे नजर आएँगे। आज की राजनीति का अभिप्राय धोखाधड़ी, स्वार्थ, चापलूसी, बेईमानी है। आज की राजनीतिक व्यवस्था में नैतिकता कहीं पर भी नजर नहीं आती। नागरिक सुरक्षा, जनहित तथा देशहित की बात करना, तो अजीब ही लगता है। आज का राजनीतिक परिवेश भ्रष्ट तथा अत्यंत विषैला नजर आने लगा है। आज के राजनीतिज्ञ बेरोजगारी, महंगाई, आंतकवाद, भ्रष्टाचार आदि की समस्याओं को पैदा करके, अपने स्वार्थो की पूर्ति की तरफ प्रवृत्त होते नजर आ रहे हैं। देश की आजादी के बाद भारतीय जनता ने सोचा था कि उनके दिन बदल जाएँगे, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। पहले अंग्रेजों द्वारा जनता को शोषण होता था, लेकिन वर्तमान अब व्यवस्था द्वारा उनका शोषण होता है। वर्तमान समय में भ्रष्टाचार, आतंकवाद, धर्म के नाम पर भेदभाव, भाई-भतीजावाद आदि समस्याएँ तो आम हो गई हैं। पुलिस प्रशासन भी आम जनता को सुरक्षा देने में असफल रहा है। वह पूरी तरह से राजनेताओं के हाथों की कठपुतली बनकर रह गया है। उपन्यासकार मनमोहन सहगल ने अपने उपन्यासों में वर्तमान राजनीति व्यवस्था का चित्रण किया है। उन्होंने अपने उपन्यास 'समझौते से पहले' में वर्तमान राजनीति की लगभग सभी समस्याओं पर दृष्टिपात किया है। इस उपन्यास में हमें राजनीति के वर्तमान स्वरूप के बारे में गहराई से जानने का अवसर मिलता है। लेखक ने राजनीति के विचित्र रूप का यथार्थ चित्रण करते हुए बताया है कि - "राजनीति का यह मायावी क्षेत्र। वर्चस्व का जल बढ़ने लगता है, तो नेतापन का कमल खिलकर अगजग को आकर्षित करने लगता है, किन्तु जहाँ राहु की कुटिल दृष्टि पड़ी, वर्चस्व का जल सूखा, वहीं नेतापन का कमल घटे या न घटे, वहीं मुरझा जरूर जाता है। जहाँ जय-जय और हाय-हाय में बड़ा झीना अन्तर होता है। जो जनता दो दिन पूर्व राजनेताओं की जय-जयकार करती है, वही लोग परिस्थिति बदलने पर उसकी हाय-हाय के नारे लगाते नहीं अघाते।"[5] इन पंक्तियों में लेखक ने राजनीति के स्वरूप के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने बताया है कि राजनीति का क्षेत्र ऐसा है कि इसमें भले ही कोई व्यक्ति राजनीति चलाने के लिए अपनी पार्टी को शिखर पर पहुँचाने के लिए दिन रात एक कर दे, लेकिन राजनेता किसी के सगे नहीं होते। उन्हें जब किसी भी पार्टी कार्यकर्ता में थोड़ी भी कमी दिखाई देती है, तो वे उसे दूध में से मक्खी की तरह निकालकर बाहर फेंक देते है। उन्हें उस व्यक्ति के द्वारा पार्टी के लिए दिए गए योगदान का कोई ध्यान ही नहीं रहता। इसी कारण लेखक ने राजनीति के क्षेत्र को मायावी बताया। राजनीति में कब क्या हो जाए, किसी को पता ही नहीं चलता।

लेखक ने आज की राजनीति को केवल वोटों पर आधारित माना है, वे राजनीति वास्तविक रूप से परिचित दिखाई देते हैं। वर्तमान राजनीति में राजनेता भोली-भाली जनता को बहला-फुसला कर अपना वोट बैंक पक्का करते हैं ताकि उनकी सत्ता बनी रहे। यहाँ पर लेखक ने वोट की राजनीति का वर्णन करते हुए कहा है कि - "हाँ अगर पर्दे के पीछे रहकर वोटर खरीदे जा सकते हैं, जे0जे0 कॉलोनियों के वोट एक साथ कौंडकर साहब को दिलवाए जा सकते हैं, तो यही कीजिए। इस कार्य में आपके आदमी न तो पकड़े जाने चाहिए न कहीं कुछ प्रकट होना चाहिए। बताइए इस कार्य के लिए आपको कितनी रकम दरकार होगी।"[6] इन पंक्तियों के माध्यम से लेखक ने राजनेताओं के लिए वोटों के महत्त्व को बताया है। राजनेता चुनाव में जीत हासिल करने के लिए उचित-अनुचित सभी तरह के साधनों का प्रयोग करते हैं। यहाँ लेखक ने बताया है कि राजनेता लोग गरीब लोगों की गरीबी का लाभ उठाकर उन्हें पैसे का लालच दिखाकर उनकी वोटों को खरीद लेते हैं तथा चुनाव में अपनी पकड़ को मजबूत बनाते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने राजनेताओं की पारस्परिक शात्रुता तथा प्रतिद्वन्द्विता को दर्षाया है। वे अपने दल की सरकार बनाने के लिए एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं तथा राजनीतिक वातावरण को दूशित करते है। यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के परिवार के सदस्यों का अपहरण तक करवा देते हैं ताकि वे एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाकर चुनाव में अपनी स्थिति मजबूत बना सकें। वे यह सब पर्दे मे रहकर करवातें ताकि जनता के सामने उनकी छवि धूमिल न हो। इसी का चित्रण लेखक ने इन पंक्तियों के द्वारा किया है - "साँप के मुँह छछुन्दर,

छोड़े कोढ़ निगले तो कलंकी। कौंडकर फँस गया। लड़की को छोड़ दे तो सारे काँड का भण्डा चौराहे पे फूटेगा, उसका लोक-जीवन सदा के लिए समाप्त होगा। मरवा दे तो शाक की सुई सदैव उसी को ओर रहेगी - कोई प्रतिक्रिया भी हो सकती है। खिसियानी स्थिति में मुआमला गैंग के बोस पर ही छोड़ बैठा। बस ध्यान रहे, लड़की कौंडकर के विरूद्ध बयान न दे पाए। यों भी उसे मालूम न होगा कि उसके अपहरण के पीछे किसका हाथ है।"[7]

यहाँ लेखक ने राजनेताओं की विकृत मानसिकता को प्रकट किया है। वे चुनाव में जीत हासिल करने के लिए कोई भी घिनौना कार्य करने से भी नहीं हिचकिचाते। इसके लिए वे गुण्डे, बदमाषों की गैंग रखते हैं ताकि अपने कुकृत्य को अंजाम तक पहुँचा सके तथा उनके राजनीतिक स्वरूप पर भी आँच न आए। लेखक ने वर्तमान राजनीति में अण्डरवर्ल्ड की भूमिका का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में किया है। उन्होंने बताया है कि आज की राजनीति में अण्डरवर्ल्ड की भूमिका भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना वर्तमान नेता लोगों का काम ही नहीं चलता इसी का वर्णन करते हुए लेखक ने बताया है कि - "देखो जी, अण्डरवर्ल्ड न हो तो आपकी राजनीति लंगडी हो जाए। धन की बैसाखी तो चुनावों को वहीं से मिलती है। फिर हम तो सदा से छिपे हैं, बाहर कोई हमें अण्डरवर्ल्ड का व्यक्ति नहीं कहता। पुलिस तक में हमारा कहीं नाम नही। जरा यू0पी0 और बिहार के मंत्रीमण्डलों को तो देखो मन्त्रियों के ऊपर हत्या और डकैती के केस मौजूद हैं। हम तो पाक-साफ हैं और फिर कौंडकर साहब के कादार भी हैं।"[8] यहाँ पर लेखक ने अण्डरवर्ल्ड की पर्दे के पीछे छिपी भूमिका वर्णन किया है। इसी के द्वारा नेता लोग अपने स्वार्थों की सिद्धि करते हैं तथा अपनी सफेद पोषी को बनाए रखते हैं।

उपन्यासकार ने राजनीति में विरोधी दल की भूमिका का भी यथार्थ चित्रण किया है। विरोधी दल चुनाव के समय एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं तथा अपने दल को जनता की नजरों में योग्य सिद्ध करने की भरपूर कोशिश करते हैं। इसी का चित्रण लेखक ने इन पंक्तियों द्वारा किया है - "अब तक अपनी पार्टी के गुण, लक्ष्य और कार्य उन्हें जबानी याद हो गए थे। विरोधी दल के दोश और अयोग्यताएँ भी उन्हें जिह्वाग्र थी। वे फर्राटे के साथ रैलियों में अपना गुणगान करते और विरोधियों की अच्छाइयों का भी अवमूल्यन करते थे, इसीलिए उनकी रैलियां सफल होती थी।"[9] लेखक ने वर्तमान राजनीति में फैले भ्रष्टाचार का भी यथार्थ चित्रण अपने इस उपन्यास में किया है। राजनेता लोग भ्रष्ट प्रवृत्ति के होते हैं तथा अपने स्वार्थ के लिए वे अपने अधीन अधिकारियों को भी इसमें शामिल करते है। वर्तमान राजनेताओं को भ्रष्ट रूप को चित्रण करते हुए लेखक ने कहा है कि - "प्राय: राजनीति की बिसात पर गोंटे जमाने वाला कोई किसी का सगा नहीं होता, ऐसी मान्यता है। मुझे खुशी है कि मैंने आपको पहचाने में भूल नहीं की इसीलिए मैंने सबसे पहले आप ही को पत्र भेजा है। मैं जानता हूँ कि वर्तमान लोक-निर्माण मंत्री न खुद ईमानदार है, न दूसरों की ईमानदारी उसे पचती है।"[10]

लेखक ने हमारी पुलिस व्यवस्था के यथार्थ रूप का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। उनका कहना है कि आज हमारी पुलिस भी बड़े अधिकारियों के हाथों की कठपुतली बनी हुई है। ये बड़े अधिकारी राजनेताओं के चम्मचे होते है। आज की पुलिस जनता की रक्षक की अपेक्षा भक्षक की भूमिका अदा करती दिखाई दे रही है। आम नागरिक को सुरक्षा प्रदान करने की बजाय उसी को शोषण करने पर उतारू है। इसी का चित्रण लेखक ने करते हुए कहा है कि - "मैने पुलिस की ज्यादती के विरूद्ध एफ.आई.आर. रजिस्टर करवानी चाही, तो किसी ने भी पल्लू नहीं पकड़ाया। ए.सी.पी. कार्यालय में भी कोई सुनवाई नहीं हुई मेरी। हमारी दशा समाज से तिरस्कृत व्यक्तियों तथा पिटे कुत्ते के समान हो गई है। हमें अपनापन कहीं नहीं मिला, न ही न्याय और सहानुभूति की किसी ने आषा दिलाई। क्या एक प्रजातंत्र में एक सामान्य नागरिक की यही कीमत है।"[11] यहाँ पर लेखक आम आदमी की दशा का वर्णन किया है, जब पुलिस उसकी रक्षा करने की स्थान पर उसका शोषण करती है। वर्तमान शासन व्यवस्था में पुलिस भी राजनेताओं की हाथों की कठपुतली बनी हुई है। आम आदमी का जीवन दूभर हो गया है।

निष्कर्ष

उपन्यासकार मनमोहन सहगल ने अपने उपन्यास 'समझौते से पहले' में वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था का यथार्थ चित्रण किया है। इसमें लेखक ने राजनीति के प्रतिदिन बदलते स्वरूप, वोट की राजनीति, भ्रष्टाचार, राजनीतिक शड़यन्त्र तथा हमारी पुलिस व्यवस्था का बहुत ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ सूची

1. सुशमा शार्मा, उपन्यास व राजनीति, पृष्ठ 8
2. प्रभात कुमार, भट्टाचार्य, गाँधी दर्शन, पृष्ठ 27
3. डॉ. प्रकाश चन्द्र गुप्त, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ 202
4. डॉ. पुश्पपाल सिँह, समकालीन कहानी, युगबोध का संदर्भ, पृष्ठ 99
5. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 652
6. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 581
7. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 420
8. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 568
9. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 569
10. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 495
11. मनमोहन सहगल रचनावली – 4, समझौते से पहले, पृष्ठ 461

भारत में बाल अपराध की समस्या और सुझाव

माला मेश्राम

स्नातकोत्तर (समाज कार्य) गुरू घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय, बिलासपुर

मनीष चन्द्रा

कार्यकारी संपादक, बहिष्कृत भारत

सारांशिका

विगत कुछ वर्षों से बाल अपराध का विषय लगातार हमारे राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बना हुआ है। यह एक संवेदनशील प्रकृति का विषय है जिस पर गंभीरता के साथ विचार करने की जरूरत है। बच्चों का अपराध में लिप्त होना कहीं न कहीं हमारी सामाजिक मूल्य व्यवस्था के ह्रास व व्यवस्थागत विफलताओं, जिसमें परिवार से लेकर समाज और शासन तक प्रत्येक स्तर की व्यवस्था शामिल है, का सूचक है। वैसे तो बाल अपराध कोई नई घटना नहीं हैं लेकिन हाल फिलहाल के समय में इसकी प्रकृति में आने वाला बदलाव, जो बच्चों की, गंभीर किस्म के अपराध में बढ़ती संलिप्तता, को दिखा रहा है खतरे का संकेत है। इस बदलाव के पीछे के कारण और समग्र रूप से बाल अपराध के कारणों पर विचार करना समय की मांग है। भारत में बाल अपराध को लेकर विगत दो दशकों में कानूनी स्तर पर अनेक प्रयास हुए हैं। इन प्रयासों को और आगे बढ़ाने की जरूरत है। इस आलेख में न सिर्फ बाल अपराध की अवधारणा, बाल अपराध के प्रकार, भारत में बाल अपराध की स्थिति तथा इससे जुड़े कानूनों आदि की चर्चा की गयी है बल्कि इस गंभीर समस्या से निपटने हेतु सुझाव भी प्रस्तुत किये गए हैं।

कुंजी शब्दः बाल अपराध, समाज, शासन, परिवार

बाल अपराधः अवधारणा एवं परिभाषा

बाल अपराध को परिभाषित करना अत्यंत जटिल कार्य है। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं, समाज विज्ञानियों तथा विधि संहिताओं द्वारा बाल अपराध की जो परिभाषा दी गयी है उनमें काफी विरोधाभाष व अंतर पाया जाता है। इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि सभी ने इसे परिभाषित करने के लिए अलग अलग उपागम या आधार का उपयोग किया है। बाल अपराध को तकनीकी दृष्टि से परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "एक अल्पवयस्क या नाबालिग बालक जो 18 वर्ष की आयु से कम है, जो समाज की सुविधाओं का प्रयोग तो करता है किन्तु समाज द्वारा जिस व्यवहार की उससे आशा की जाती है, वह नहीं करता, ऐसे बालक को हम बालापराधी या बाल अपराधी कहते हैं।"[1] विधि शब्दकोश में दी गयी परिभाषा के अनुसार "बाल अपराध एक नाबालिग बच्चे द्वारा प्रदर्शित वह व्यवहार है जो आपराधिक गतिविधियों, निरंतर असामाजिक व्यवहार या अवज्ञा से चिन्हित होता है जिसे उसके माता पिता नियंत्रित करने में असमर्थ होते हैं।"[2] फ्रेडलैण्डर ने बाल अपराध को एक ऐसे बाल दुराचार के रूप में परिभाषित किया है जिसके संबंध में कार्यवाही कानून के अंतर्गत की जा सकती है।[3] वहीं, संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस की द्वितीय रिपोर्ट में इसे कुछ इस तरह से परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि "बाल अपराध का अर्थ ऐसे कार्य के करने से समझा जाना चाहिए जो यदि एक प्रौढ़ द्वारा किया जाए तो अपराध माना जाएगा।"[4] इन सभी परिभाषाओं में बाल अपराध के दायरे और प्रकृति को लेकर अलग अलग बात कि गयी है

लेकिन इन सभी को समग्र रूप से देखे तो बाल अपराध की एक व्यापक परिभाषा तय की जा सकती है जिसके अनुसार बाल अपराध न सिर्फ नाबालिगों द्वारा दंड संहिता के उल्लंघन से जुड़ा व्यवहार है बल्कि ऐसे व्यवहार संरूपों के अनुसरण से भी संबंधित है जो बच्चों और कम आयु के किशोरों के लिए अनुचित माने जाते हैं। यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि 'किशोर या बालक कौन है' इसका निर्धारण अलग अलग देशों ने अलग अलग आयु वर्ग को मानक मान कर किया है। भारत में बाल न्याय कानून के अनुसार किशोर की परिभाषा में 7-18 वर्ष आयु वर्ग के बच्चे आते हैं जिनकी आयु 7 वर्ष से कम और 18 वर्ष की नहीं हो।[5]

बाल अपराध के प्रकार

आचरण या व्यवहार के तरीकों तथा संरूपों के अपने सामाजिक सन्दर्भ या कारण, के आधार पर बाल अपराध को भिन्न भिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है। हारवर्ड बेकर ने अपने अध्ययन में बाल अपराधों के चार प्रकार बताये हैं। यह चार प्रकार निम्नवत हैं[6]-

1. **व्यक्तिगत बाल अपराधः** इस तरह के बाल अपराध में एक ही व्यक्ति बाल अपराध को अंजाम देता है, जिसके लिए उसका व्यक्तित्व उत्तरदायी होता है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तिगत बाल अपराध का विश्लेषण करते हुए यह तर्क दिया है कि ऐसे अपराध मुख्यतः मनोवैज्ञानिक समस्याओं का परिणाम होते हैं जिसके लिए दोषपूर्ण, अनुचित, रोगात्मक, पारिवारिक अन्तःक्रिया के संरूप उत्तरदायी हैं।

2. **समूह द्वारा समर्थित अपराधः** दूसरों की संगति में किये जाने वाले इन अपराधों का कारण व्यक्ति के घर और पड़ोस की संस्कृति में निहित होता है। थ्रेशर एवं शॅ तथा मैके ने इस तरह के अपराधों से जुड़े अपने अध्ययनों के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि बाल अपराध की मुख्य वजह किशोरों का अपराधियों के संपर्क और संगति में आना है।

3. **संगठित बाल अपराधः** इसमें बालक औपचारिक रूप से संगठित गुटों के सदस्य के रूप में अपराध करते हैं। इस तरह के अपराधों में गुट या समूह के मूल्यों व संस्कृति के प्रभाव तथा नियंत्रण में आकर बच्चे अपराध की ओर प्रवृत्त होते हैं।

4. **परिस्थितिवश बाल अपराधः** इस प्रकार के अपराध परिस्थितियों से प्रभावित तथा प्रेरित होते हैं। परिस्थितिवश बाल अपराध की यह मान्यता है कि एक बालक, अपराध के प्रति गहरी प्रतिबद्धता के बिना, मुख्यतः कमजोर मनोवेग नियंत्रण या/तथा कमजोर पारिवारिक नियंत्रण के कारण परिस्थितियों के प्रभाव में आकर अपराध करता है।

भारत में बाल अपराध

भारत में बाल अपराध को लेकर विगत कुछ वर्षों में लोगों की दिलचस्पी और जागरूकता बढ़ी है। अब इस विषय को लेकर समाज से लेकर शासन और मीडिया तक की सक्रियता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। लेकिन भारत में बाल अपराध की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए हमें कुछ गंभीर प्रयास करने की जरूरत है ताकि हम अपने निष्कर्षों की प्रमाणिकता और विश्वसनीयता को लेकर आश्वस्त हो सकें। इसके लिए हमें राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के उन आंकड़ों को देखने, परखने और विश्लेषित करने की जरूरत है जो बाल अपराध को लेकर सबसे व्यापक और प्रामाणिक माने जा सकते हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के 2014 के आँकड़ों के अनुसार भारत में बाल अपराध के कुल 42,566 मामले दर्ज किए गए जिनमें 48,230 बच्चों को पकड़ा गया। पकड़े गए बच्चों में 372 बच्चे 7 से 12 आयु वर्ष के, 11,220 बच्चे 12 से 16 आयु वर्ष वर्ग के तथा 36,138 बच्चे 16-18 आयु वर्ग के थे। इनमें बालक और बालिकाओं की कुल संख्या क्रमशः 46638 तथा 1592 दर्ज की गयी। हालांकि अलग अलग आयु समूह में बाल अपराध के मामलों में अलग अलग अपराधों की प्रधानता दिखती है लेकिन समग्र रूप से देखें तो इस दौरान दर्ज किए गए बाल अपराध के कुल मामलों में सर्वाधिक 20 प्रतिषत मामले चोरी के, 5.4 प्रतिशत बलात्कार के जबकि 2.5 प्रतिशत मामले हत्या के सामने आए। आँकड़ों के अनुसार भारत में बाल अपराध में पकड़े गए बच्चों में से 90 प्रतिशत ने मैट्रिक तक की पढ़ाई भी नहीं की थी। इन 48,230 गिरफ्तार बच्चों में से 38,693 अपने माता पिता के साथ जबकि 7905 अपने अभिभावकों के साथ रहते थे। 1632 बच्चे ऐसे थे जो बिना घर बार के थे। परिवार की आर्थिक स्थिति की बात करें तो बाल अपराध में पकड़े गए बच्चों में से 90 प्रतिशत की वार्षिक पारिवारिक आय 1 लाख रूपय से भी कम थी। इनमें से भी आधे से अधिक यानि 26,809 की वार्षिक

पारिवारिक आय तो महज 25,000 रूपय तक थी। बाल अपराध के मामलों में गिरफ्तार कुल 48,230 बच्चों में सिर्फ 1215 बच्चे उच्च व उच्च मध्य आय वर्ग वाले परिवार से आते थे। आम अवधारणा के विपरित आँकड़ों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि भारत में विगत एक दशकों में बाल अपराध की दर, कुल अपराध का 1 प्रतिशत (2004) से 1.2 प्रतिशत (2014) के बीच ही रही है। इसमें भी अपराध दोहरने वाले बच्चों की संख्या लगातार कम हो रही है और 2011 के 11.5 प्रतिशत की तुलना में 2014 में ऐसे बालकों की संख्या घटकर 5.4 प्रतिशत रह गयी है। भारत में बाल अपराध के मामलों के विश्लेषण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि देश में ऐसे मामलों के पीछे मुख्यत: वंचनाजनित कारक जिम्मेदार हैं और ज्यादातर बच्चें गरीबी, गलत संगति, माता पिता द्वारा पर्याप्त ध्यान न देने, उचित मार्गदर्शन की कमी तथा शिक्षा के अभाव में सही गलत का बोध नहीं होने के कारण अपराध के रास्ते पर चल पड़ते हैं।[7,8]

भारत में बाल अपराध से संबंधित कानून

भारत में बाल अपराध से संबंधित विधानों का इतिहास हम औपनिवेशिक सरकार के दौर में तलाश कर सकते हैं। यह अंग्रेजी सरकार ही थी जिसके समय में सर्वप्रथम बाल अपराध से जुड़े विषयों को लेकर वैधानिक प्रावधन किये गए और बच्चों के अपराध को वयस्कों के अपराध से भिन्न मानकर इससे संबंधित प्रावधन किये गए। सन 1947 में जब हमने स्वतंत्रता अर्जित की तब भी हमने बाल अपराध को लेकर पूर्ववर्ती औपनिवेशिक सरकार के विधानों को ही आधार मानकर आगे प्रयास जारी रखा। भारत में स्वतंत्रता पूर्व और उसके पश्चात बने बाल अपराध से संबंधित कानूनों में कुछेक प्रमुख कानून निम्नवत हैं –

1. शिक्षु अधिनियम, 1850: भारत में प्रथम किशोर विधान के रूप में जाने जाने वाले इस अधिनियम द्वारा दण्डनायकों को बच्चों को नियोक्ताओं के पास प्रशिक्षु के रूप में रखने तथा नियोक्ता एवं प्रशिक्षुओं के मध्य मुजफ्फरपुर को नियंत्रित करने की व्यवस्था की गई। इसमें छोटे मोटे अपराधों में संलिप्त बच्चों से संबंधित प्रावधन भी किये गए थे। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि बच्चों को गलत रास्तों से हटाकर अच्छे जीवन हेतु कोई कौशल सीखने का मौका दिया जाए।[9]

2. भारतीय दंड संहिता, 1860: इसमें बाल अपराध से संबंधित दो मुख्य प्रावधन किये गए जिनके द्वारा सात वर्ष तक के बच्चों को सभी आपराधिक दायित्वों से मुक्ति तथा सात से बारह वर्ष तक के वैसे बच्चों को सभी आपराधिक दायित्वों से मुक्त रखने की व्यवस्था की गयी है जो न्यायाधीश के अनुसार इतने परिपक्व नहीं हैं कि अपने ख्त्यों की प्रकृति तथा परिणामों को समझ सकें।[10]

3. सुधारालय अधिनियम, 1897: इस कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि बाल अपराधियों के मामलों की सुनवाई करने वाली अदालतें ऐसे अपराधियों को तीन से सात वर्षों के लिए जेल की बजाय सुधारालय में भेज सकती हैं बशर्ते सुधारालय जाते समय बाल अपराधी की आयु पंद्रह वर्ष से अधिक न हो क्योंकि किसी भी बाल अपराधी को अठारह वर्ष पूरा करने के बाद इन सुधारालयों में नहीं रखा जा सकता है।[11]

4. अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958: यह अधिनियम 21 वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों, जिन्हें कारावास (किन्तु आजीवन कारावास नहीं) से दंडनीय किसी अपराध में दोशी पाया जाता है, अपराध की प्रकृति तथा चरित्र को ध्यान में रखते हुए न्यायालय द्वारा परिवीक्षा पर मुक्त करने का प्रावधन करता है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य गलती से या किसी खास परिस्थितिवश पहली बार अपराध करने वाले युवा होते व्यक्तियों को सुधार का एक मौका देना है।[12]

5. बाल न्याय अधिनियम, 1986: बाल न्याय के प्रशासन के लिए संयुक्त राष्ट्र मानक न्यूनतम नियमों (बीजिंग नियम, 1985) के प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 1986 ई. में उपेक्षित और अपराधी किशोरों की देखभाल, संरक्षण, उपचार, विकास तथा पुनर्वास हेतु बाल न्याय अधिनियम 1986 को प्रवर्तित किया। इस अधिनियम की एक मुख्य विशेषता इसमें अपराधी बच्चों के विपरीत उपेक्षित बच्चों के लिए, जिनके अपने जीवन के दु:खद और दुर्भाग्यपूर्ण अनुभवों के कारण आगे चलकर अपराध में लिप्त होने की आशंका है, कानूनी तौर पर विशेष सहायता की व्यवस्था की है। साथ ही इसमें यह व्यवस्था भी की गई है कि अपराध करने वाले बालक बालिकाओं (आयु क्रमश: 16 वर्ष तथा 18 वर्ष) को न सिर्फ बाल अधिनियम के अंतर्गत दण्डित करना होगा बल्कि ऐसे बाल अपराधियों को किसी भी परिस्थिति में कारागार में अन्य कैदियों के साथ नहीं रखा जायेगा।[13]

6. किशोर न्याय अधिनियम, 2000: बाल अधिकार पर संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन, बीजिंग नियम, अपनी स्वतंत्रता से वंचित किशोर की सुरक्षा के लिए बने संयुक्त राष्ट्र नियम और दूसरे तमाम राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालियों जो बच्चों को साफ तौर पर 18

वर्ष तक की उम्र का व्यक्ति परिभाषित करते हैं, के सिद्धांतों पर आधारित है। यह कानून भारतीय संविधान और संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार कन्वेंशन के चार बड़े अधिकारों 1. जीवन का अधिकार, 2. सुरक्षा का अधिकार, 3. विकास का अधिकार तथा 4. सहभागिता का अधिकार, को मान्यता प्रदान करता है।[14]

7. बाल न्याय (संशोधन) अधिनियम, 2006: यह संशोधन अधिनियम, कानून के अस्तित्व में आने के एक वर्ष के भीतर राज्य सरकारों द्वारा सभी जिलों में बाल न्याय मंडल तथा बाल कल्याण समितियों की अनिवार्य रूप से स्थापना की व्यवस्था करता है। इस अधिनियम में कानून के साथ संघर्षरत किशोरों को पुलिस अभिरक्षा या लॅक-अप में रखने को प्रतिबंधित कर उन्हें 24 घंटे के अंदर बाल न्याय परिषद के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रावधान किया गया है। इस अधिनयम के द्वारा विधि विरूद्ध बच्चों या किशोरों की निजता को सुरक्षित रखने हेतु उनकी पहचान को गोपनीय रखने की सख्त हिदायत दी गयी है। इसमें मामलों के त्वरित निष्पादन हेतु हर छः माह पर मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी/मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा लंबित मामलों की समीक्षा के साथ साथ बच्चों की देखभाल और संरक्षण से जुड़ी सभी संस्थाओं (चाहें वे राज्य सरकार द्वारा संचालित की जा रही हों या किसी स्वैछिक संगठन द्वारा) के लिए कानून के पास होने के छः माह के अंदर अनिवार्य पंजीकरण की व्यवस्था को भी शामिल किया गया है।[15]

8. किशोर न्याय (बाल देखरेख एवं संरक्षण) अधिनियम, 2015: किशोर न्याय (बाल देखरेख एवं संरक्षण) अधिनियम, 2015 बेहतर ढंग से बच्चों की देखभाल और कानून के साथ विवाद की स्थिति में उनके हितों का संरक्षण सुनिश्चित करने के उद्देश्य से लाया गया विधान है। इसके कुछ मुख्य प्रावधानों में शामिल हैं- अधिनियम में 'किशोर' शब्द से जुड़े कई नकारात्मक संकेतार्थ को खत्म करने के लिए 'किशोर' शब्द से 'बच्चे' शब्द की नामावली में परिवर्तन, अनाथ, परित्यक्त और आत्मसमर्पित बच्चों की नई परिभाषाएँ, बच्चों के छोटे, गंभीर और जघन्य अपराधों में भेद, किशोर न्याय बोर्ड (जेजेबी) व बाल कल्याण समिति (सीडब्ल्यूसी) के अधिकारों, कार्यों और जिम्मेदारियों में स्पष्टीकरण, 16 साल से ऊपर के बच्चों द्वारा किए गए जघन्य अपराध की स्थिति में विशेष प्रावधन, अनाथ, परित्यक्त और आत्मसमर्पित बच्चों को गोद लेने संबंधी नियमों पर अलग नया अध्याय तथा बाल कल्याण व देखभाल संस्थानों के पंजीकरण को अनिवार्य बनाना। इस अधिनियम की धारा 15 के अंतर्गत 16-18 साल की उम्र के बाल अपराधियों द्वारा किए गए जघन्य अपराधों को लेकर विशेष प्रावधन किए गए हैं। किशोर न्याय बोर्ड के पास बच्चों द्वारा किए गए जघन्य अपराधों के मामलों को प्रारंभिक आकलन के बाद उन्हें बाल न्यायालय (कोर्ट ऑफ सेशन) को स्थानांतरित करने का विकल्प होगा।[16]

बाल अपराध की समस्या से निपटने हेतु सुझाव

भारत में बाल श्रम की समस्या लगातार विकराल रूप धारण करती जा रही है। बच्चों के द्वारा किए जाने वाले अपराधों की प्रकृति को देखे तो शायद ही ऐसा जघन्य अपराध होगा जो बालकों ने नहीं किया हो। भौतिकतावादी जीवन शैली, टी.वी., इंटरनेट आदि का प्रभाव तथा पारिवारिक सामाजिक विघटन ने बाल अपराधों की संख्या और जघन्यता को कई गुणा बढ़ा दिया है। इस स्थिति से निपटने हेतु हमे एक साथ कई मोर्चों पर पहल करनी होगी। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नवत हैं -

1. भारत में बाल अपराध के 90 प्रतिशत मामलों में हिरासत में लिए गए बच्चों ने मैट्रिक तक की भी पढ़ाई नहीं की है। इसका मतलब स्पष्ट है कि ये बच्चे किसी न किसी कारण से विद्यालय शिक्षा हासिल नहीं कर सके हैं। अगर हम देश में सिर्फ अनिवार्य सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था भी अमल में लाने में कामयाब हो जाते हैं तो बाल अपराध की दर काफी हद तक कम हो सकती है।
2. भारत में 2011 से लगातार वैसे बाल अपराधियों का प्रतिशत जो अपराध दोहराते हैं, निरंतर कम होता जा रहा है। इसका अर्थ यह है कि बच्चे इरादतन अपराधी नहीं हैं। वे किसी तात्कालिक परिस्थिति या आवश्यकतावष अपराध करते हैं। विशेषकर बाल अपराध के सर्वाधिक 20 प्रतिशत मामले, जो चोरी से संबंधित हैं, वे ज्यादातर उनकी मामूली जरूरतों की पूर्ति भी नहीं हो पाने का नतीजा है। हमें बच्चों की इन छोटी छोटी आवश्यकताओं पर ध्यान देना होगा।
3. ज्यादातर बच्चे बड़ो की संगति में अपराध सीखते हैं। खास तौर पर मलिन और बदनाम बस्तियों में जहां बच्चों के लिए कोई सुविधा नहीं होती और सामाजिक वातावरण दूशित होता है, बच्चे लगातार उस माहौल में रहते हुए गलत आदत व आपराधिक प्रवृत्तियाँ विकसित कर लेते हैं या कर सकते हैं। इन बच्चों को इस माहौल से दूर रखने हेतु सरकार तथा एनजीओ के द्वारा विद्यालय क्रीडांगन, स्वस्थ मनोरंजन सुविधा समेत समय-समय पर काउंसिलिंग की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

4. कार्य स्थल पर बाल श्रमिक न सिर्फ शोषण का शिकार होते हैं बल्कि उनके मालिकों एवं अधिक उम्र के सहकर्मियों द्वारा नषे व अपराध की लत भी लगा दी जाती है। यह बेहद खतरनाक स्थिति है लिहाजा सरकार को बाल श्रम पर प्रभावी नियंत्रण लगाने के साथ साथ ऐसे बच्चों के पुनर्वास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।
5. समय के साथ साथ हमारे विद्यालय शिक्षण केंद्र के स्थान पर व्यवसाय केंद्र बनते जा रहे हैं। हम बच्चों को डिग्रियाँ तो बांट रहे हैं लेकिन वे नैतिक रूप से किस धरातल पर खड़े हैं यह हमारी चिंता और चिंतन का विषय नहीं रह गया है। परिवार में भी बच्चे दादा दादी की नैतिक शिक्षा युक्त कहानियों की जगह ऐसे कार्टून और वीडियो गेम को देखते व खेलते हुए बड़े हो रहे हैं जिनका उनके बाल-मन पर दूशित प्रभाव पड़ता है। यह स्थिति बदलने की जरूरत है। हमें पूर्व की भांति विद्यालयों में नैतिक शिक्षा देने के साथ ही घर पर भी बच्चों के लिए नैतिक शिक्षा युक्त स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था करनी होगी।
6. एक बालक समाजिकता का पहला पाठ माँ के चुंबन और पिता के दुलार के साथ सिखता है, मगर आज की भौतिकतावादी और भाग-दौड़ की दुनिया में माता पिता चाह कर भी अपने बच्चों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते, इससे बच्चों में जो अनुशासन और संवेदना विकसित होनी चाहिए वह नहीं हो पाती। ऊपर से माता पिता द्वारा अपनी ईच्छा के अनुसार बच्चों की पढ़ाई-लिखाई से लेकर कैरियर तक के निर्धारण की जिद उन्हें अनावश्यक दबाव में लाकर विद्रोही बना देती है। इसके लिए माता पिता और बच्चों की काउंसिलिंग करने की जरूरत है ताकि बच्चे न तो बिल्कुल नियंत्रणहीन हो और न ही उन पर इनता कठोर नियंत्रण हो कि उनकी अपनी आजादी और पहल शक्ति ही पूर्णतः समाप्त हो जाए।

निष्कर्ष

कोई भी व्यक्ति जन्म से अपराधी नहीं होता। वह जो कुछ भी अच्छा बुरा, सही गलत सीखता है, समाज में ही सीखता है, जिसके उसके व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। बाल मन कच्ची मिट्टी की तरह होता है जिसे हम किसी भी रूप में ढ़ाल सकते हैं, लिहाजा बच्चों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत होती है। बाल अपराध की घटनाएँ बच्चों से कहीं अधिक उनके माता पिता, परिवार, पड़ोस, समाज, विद्यालय तथा शासन द्वारा अपनी जिम्मेदारियों को पूरा कर पाने में किलता का परिणाम होती हैं। भारत में भी बाल अपराध के मामलों में उपरोक्त कारणों की भूमिका को देखा जा सकता है। हालांकि भारत में बाल अपराध को लेकर विकसित कानून मौजूद है लेकिन सिर्फ कानून के होने भर से बाल अपराध पर प्रभावी अंकुष नहीं लगाया जा सकता। बाल अपराध को रोकने हेतु समाज, राज्य और परिवार सबको समग्र और समन्वित प्रयास करने की जरूरत है। जब तक हम ऐसा नहीं करते बाल अपराध की समस्या से निजात मिलना संभव नहीं है।

References

1. Prasad, Rajendra et al. (2016) Bal Aparadh: Aswasth Shareer ewam Aswasth Samaj ka Bhavishya, In Paswan, Amaranth, Chandra, Manish(Eds.) Bharateey Loktantra ka Samajik aur Rajneetik Pariprekshya, New Delhi, Victorious Publishers, pp.112-113
2. Juvenile Deliquency, Retrieved from https://Legaldictionary.net/juvenile-deliquency/
3. Friedlander, Walter, A. (1957) Introduction to Social Welfare, New York, Prentice Hall,p.44
4. Report of the Second United Nations Congress on the Prevention of Crime and Treatment of Offenders,
5. Kishor kaun hai? Retrieved from http://hi.vikaspedia.in/education/child-rights/92c93e932-93894193091594d93793e-914930-91593f93694b930-92894d92f93e92f-93594d92f93593894d 92593e/91593f93694b930-91594c928-939948
6. Ahuja, Ram (2004) Samajik Samasyayen, Jaipur, Delhi, Rawat Publications, pp.344-346
7. CRIME- Statistical Year Book India 2017, Retrieved from http://www.mospi.gov.in/statistical-year-book-india/2017/206
8. Nair, Shalini, Tiwary, Deeptiman (2015, Dec. 23) Juvenile crime share static: Govt's own data contradicts Maneka Gandhi's claim, The Indian Express, Retrieved from https://indianexpress. com/article/india/india-news-india/juvenile-crime-share-static-govts-own-data-contradicts-minister-manekas-claim/

9. (Dr.) Panda, Prativa (2016) Legislation and juvenile justice system in India- An Analysis, International Journal of Academic Research and Development, Vol. 1, Issue 4, April,p.16
10. ibid
11. Madan, G.R. (2002) Bharateey Samajik Samasyayen, Delhi, Vivek Prakashan,p.95
12. Aparadhi Pariviksha Adhiniyam 1958, Retrieved from http://www.legislative.gov.in/sites/default /files/H195820.pdf
13. Narrain, Arvind & Manoharan, Arlene (2003) The Juvenile Justice Act 1986, The Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act 2000 and The Karnataka Rules under the same, in the light of Relevant International Standards: A Comparative Table, Centre for Child and the Law, National Law School of India University, Banglore, Retrieved from https://www.nls.ac.in /ccl/jjdocuments/juvenilejusticeact1986.pdf
14. Kishor Nyay (Bachchon ki Dekhbhal ewam Suraksha Adhiniyam) 2000, Retrieved from http://hi.vikaspedia.in/education/child-rights/92c93e932-9389419309159 4d93793e-914930-91593f93694b930-92894d92f93e92f-93594d92f93593894d92593e/926947916930947916-90f902935-93890293091594d937923-915947-91c93094293092492e902926-92c91a94d91a94b902-915947-93293f90f/91593f93694b930-92894d92f93e92f-92c91a94d91a94b902-915947-92694791692d93e932-90f935902-93894193091594d93793e-90692793f92893f92f92e-2000
15. (Dr.) Panda, Prativa (2016) Legislation and juvenile justice system in India,op.cit.,p.
16. Kishor Nyay (Bachchon ki Dekhbhal ewam Sanrakshan) Adhiniyam 2015 aaj se lagu, 15 January 2016, PIB Retrieved from http://pib.nic.in/newsite/hindirelease.aspx?relid=44346

वाणिज्य प्रबन्धन और वस्त्र उद्योगः बौद्धसाहित्य के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अजय कुमार सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर (प्रा० इतिहास) ठा० मातिवर सिंह पी०जी० कालेज, जमालापुर, जौनपुर

प्रबन्ध संसार का सूर्य है। जिस प्रकार बिना सूर्य के पृथ्वी पर जीव का रह पाना संभव नहीं है, उसी प्रकार बिना प्रबन्ध के मनुष्य का जीवित रह पाना दुष्कर है। प्रबन्ध को एक सामाजिक प्रक्रिया कहा गया है क्योंकि इसका संबंध मनुष्यों से है। बौद्धधर्म ने अपने कुशल प्रबन्धन से भारतीय संस्कृति की श्री सम्पन्नता में वृद्धि की। भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि विभिन्न अंगों पर बौद्धधर्म ने अपने प्रबन्धन की छाप छोड़ी एवं उनके विकास को बौद्धधर्म ने प्रभावित किया। मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा और मकान को प्राथमिकता के आधार पर उन्होंने अपना चिन्तन प्रदान किया और मानव जीवन की शान्ति के लिए इसकी पूर्ति की आवश्यकता को अनुभव किया। मानव समाज के निर्माण क्रममें भोजन के बाद मनुष्य को दूसरी आवश्यकता वस्त्र की प्रतीत हुई होगी। उस समय उसने वन्य पेड़-पौधें के पत्तों और छाल से और बाद में पशुओं की खाल से अपने अंगों को ढ़का होगा, क्योंकि वन्य जीवन में ये दो ही वस्तुएं सुलभ थीं। वन्य और घुमन्तू जीवन से आगे चलकर लोग धीरे-धीरे घर बना कर रहने लगे। यहीं से उसने खेती करना शुरू किया। शनै शनैः इसी ग्राम्य जीवन से नगर जीवन विकसित हुआ। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सिन्धु सभ्यता भारत में प्रथम नगरीय सभ्यता मानी जाती है। उसके बाद एक लम्बे अन्तराल के पश्चात बुद्ध और महावीर स्वामी (छठवीं और पांचवी शताब्दी इ0पू0) में द्वितीय नगरीय सभ्यता के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। इस युग में नगर और महानगर स्थापित हो चुके थे। बौद्धयुग मेंवस्त्र उद्योग को जितनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और जिस प्रकार यह देश-विदेश में विकसित हुआ यह बौद्धसाहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है। उनके वाणिज्यिक प्रबन्धन का ही प्रतिफल था कि समाजिक विकास के साथ-साथ वस्त्र उद्योग भी विकसित होता गया।स्वभावतः वस्त्र उद्योग भी विकसित हुआ। खाल,छाल और पत्तों से शरीर ढ़कने के स्थान पर, मानव ने कपड़ों का प्रयोग करना शुरू कर दिया, जिसके लिये कच्चा माल आवश्यक था। कपड़ा बनाने के लिये किस कच्चे माल का सर्व प्रथम प्रयोग किया गया, कहना कठिन है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि कपड़ा बुनने के लिये सबसे पहले कपास का प्रयोग हुआ होगा। फिर भी यह गवेष्णा का विषय है। बुद्ध युगीन साहित्य के अनुशीलन से केवल इतना ही पता चलता है कि उस समय वस्त्र उद्योग अति उन्नतिशील दशा में था। यहाँ सुलभ स्रोत सामाग्री के आधार पर बुद्ध युगीन वस्त्र उद्योग का गवेष्णात्मक विवरण प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

टी0डब्ल्यू0 रीज डेविड्स ने लिखा है कि बुद्ध युग में शिल्पकारों ने अपने-अपने धन्धें को अलग-अगल शिल्पी संघों में संगठित कर लिया था। ऐसे संघों (श्रेणियों) की संख्या 18 थी (अष्टादश श्रेणियाँ)[1]। विनय पिटक के अध्ययन से यह पता चलता है कि वस्त्र उद्योग में दो श्रेणियों का विशेष योगदान होता था जिनमें एक कर्पासिक श्रेणी[2] और दूसरी तन्तुवाय श्रेणी थी।[3] प्रथम श्रेणी कपास उगाकर कच्चा माल, रूई तैयार करती थी और दूसरी उससे सूत (तन्तु) तैयार कर वस्त्र बनाती थी।

वस्त्र की श्रेणियों का प्रबन्धन

बौद्धवाणिज्य प्रबन्धन के माध्यम से वस्त्रों की कई श्रेणियाँ प्रकाश में आयीं। वस्त्रें को श्रेणियों में विभाजित कर उसकी खपत को बढ़ाया गया। वस्त्र उद्योग एक बड़ा उद्योग था। इसकी पूर्णता के लिये कच्चे माल से लेकर रूई साफ करने, सूत कातने,कपड़ा बुनने और कपड़ों को विविध रंगों से रंगने के लिये अगल-अगल श्रेणियाँ बन चुकी थीं। इससे इस उद्योग की महत्ता ही सिद्ध होती है कि विभिन्न प्रकार के सूती, रेशम,ऊनी आदि कपड़े बनाने की अगल-अगल श्रेणियाँ स्थापित थीं। सूती कपड़ों की श्रेणी को

सामान्य रूप से कार्पासिक श्रेणी[4] कहते थे। इसी प्रकार कौशिवि[5] श्रेणी,रेशमी कपड़े और ऊर्णावायक[6] श्रेणी, ऊनी कपड़े तैयार करती थीं।

विभिन्न रंगों से रंगकर कपड़े तैयार करने का कार्य रंकार श्रेणी[7] करती थी। रंगे कपड़ों में नीले कपड़े(नीलकानि), पीले (पीतकानि),लाल (लोहितकानि),मंजीठिया (मजितकानि),काले कपड़े (कण्हानि) तैयार किये जाते थे।[8] उल्लेखनीय है कि बौद्धभिक्षुओं के वस्त्र काशाय रंग के होते थे। रंकार को रजक[9] भी कहा गया है। यद्यपि रजक श्रेणी का प्रमुख कार्य कपड़े धेना था तथापि वह कपड़े रंगने का भी कार्य करती थी।[10] कपड़े रंगने की एक स्वतंत्र श्रेणी रंकार (रंगरेज)[11]का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

महावग्ग में कपड़े रंगने की पूरी प्रक्रिय वर्णित है और वह तथागत गौतम बुद्ध द्वारा निर्देशित भी है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि पहले गौतम बुद्ध भिक्षु गोबर (छकणेन) तथा पीली मिट्टी (पण्डुमत्तिकाय) से चीवर रंग लेते थे जो देखने में भद्दा, गन्दा तथा कुरूप लगता था। यह जानकर शाक्यमुनि बुद्ध ने जड़ से निकले रंग से, स्कन्ध से निकले रंग से, छाल से निकले रंग से, पत्ते से निकले रंग से, पुष्प से निकले रंग से और फल से निकले रंग से चीवर रंगने की अनुज्ञा प्रदान[12] की। रंग कच्चे होने के कारण जल्दी छूट जाते थे। जब यह बात तथागत से बतलाई गई तो उन्होंने रंग पकाकर चीवर रंगने की विधि बतलाई और उसका सामान भी विहार में रखने की आज्ञा दी। रंग पकाने के लिये, विहार में एक विशेष बर्तन उत्तरालुम्प[13] होता था। रंगने के पहले कपड़े को भिगोया जाता था और गर्म पानी में गर्माया जाता था। जिसके लिए चूल्हा (चुल्ल) तथा हंडिया (रजनकुम्भि)[14] होती थी। कुम्भि (हंडिया) मिट्टी की होती थी। अतः कभी फूट जाती थी। अस्तु रंग के लिये बड़ी नाद (रजेतुलुंक) कूँडा-थाली की तरह का बर्तन (थालक) तथा गर्म पानी में कपड़े को चलाते रहने अर्थात् उलटते-पलटते रहने के लिए डंडा (दण्डक)[15] की व्यवस्था की गई। कपड़े पर रंग कहीं कम कहीं ज्यादा न लगे, इसके लिए कपड़ों को रंग में डालकर (पाणिना आकोटेतु)[16] उलटते-पलटते रहते थे (उदके ओसारेतु)[17] रंगने के बाद कपड़े को जमीन पर फैलाकर सुखाया जाता था जिससे कपड़ों में मिट्टी लग जाती थी और वे गन्दे हो जाते थे। अस्तु उससे बचने के लिए गीले कपड़े सुखाने के लिये बाँस और रस्सी की व्यवस्था की गई, जिन्हे 'चीवर रज्जु'[18] कहा जाता था।

कपड़े रंगने के लिये रंग पेड़ों के फल-फूल, पत्ते-छाल आदि को पानी में उबाल कर तैयार किये जाते थे।[19] रंग को पक्का करने के लिए उसमें हर्रा मिलाया जाता था। रंग पक्का हो गया है या नहीं इसका परीक्षण पानी में (उदके) या नाखून (नखपट्टिकाय)[20] पर एक बूँद डालकर किया जाता था। कपड़े रंगने के लिये रंगरेजों (रजक) की रजक शाला भी होती थी। स्पष्टतः महावग्ग से उक्त 'चीवर रजन कथा' से तत्कालीन वस्त्र रंगने की पूरी प्रक्रिया सामने आ जाती है।

कपड़ा बनाने के लिए कच्चा माल का प्रबन्धन

बुद्ध युग में समाज पूर्ण रूपेण विकसित हो चुका था और लोग नागर जीवन व्यतीत करते थे। बौद्ध-साहित्य में उस प्रबन्धन का उल्लेख मिलता है जिससे कच्चे माल की आपूर्ति होती रही। क्योंकि किसी भी उद्योग का विकास उसमें लगने वाले कच्चे माल की आपूर्ति पर ही निर्भर था, जो कुशल प्रबन्धन के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। स्वभावतः वस्त्र उद्योग भी विकसित हुआ जैसा कि विविध सामग्री से निर्मित कपड़ों के नामोल्लेख से ज्ञात होता है। वस्त्र उद्योग के लिये सर्वाधिक कच्चा माल कपास (कप्पास) थी।इसकी खेती करने वाले को कार्पासिक (कप्पासिक) कहा जाता था।उस समय कपास का उत्पादन इतना अधिक होता था कि यह कहावत ही बन गई थी कि देवता कपास की वर्षा करते हैं (कर्पासमेव देवो वर्शतु)[21] ऊन (उश्ण)[22], रेशम (कोसेफ्य)[23] के अलावा सन (साण)[24] और असली (खोमं) के पौधे की छाल से भी कपड़ा बनाया जाता था।[25] विनय पिटक के चुल्लवग्न में ताड़ के पत्तों (चिमिलक)[26] से भी कपड़ा बनाने का उल्लेख मिलता है। वस्त्र इतनी उन्नत दशा में था कि लोग कपड़ा बनाने के लिये कुश (एक प्रकार की घास), फलों के रेशों, बाल (केस), उल्लू पंक्षी के पंखे (उलूक पक्खं), मृगचर्म के कतरन् (अजिनक्खिपं), अकौड़ा (अक्क), टाट (पोत्थक) का भी प्रयोग करते थे।[27]

कपड़ा बनाने की सामाग्री और विधि का प्रबन्धन

बौद्धसाहित्य में हमें कपड़ा बनाने की सामग्री और उसकी विधि से जुड़े प्रबन्धन का पूर्ण परिचय मिलता है। कपड़ा बनाने की श्रेणी, तत्तुवाय श्रेणी[28] थी। कपास की खेती होती थी। कपास का क्रय-विक्रय गलियों में भी होता था (वीथी गत्वा कर्पासः क्रीतः)[29]। कपास को सबसे पहले साफ किया जाता था (परिकर्मयित्वा)[30] साफ कपास को सुलझाया जाता था। उसे साफ और सुलझी हुई

रूई (लक्ष्णं) से सूत काता जाता था (सूत्र कर्तितम)[31] सूत से (सूत्रण)[32] कपड़ा बुना जाता था।उस समय वस्त्र उद्योग इतनी उन्नत अवस्था में था कि मानों देवता (बादल) वस्त्रों की ही वर्षा करते हों (वस्त्रण्येव देवो वर्शतु)[33] साधारण बनुकर को कुविन्द (आधुनिक कोरी)[34] कहते थे। सूत से कपड़ा कर्घा (तन्त) द्वारा बुना जाता था (वस्त्रं वायितु)। जिसके लिये वैं (वेमक), झापं (वट्ट या कवाटं), तकुवा (सलाका) तथा कर्घे के अन्य समान (तन्तं भण्डक)[35] की आवश्यकता होती थी।

बुद्ध युगीन निर्मित कपड़ों के प्रकारों पर महावग्ग और चुल्लवग्ग पालि ग्रन्थों से विशेष प्रकाश पड़ता है। कपास के बने हुए कपड़े को कप्पासिक[36] कहा जाता था। रेशमी कपड़े कोसेफ्यं, ऊन, से बने उण्णिं, सन से बनाये गये कपड़े साण, भाग के पौधें की छाल से निर्मित कपड़े भंग, अलसी के पौधें की छाल से निर्मित कपड़े खोम[37] कहलाते थे। चिमिलक[38] कपड़ा ताड़ से तैयार किया जाता था।[39] इसी प्रकार कुशचार[40], कुश नामक घास से तथा फलक चीर[41] फलों के रेशों से बनाया जाता था। पेड़ो की छाल से निर्मित कपड़ों को बक्कल चीर[42] (वाक् चीर) कहते थे। इस प्रकार उल्लू पंक्षी के पंखों (उलूक पक्ष्खं) का अकौड़ा या मदार (अक्क नाल) का तथा टाट (पोत्थक) का भी कपड़ा बनाया जाता था।[43] ऊन के अलावा अन्य बालों से बने कपड़े को कदाचित केश कम्बल[44] कहते थे। उस समय उल्लू जैसे पंक्षी के पंखों से भी वस्त्र बनाने का उल्लेख आश्चर्य चकित ही कर देता था।[45]

टिप्पणी: संभव है ऐसे वस्त्रों पर उल्लू के पंख टांक कर उन्हें तैयार किया जाता हो। उपर्युक्त कपड़ों में से कुशचीर, बल्कल चीर, फलक चीर, केश कम्बल, उल्लू के पंखों के बने कपड़े, मृग चर्म, मदार और टाट के बने कपड़े पहनने के लिये गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं को निषिद्ध बतलाया था।[46]

वस्त्र उद्योग के प्रमुख केंद्रों के विकास में प्रबन्धन: बौद्धों ने उद्योग के प्रमुख केंद्रों के विकास में अपने प्रबन्धन का प्रयोग कर उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त करायी। इसका उल्लेख बौद्धसाहित्य में हम पाते हैं। सूती, ऊनी, रेशमी आदि वस्त्रों के निर्माण के लिये कुछ विशिष्ट और प्रसिद्ध केंद्र थे। जैसे रेशमी वस्त्रों के लिये काशी नगर या जनपद प्रसिद्ध था और आज भी उसके लिए प्रसिद्ध है। यहाँ के निर्मित रेशमी वस्त्रों को काशिकानि वस्त्रणि[47] तथा काशिकांशु[48] कहा जाता था। यहाँ के रेशमी वस्त्रें-विशेषकर साड़ियों की दोनों किनारियाँ विशिष्ट कला कृतियों से सजाई जाती थी (दूकूलमय शोभन वस्त्रणि)[49]। सारनाथ के धमेक स्पूत के विविध चित्रांकित प्रस्तर खण्डों के मनमोहक चित्रांकन को देखकर यही प्रतीत होता है कि धमेक स्तूप के चित्रांकन में बनारस (काशी) के रेशमी वस्त्रों की विविध कला को ही इस स्तूप की कला में उतार दिया गया है।

चम्पा (वर्तमान भागलपुर) के एक बुनकर (कुविन्द) यमली नामक कपड़े के एक जोड़े थान को छाते की डंडी में रखकर (यमली छत्रदण्डे प्रक्षिप्य)[50] वह राजगृह गया था। मगध देश वस्त्रों के लिये इतना प्रसिद्ध था कि यहाँ का शासक बिम्बिसार (गौतम बुद्ध का समकालीन और अनुयायी) को 'वस्त्रधिपति'[51] भी कहा गया है। इसी प्रकार सौवीर देश दुशालों के लिये प्रसिद्ध था। यहाँ के बने दुशाले सौवीरी दुशाले (सोवेफ्यक दुस्स) कहलाते थे।[52] चोल देश के बने कपड़े चोलक कहलाते थे।[53]

इस प्रकार पालि बौद्धसाहित्य से ज्ञात होता है कि भारत में छठवी तथा पांचवी शताब्दी ई. पूर्व में बुद्ध और महावीर स्वामी के समय वस्त्र उद्योग अतीव उन्नत अवस्था में था। इस उद्योग में कार्पासिक, तन्तुवाय तथा रंकार श्रेणियाँ लगी हुई थीं जो सूती, ऊनी रेशमी तथा सन, अलसी आदि के कपड़े तैयार करती थी जिनका प्रयोग समाज में नर-नारी, साधू सन्त, श्रमण, भिक्षु-सन्यासी सभी करते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धसाहित्य में वाणिज्यिक प्रबन्धकीय कुशलता का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

सन्दर्भ: ग्रन्थ सूची

1. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ 60, लन्दन 1926.
2. महावग्ग पालि, पृष्ठ 55/23, भिक्खु जगदीस कस्सप, सिरिनव नालन्दा महाविहार संस्करण, 1956.
3. चुल्लवग्ग पालि, पृष्ठ 225, भिक्खु जगदीस कस्सप, सिरिनव नालन्दा महाविहार संस्करण, 1956.
4. महावस्तु, वा. 3, पृष्ठ 55/23.
5. महावस्तु, वा. 3, पृष्ठ 113, सेनार्ट द्वारा सम्पादित
6. वही, वा0 3, पृष्ठ 113.
7. शास्त्री, वहावग्ग, पृष्ठ 439 सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1988 ई.
8. वही, पृष्ठ 413
9. महावस्तु, वा-3/113.

10. सरमोनियर विलियन्स, संस्कृत इग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ 3.
11. शास्त्री, महावग्ग, पृष्ठ 463.
12. वही, पृष्ठ 263: अनुजानामि भिक्खवे, छरजनानि-मूल रजनं, स्कन्धं रंजनं, तचं रजनं, पत्त रजनं, पुरुष रजनं फल रजनं
13. शास्त्री, महावग्ग, पृष्ठ 463
14. वही, पृष्ठ 463.
15. वही, पृष्ठ 464.
16. वही, पृष्ठ 464.
17. वही, पृष्ठ 464.
18. वही, पृष्ठ 464.
19. शास्त्री, महावग्ग, पृष्ठ 463.
20. महावस्तु, वा-2 पृष्ठ 464.
21. महावग्ग पालि, पृष्ठ 55.
22. दिव्या, पृष्ठ 32.
23. महावग्ग पालि, पृष्ठ 55.
24. वही, पृष्ठ 55.
25. वही, पृष्ठ 55.
26. चुल्लग्ग, पृष्ठ 243.
27. शास्त्री, महावग्ग, पृष्ठ 492.
28. विनय पिटक, पृष्ठ 454, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ 1935 ई.
29. दिव्या, 170/32, सम्पादक पी.एल.वैद्य, मिथिला, विद्यापीठ, दरभंगा, 1959 ई.
30. वही, पृष्ठ 370/32.
31. वही पृष्ठ 132.5, पृष्ठ 170-71.
32. वही, पृष्ठ 132/3-6.
33. वही, पृष्ठ 132/8-9.
34. वही, पृष्ठ 52/30.
35. चुल्लवग्ग पालि, पृष्ठ 225.
36. महावग्ग, पालि, पृष्ठ 55.
37. वही, पृष्ठ 55.
38. चुल्ल, पृष्ठ 243/16.
39. विनय पिटक, पृष्ठ 454.
40. शास्त्री, महावग्ग पृष्ठ 492.
41. वही, पृष्ठ 492.
42. विनय पिटक, पृष्ठ 293.
43. शास्त्री, महावग्गा, पृष्ठ 492.
44. वही, पृष्ठ 492
45. वही, पृष्ठ 492
46. विनयपिटक, पृष्ठ 293-94
47. महावस्तु, वा02 पु0 528, दिव्या पृष्ठ 250/9
48. दिव्या, पृष्ठ 196/13.
49. वही, पृष्ठ 194/14.
50. वही, पृष्ठ 271/5.
51. वही, पृष्ठ 194/24.
52. वहावग्गा पालि, पृष्ठ 295/20.
53. विनय पिटक, पृष्ठ 454.

स्वातंत्र्यवीर वि.दा. सावरकर का अन्दमान से किया क्रांतिकारी संगठन एवं हिंदी भाषा प्रचार एवं आदि कार्य

प्रा० एस.एस. माने

हिंदी विभाग, बळीराम पाटील महाविद्यालय, किनवट

प्रस्थावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अपना सम्पूर्ण जीवन मातृभूमि के लिए अर्पित करनेवाले स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर क्रांतिसेना के मुकुटमणि, अलौकिक व्यक्तिमत्त्व, प्रखर देशभक्त, सशक्त क्रांतिकारी एवं क्रांतिकारियोंके प्रेरणास्थान, प्रखर बुद्धिवादी, भाषा शुद्धि का आग्रह करनेवाले एवं देवनागरी लिपि को सुधारने का प्रयत्न करनेवाले, उत्कृष्ट वक्ता, लेखक, महाकवि, बहुभाषाविध ज्ञाता ऐसे अनेक पहलुओं से उनका व्यक्तित्व अष्टपैलु रहा है। उनका व्यक्तित्व नवयुवकों के जीवन में बीजांकुर निर्माण करनेवाला है। आज के ज्ञान, विज्ञान एवं तंत्रज्ञान के युग में बीजांकुर पल्लवित होने के लिए यह छोटासा लेखन प्रयास है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में जहालवाद (गरमवाद) के सेनानियों में सावरकर जी का विशेष योगदान रहा है। स्वातंत्र्य संग्राम में सम्पूर्ण परिवार के साथ देशसेवा के लिए समर्पण किया है। हिंदु राष्ट्र की राजनीतिक विचारधारा को विकसित करने का श्रेय वि. दा. सावरकर जी को जाता है।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने राष्ट्र का विजयी इतिहास प्रामाणिक ढंग से '1857 का प्रथम स्वतंत्र समर' ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया है। इस ग्रन्थ के माध्यम से ब्रिाटिश सरकार को झंझोर दिया है। सावरकरजी वकील राजनीतिक, कवि, लेखक और नाटककार थे। उन्होंने युगीन परिवर्तित हिंदु धर्म को अपने धर्म में वापस लौटाया। सावरकर जी के व्यक्तित्व में सकारात्मक, मानवतावाद, सार्वभौमिकता, व्यावहारिकता एवं यथार्थता के तत्त्व स्फुट मात्रा में दिखाई देते है। स्वातंत्र्यवीर सावरकर नास्तिक, विज्ञानानिष्ट और तर्कसंगत व्यक्ति थे जिन्होंने सभी धर्मों की रूढिवादिता, अंधश्रृद्धा, अनिष्ट प्रथा परम्पराओं का समूल उच्चाटन किया है।

विनायक दामोदर सावरकर का जन्म 28 मई 1883 को ग्राम भगुर जिला नाशिक में हुआ। स्नातक (बी.ए.) की उपाधि फर्ग्युसन कॉलेज पुणे से और विधि (कायदे) की शिक्षा लंडन से ली है। उनके राष्ट्रीय कार्य में संपूर्णत: पत्नि यमुनाबाई ने उनका साथ निभाया।

वि.दा. सावरकर बचपन से ही क्रांतिकारी थे। 1904 में 'अभिनव भारत' नामक छात्रों की संघटना स्थापन की। इसी दौर में बंगाल का विभाजन हुआ और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार कर होली जलाई गई। इस सुअवसर पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कहा कि -"आज हमने कपड़े जलाएँ कल हम क्या जलाएँगे आप जानोगे।"

लोकमान्य तिलक के संपर्क में आने से उन्होंने बताया कि, विलायत जाकर शस्त्र बनाओ जिससे ब्रिाटिश सरकार डरेगी। इसलिए वीर सावरकर ने आयु के तेईस की उम्र में इंग्लैंड जाने का निर्णय लिया। तिलक ने सावरकर को 1906 में 'श्यामजी कृष्ण वर्मा-' छात्रावृत्ति दिलवायी। वह रूसी क्रांति से प्रभावित होने के कारण लंदन जाने के बाद 'प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' की सुवर्ण जयंती मनाई। इनकी किताब '1857 का स्वातंत्र्य समर' प्रकाशित करने में बड़ी कठिनाई आयी और अंतत: होलंड में गुप्त रूप में प्रकाशित हुई। सन 1909 में सावरकर ने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की, जबकि वकालत करने की अनुमति उन्हें नहीं मिली।

लंदन में लाला हरदयाला से मुलाखत हुई जो कि 'इंडिया हाऊस' की देखरेख करते थे। जुलाई 1909 को मदनलाल ढिंगरा द्वारा कर्जन वायली पर गोली चलाई इस विषय पर सावरकर ने 'लंदन टाईम्स' में एक सनसनाहटी लेख भी लिखा। इस समय उन्हें अपनी मातृभूमि की याद आ रही थी। तब उनके साथी पॉल भी उनके साथ थे, और दोनों समुंदर के किनारे बैठे थे। उस समय सावरकर जी के आँखों मे आँसू आ गए, जिन्हें पास बैठे पॉल ने भी देखा। उसी समय उनमें छिपा कवि जागृत हो गया और उन्होंने वही बैठे-बैठै मराठी में कविता लिख डाली जो कुछ इस प्रकार है -

"ने मजसि ने परत मातृभूमिला सागरा प्राण तळमळला ।। धृ.।।
भूमातेच्या चरणातला तूच धुता मी नित्य पाहिला होता
मज बदलासी अन्य देशि जाऊ सृष्टीची विविधता पाह"

स्वातंत्र्यवीर सावरकर को 13 मई 1910 को गिरफ्तार कर लिया गया। 08 जुलाई को 'मोरिया' नामक जहाज से भारत ले आते समय 'सीवर होल' के रास्ते से समंदर से भाग निकले। इस घटना के बाद उन्हें 24 सितंबर 1910 को अजीवन कारावास की सजा सुनाई गयी। दुबारा 31 जनवरी 1911 को उन्हें दूसरी बार अजीवन कारावास की सजा सुनाई गई। विश्व के इतिहास में पहली एवं ऐसी दो-दो बार कारावास की अनोखी सजा किसीको सुनाई गई थी। इस सजा को स्वीकार करते हुए सावरकर ने मातृभूमि को स्वयं को समर्पित करते हुए लिखा -

"मातृभूमि तेरे चरणों में पहले ही मैं अपना मन अर्पित कर चुका हूँ
देश-सेवा ही ईश्वर सेवा है मानकर
मैंने तेरी सेवा के माध्यम से भगवान की सेवा की।"

लंदन से भारत लाने के पश्चात उन्हें अंदमान में सेल्यूलर जेम में रखा गया। वहाँ भी उन्होंने अपनी मातृभूमि की सेवा की। वहाँ से नाशिक जेल भेजा गया, वहाँ जेकसन की हत्या का षडयंत्र रचाकर सावरकर को श्काला पानीश की सजा पर फिरसे अंदमान के सेल्यूलर जेल भेजा गया। उस युगीन परिस्थितीयों में देश के प्रति मर-मिटनेवाली स्वतंत्र सेनानियों को बड़ा कठिन परिश्रम करना पडता था और नरकमय यातना भी भुगतनी पड़ती थी। कैदियों को नारियल छीलकर उसमें से तेल निकालकर साथ ही काल्हू की बैल की तरह जोतना और नारियल और सरसो का तेल निकालना आदि कार्य करना पड़ता था।

सावरकर एक प्रख्यात समाज सुधारक थे। उनका दृढ विश्वास था कि, सामाजिक एवं सार्वजनिक सुधार दोनों बराबरी का महत्त्व रखते है। वह एक दूसरे के पूरक हैं। उनके समय में समाज बहुत ही कुरीतियों और बेड़ियों के बंधन में जकड़ा हुआ था। इसी कारण हिंदु समाज की स्थिति बहुत ही दुर्बल थी। अपने कार्य, भाषणों, लेख आदि से इन्होंने समाज सुधार के लिए निरंतर प्रयास किया। हालांकि यह भी सत्य है कि सावरकर ने सामाजिक कार्यों में तब ध्यान लगाया, जब उन्हें राजनीतिक कलापों से निषेध हो रहा था। किंतु उनका समाज सुधार का कार्य आजीवन चलता रहा।

अन्दमान के जेल में स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने कैदियों को शिक्षा देने का, उनमें सामाजिक एवं राष्ट्रीय भक्तिभावना बढ़ाना अत: प्रान्त भेद मिटाकर हम-सब भगवान की संतान हैं। इसलिए भाषिक, सामाजिक एकता का निर्माण करने का कार्य उन्होंने किया है। उनका अपने मातृभाषा मराठी के प्रति सार्थ अभिमान था लेकिन उन्होंने अपने राष्ट्र का गान, राष्ट्रचिन्ह, राष्ट्रध्वज के साथ राष्ट्रभाषा को विशेष महत्त्व दिया। सेक्यूलर जेल में सम्पूर्ण भारत में से कैदी आते थे इसलिए उन्होंने खुद हिंदी सीखी और दूसरों को सिखाया। यह कार्य करते समय सावरकर जी को नरक यातना सहनी पड़ी थी, तब सावरकर मराठी कविता में लिखते हैं -

"हे मातृभूमि तुझसाठी हे जनन।
तुजविण जनन हे मरण।"

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में सावरकर ने बताया की मातृभूमि के लिए 'जनन ते मरण' इस तरह सावरकर के हाथ में किताब दिखाई देता तो बारी साहब डाँट देते थे। अंत: प्रतिकूल परिस्थिती में स्कूल, कॉलेज एवं जेल में कविताओं का सृजन किया। सावरकर जी ने छत्रपति शिवाजी महाराज के चरित्र पर पहली बार आरती लिखी। इस कविता में स्वर, ताल एवं लय को मिलाया। जबकि उनकी कविता महाविद्यालय जीवन में लिखी गई थी -

"जय देव जय देव जय शिवराया।
या या अनन्य शरणा आर्या ताराया।"

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में (आरती) राष्ट्रभूमि की रक्षा के लिए छत्रपति शिवराय की आराधना की है और कहा है कि, इस धरतीपर मेलच्छों का संहार करने के लिए धीर पुरूष छत्रपति शिवराय ही है। अत: इसीलिए छत्रपति शिवराय का आगमन हुआ है। अन्दमान में कोल्हू चलाते-चलाते यातना सहते हुए सावरकर जी के कवि ह्रदय की लौ बुझी नहीं है। रविंद्रनाथ ठाकूर (टागोर) को विश्वकवि की उपाधि से सम्मानित किया तब उनका सहर्ष अभिनंदन किया।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी ने अन्दमान में सक्त मजदूरी करते समय 500 कैदियों को साक्षरता की शिक्षा दी जाती थी। कैदियों को घर से मिठाइयों के जगह किताबे मंगवाने का आग्रह किया जाता था। दीवारों पर कविता किल और कोयले से लिखी जाती थी। करीबन 1000 कविताएँ लिखी और याद कर ली गई और वह अन्दमान से बाहर अने के बाद प्रकाशित की गई। रेतीपर देवनागरी लिपि के अक्षर पढ़ाए जाते थे। दीवारों पर लिखी कविता को बारी साहब ने कलर लगाकर मिटाया तो सावरकर जी ने जेल प्रशासन (बारी साहब) को धन्यवाद दिया। जेलर ने पूछा क्यों? हमें तो लगा आप गुस्सा करोंगे। तब सावरकर ने बताया कि, "यह सारी कविताएँ मैंने याद कर ली है, अब मुझे चिंता थी कि, अब मेरी नई कविताएँ मैं कहाँ लिखूँगा, अब मेरी यह चिंता भी आपने दूर कर दी है।" कैदियों के किताब से सावरकर ने ग्रंथालय भी खोला है।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने कविताओं में वीररस, करूणरस, शांतरस, रौद्ररस, वीभत्सरस की पंक्तियाँ भी लिखी है। श्रृंगार एवं प्राकृतिक वर्णन पर भी कई कविताओं का सृजन किया है। अन्दमान की काल कोठरी में उन्होंने कविता से उद्घोषणा की है -

"अनादि मी अनंत मी, मारिल रिषु।
जगती असा कवण जन्मला।"

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में सावरकर कहते हैं, वे अनादि हैं, अनंत हैं, विश्व में कौनसा ऐसा शत्रु है जो उन्हें मार सके? अन्दमान की काल कोठरी में जब कोल्हू में बैल की तरह जोतकर तेल पिसते थे तो आदमी थक जाता था अत: श्याम को बजनेवाली जेल की घंटी की ध्वनि सुनकर उनका कवि ह्रदय गा उठता था। जेल की घंटी को संबोधित करते हुए एक कविता उन्होंने लिखी है -

"ए संध्या की घंटी!
तेरा स्वागत मैं किस प्रकार करूँ!
तरी ध्वनि निश्चय ही स्वतंत्रता को पास लाएगी।
तेरी आवाज में मुझे तो आझादी के नारों में
स्वतंत्रता का एक मधुर निनाद प्रतीत होता है।"

2 मे 1921 को स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी को 'काला पानी' से महाराष्ट्र के लिए 'महाराजा' बोट से रवाना कर दिया गया। सावरकर जी को महाराष्ट्र में रत्नागिरी शहर में 'नजर कैद' किया गया। रत्नागिरी में सावरकर ने हिंदु राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत साहित्य की रचना की। अपने छोटे भाई नारायण सावरकर को प्रेरणा देकर 'श्रद्धानंद' एवं 'हुतात्मा' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित कराए। 'छद्म' नाम से लेख एवं कविता की रचनाएँ पत्रों में प्रकाशित की गई। उनकी तेजस्वी रचनाओं से युवकों ने देशभक्ति की सारी प्रेरणा प्राप्त की।

'हिंदुत्व', 'हिंदु पदपाद्शाही', 'उ:शाप', 'उत्तर क्रिया', 'सन्यस्त खड्ग' आदि प्रमुख ग्रन्थ उन्होंने रत्नागिरी में ही लिखे। उन्होंने रत्नागिरी में रहकर अनेक पुस्तकों एवं सैंकड़ों लेखों की रचना की और आगे उन्होंने हिंदी भाषा का बिगुल बजाया। रत्नागिरी के प्रदेश में इस्लामी शासन होने से वहाँ (राज्यकारभार) शासन एवं प्रशासन की भाषा हिंदी एवं उर्दू थी। वहाँ की शिक्षासंस्थानों में मराठी भाषिक लोगों को अपने बच्चों को उर्दू या फारसी में शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। अत: सावरकर का आग्रह था कि, तालीम हिंदी में दे। अत: सावरकर जी कि इस माँग को ब्रिटिश सरकारने पुरा किया। लड़कियों के लिए नए स्कूल खोले गए और उनमें हिंदी भाषा को स्थान दिया गया। उन्होंने सबसे पहले भाषा शुद्धि आन्दोलन प्रारंभ किया। आन्दोलन के प्रचार के लिए उन्होंने 'भाषा शुद्धि' नामक विस्तृत लेख लिखा इस संदर्भ में वे कहते हैं कि, - "अपनी हिंदी भाषा को विशुद्ध बनाने के लिए हमें सबसे पहले हिंदी भाषा में घुसाए गए अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों को निकाल बाहर करना चाहिए। संस्कृतनिष्ट हिंदी ही हमारी राष्ट्रभाषा है। हिंदी में अंग्रेजी और उर्दू शब्दों का मिश्रण से वर्ण संस्कारी भाषा (हिग्लिश) बन गई है।

उन्होंने देवनागरी लिपि को ही भारत की एकता का आधार बताते हुए लिखा, 'भारत के सब भाषा-भाषी लोग यदि नागरी लिपि में अपनी भाषा को लिखना आरंभ कर दे तो भारत की भाषाओं की समस्या सुविधापूर्वक हल हो सकती है।' जबकि हिंदी भाषा के प्रति दो मतप्रवाह थे, एक उर्दूनिष्ट शैली दूसरी संस्कृतनिष्ट शैली। सावरकर जी ने संस्कृतनिष्ट शैली को अपनाया। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन एक लेख में लिखते हैं कि, "मुझे संस्कृतनिष्ट हिंदी के आन्दोलन की प्रेरणा वीर सावरकर जी से प्राप्त हुई थी।" अत: सावरकर जी ने विशुद्ध हिंदी को अपनाने का आन्दोलन प्रारंभ किया। सावरकर जी की प्रेरणा से ही अनेक क्रांतिकारी साथी श्री गणेश रघुनाथ विश पाणन ने पुणे में 'हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना की। म. गांधी जी ने हिंदी उर्दू मिश्रित 'हिंदुस्थानी' भाषा को अपनाया। सावरकर जी ने गांधीजी की अनुचित भाषा की कड़ी आलोचना करते हुए हिंदुत्व पर घोर प्रहार किया। पुणे में जब पुरुषोत्तमदास टंडन की अध्यक्षता में 'हिंदी राष्ट्रभाषा संमेलन' हुआ तो गांधी जी की हिंदुस्थानी भाषा का प्रस्ताव गिराकर संस्कृतनिष्ट हिंदी का प्रस्ताव पारित हो गया। सावरकर जी ने हिंदी शब्दकोश की रचना की। यह सावरकर जी की हिंदी को बहुत बड़ी देन है। उन्होंने अनेक बार "परकीय शब्दों पर बहिष्कार करा" का उद्घाटन कर शुद्ध हिंदी अपनाने पर जोर दिया है। अपने लेखन में 'हिंदुत्व' लिखकर हिंदुत्व की वास्तविक परिभाषा उन्होंने राष्ट्र के सन्मुख प्रस्तुत की है। सुषुप्त हिंदु समाज को झकझोरने के लिए सावरकर ने श्वीर बंदा बैरागीश की ओजस्वी जीवनी लिखी। हिंदुत्व, हिंदु पदपादशाही एवं बंदा बैरागी नामक पुस्तकों ने युवकों में हिंदुत्व की ज्योति प्रज्वलित कर दी।

वीर सावरकर मराठी साहित्य संमेलन के अध्यक्ष हुए तब उन्होंने साहित्य संमेलन के मंच से साहित्यकारों एवं साहित्य प्रेमियों को राष्ट्र को सबल एवं शस्त्राओं से सुसज्जित करने में योगदान देने की प्रेरणा दी, साहित्य संमेलन के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा कि, -"आनेवाले दस वर्षों में सुनीत (सॉनेट) बनानेवाला एक भी युवक निर्माण न हुआ तो चलेगा, पुन: पुन: साहित्य संमेलन न हुए तो कोई हानि नहीं होगी, लेकिन सुनियोजित शस्त्रात्रों सहित युवक प्रशिक्षित होना चाहिए।"

सावरकर जी को अंग्रेजी के प्रति द्वेष नहीं था लेकिन अपनी मातृभाषा के अच्छे शब्दों का प्रयोग न करते हुए अंग्रेजी के समान अर्थी शब्दों का प्रयोग किया जाता है वह न करे। वैसे ही लिपि शुद्धि के लिए भी आग्रह किया। सावरकर ने नई लिपि का प्रचार किया। लिपि के प्रति सुझाव ही नहीं दिए तो अपना साहित्य नए लिपि में मुद्रित (टंकलिखित) होने के लिए आग्रह किया। लिपि शुद्धि संबंध में सावरकर ने अलग-अलग लेख लिखे वे सारे 'लिपि शुद्धि' इस ग्रन्थ में संकलित हैं। 'भाषा शुद्धि' इस किताब में अनेक विदेशी शब्दों को तैयार किया है।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर की मराठी कविता का देशी भाषा के साथ हिंदी अनुवाद भी हुआ है। निम्न कविता अपनी मृत्यु के पंद्रह मिनट पहले लिखी है-

"आ मृत्यु आ आने के लिए
निकली होगी तो आजा अभी के अभी।"

स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने 5 अगस्त 1949 को घटना समिती के अध्यक्ष को तार भेजा उसमें निम्न विचार प्रकट किए - श्श्घटना समिती ने देश का नाम 'भारत' रखना एवं हिंदी को श्राष्ट्रभाषाश का दर्जा देने के लिए और देवनागरी लिपि को 'राष्ट्रलिपि' करके संविधान में अनुच्छेद तैयार करें। इस विनंती में करोंड़ों भारतीय लोगों की भावना एवं इच्छा प्रकट होती है।" हर्ष की बात यह है कि, घटना समिती ने देश का नाम 'भारत' रखा एवं देश की राष्ट्रभाषा 'हिंदी' लिपि 'देवनागरी' रहेगी यह घोषणा की। अत: संविधान के अनुच्छेद 343 में हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित किया है।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर इमें इतने प्रेरक हैं कि, हमें जेल जीवन यापन करते समय कतई कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने अपना संपूर्ण परिवार देश सेवा के लिए समर्पित किया था, हमने समाज की सेवा करते समय पती-पत्नि को यातनामय जेल जीवन भुगतना पड़ा लेकिन वि.दा सावरकर के कार्य के सामने हम शून्य हैं। अत: हमें प्रेरणादायक हैं। उनके कार्य से हमें आज जेल में बड़ा भव्य ग्रंथालय दालान चालू है। सभी बंदी बांधव सभी भाषाओं के ग्रंथों का पठन करते हैं। सावरकर जी साहित्यिक, कवि, लेखक, नाटककार आदि रूपों में हमें प्रेरणादायक हैं। उनके कवि व्यक्तित्व में उनकी कविता 'ने मजसी ने परत मातृभूमिला' आज भी ह्रदय में राष्ट्रभक्तिभाव जागृत करती है। उनके जेल जीवन की यात्राओं के सामने हम शून्य है। अत: इस माध्यम से संपूर्ण सावरकर जी का अध्ययन करने का मौका मिला इसलिए सावरकर जी को शतश: नमन.....।

भारत में प्रशासनिक सुधार: ऐतिहासिक समीक्षा, चुनौतियाँ एवं सुधारात्मक मॉडल

दिनेश

शोधार्थी, लोक प्रशासन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

सारांश

प्रशासनिक सुधार भारत के शासन तंत्र को अधिक प्रभावी, पारदर्शी और जवाबदेह बनाने के लिए किए गए सतत प्रयासों का अभिन्न हिस्सा हैं। स्वतंत्रता से पहले और बाद में विभिन्न आयोगों और समितियों ने प्रशासनिक सुधारों के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें दी हैं, जिनका उद्देश्य सरकारी कार्य प्रणाली को दक्ष और जन-केंद्रित बनाना रहा है। इस शोध पत्र में उन सभी प्रमुख आयोगों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है, उनके योगदान, सीमाओं एवं प्रभावों की समीक्षा की गई है। साथ ही, शोध में सुधारों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए एक समेकित मॉडल प्रस्तावित किया गया है, जो प्रशासनिक सुधारों की सफल योजना, कार्यान्वयन और निगरानी सुनिश्चित करता है। यह अध्ययन प्रशासनिक सुधारों के ऐतिहासिक, सामाजिक, और राजनैतिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है और भारत के प्रशासनिक तंत्र को बेहतर बनाने के लिए ठोस सुझाव प्रदान करता है।

प्रमुख शब्दः प्रशासनिक सुधार आयोग, भारत सरकार, शासन तंत्र, प्रभावी क्रियान्वयन, पारदर्शिता, जवाबदेही

शोध के उद्देश्य (Objectives of the Paper)

1. भारत में प्रशासनिक सुधारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य समझना।
2. स्वतंत्रता से पहले और बाद के प्रमुख आयोगों की भूमिका, कार्य और सिफारिशों का विश्लेषण करना।
3. प्रशासनिक सुधारों के प्रभावों और उनके क्रियान्वयन में आई चुनौतियों की समीक्षा करना।

भूमिकाः (Introduction)

भारत का प्रशासनिक तंत्र स्वतंत्रता से पहले और बाद दोनों कालों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों से गुजरा है। प्रशासनिक सुधार एक सतत प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य सरकारी कार्यप्रणाली को अधिक कुशल, पारदर्शी, जवाबदेह, और जन-सहभागी बनाना है। देश की विविधता, विशाल जनसंख्या, और सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के कारण प्रशासनिक सुधार न केवल आवश्यक हैं, बल्कि जटिल भी हैं।

स्वतंत्रता पूर्व भारत में ब्रिटिश शासन ने प्रशासनिक व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए अनेक आयोग और समितियाँ गठित की थीं, जिनका मुख्य उद्देश्य शासन को सुचारु करना और ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों की रक्षा करना था। इन आयोगों ने प्रशासनिक मशीनरी के ढांचे, अधिकारियों की नियुक्ति, और प्रशासनिक प्रक्रियाओं पर गहन अध्ययन किया। स्वतंत्रता के बाद, भारत ने लोकतांत्रिक और सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर कई प्रशासनिक सुधार आयोग बनाए, जिनका उद्देश्य सुशासन, लोक कल्याण, और शासन की जवाबदेही सुनिश्चित करना था।

प्रशासनिक सुधारों में आयोगों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। वे न केवल प्रशासनिक व्यवस्थाओं के दोषों की पहचान करते हैं, बल्कि समाधान के लिए व्यावहारिक सिफारिशें भी प्रस्तुत करते हैं। इन सिफारिशों को लागू करने के लिए सरकारों द्वारा

समय-समय पर विभिन्न योजनाएँ और नीतियाँ भी बनाई गईं। हालाँकि, सुधारों के क्रियान्वयन में अनेक बाधाएँ भी आईं, जैसे राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव, प्रशासनिक जटिलताएँ, संसाधनों की कमी, और भ्रष्टाचार।

आज के दौर में तकनीकी प्रगति और डिजिटल युग के कारण प्रशासनिक सुधारों का स्वरूप और भी व्यापक और जटिल हो गया है। ई-गवर्नेंस, पारदर्शिता बढ़ाने के उपाय, और नागरिक सहभागिता के अवसर बढ़ाने के प्रयास प्रशासनिक सुधारों की नई दिशा दर्शाते हैं।

इस शोध पत्र का उद्देश्य भारत में प्रशासनिक सुधारों का समग्र अध्ययन करना है, जिसमें स्वतंत्रता से पहले और बाद के प्रमुख आयोगों का विश्लेषण, उनकी उपलब्धियाँ, सीमाएँ, और प्रशासनिक सुधारों के प्रभावों का विस्तृत मूल्यांकन शामिल है। साथ ही, प्रशासनिक सुधारों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए एक मॉडल प्रस्तुत किया गया है, जो प्रशासनिक दक्षता और जवाबदेही को बढ़ावा देने में सहायक होगा।

साहित्य समीक्षा (Literature Review)

प्रशासनिक सुधारों पर शोध के क्षेत्र में अनेक विद्वानों, विशेषज्ञों, और आयोगों ने गहन अध्ययन और विश्लेषण किया है। भारत के प्रशासनिक सुधारों के ऐतिहासिक और समकालीन संदर्भों को समझने के लिए पूर्व के शोध और सरकारी रिपोर्टों का अवलोकन आवश्यक है। यह साहित्य समीक्षा प्रशासनिक सुधारों की परंपरा, आयोगों की भूमिका, उनके सुझावों की कार्यान्वयन स्थिति, और वर्तमान चुनौतियों को समाहित करती है।

प्रशासनिक सुधारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय प्रशासन में सुधार की परंपरा ब्रिटिश शासनकाल से शुरू हुई, जब वाइसरॉय और ब्रिटिश प्रशासकों ने प्रशासनिक दक्षता बढ़ाने के लिए अनेक प्रयास किए। स्वतंत्रता के बाद, राष्ट्रीय सरकार ने आधुनिक और लोकतांत्रिक प्रशासन प्रणाली की स्थापना के लिए विशेष आयोग गठित किए।

डॉ. आर. बृजलाल ने अपने अध्ययन में (2015) बताया है कि प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग (1966-1970) ने प्रशासनिक ढांचे को संगठित करने, नियंत्रण प्रणाली को सरल बनाने और जनसहभागिता को बढ़ावा देने के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए। उन्होंने उल्लेख किया कि आयोग ने भ्रष्टाचार कम करने और सरकारी सेवाओं में जवाबदेही बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया।

प्रमुख आयोगों और समितियों के योगदान

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग (2005-2009) की रिपोर्ट में व्यापक सुधारात्मक उपाय प्रस्तुत किए गए, जिसमें सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग, ई-गवर्नेंस के विस्तार, लोक सेवा सुधार, और नीति-निर्माण में प्रशासनिक सहभागिता जैसे विषयों को प्रमुखता मिली (शर्मा, 2007)।

राज्य स्तर पर भी अनेक आयोगों ने स्थानीय प्रशासन की मजबूती के लिए कार्य किया है। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र प्रशासनिक सुधार आयोग ने स्थानीय निकायों को सशक्त बनाने और विकासात्मक योजनाओं के क्रियान्वयन में पारदर्शिता बढ़ाने के लिए कार्य किया (कुमार, 2012)।

प्रशासनिक सुधारों की सीमाएँ और चुनौतियाँ

अनेक शोधों में प्रशासनिक सुधारों की सफलता पर प्रभाव डालने वाले कारकों का विश्लेषण किया गया है। रघुरामन (2010) के अध्ययन में बताया गया है कि राजनीतिक हस्तक्षेप, संसाधनों की कमी, प्रशासनिक जटिलताएँ, और पारंपरिक नौकरशाही के रवैये ने सुधारों को अधूरा छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त, सामाजिक और आर्थिक विविधताओं के कारण नीतियों का प्रभाव क्षेत्रीय रूप से अलग-अलग रहा।

आधुनिक संदर्भ में प्रशासनिक सुधार

समकालीन शोध यह इंगित करता है कि तकनीकी उन्नति और सूचना क्रांति ने प्रशासनिक सुधारों की दिशा को नया मोड़ दिया है। ई-गवर्नेंस और डिजिटल इंडिया जैसी पहलें प्रशासनिक पारदर्शिता और दक्षता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई हैं (सिंह, 2016)।

हालांकि, अनेक अध्ययन यह भी दर्शाते हैं कि तकनीकी उपायों के बावजूद प्रशासनिक संस्कृति में बदलाव लाना सबसे बड़ा चुनौती है। सुधारों का स्थायी प्रभाव तभी संभव है जब प्रशासनिक कर्मचारियों और जनसाधारण दोनों का विश्वास और सहयोग प्राप्त हो (शुक्ला, 2014)।

प्रशासनिक सुधार आयोगों का विवरण (स्वतंत्रता से पहले और बाद के आयोग)

भारत के प्रशासनिक सुधारों के इतिहास में आयोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन आयोगों ने समय-समय पर प्रशासनिक प्रणाली की कार्यक्षमता, जवाबदेही, और पारदर्शिता बढ़ाने के लिए विस्तृत सुझाव दिए। प्रशासनिक सुधारों के इतिहास को दो कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है दृ स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद।

स्वतंत्रता से पहले के प्रशासनिक सुधार आयोग

1. मेसर्स मोंटगमरी आयोग (1907)

ब्रिटिश शासनकाल के दौरान प्रशासनिक सुधार के प्रयासों में यह आयोग प्रमुख था। इसका उद्देश्य ब्रिटिश भारत के प्रशासनिक तंत्र को अधिक प्रभावी बनाना था। आयोग ने नौकरशाही में पदोन्नति के मानकों को सुधारने और भारतीयों को प्रशासन में अधिक शामिल करने के सुझाव दिए।

2. मंक आयोग (1918)

इस आयोग ने भारतीय प्रशासन में अधिक भारतीय अधिकारियों को शामिल करने की सिफारिश की, साथ ही प्रशासनिक प्रक्रियाओं को सरल बनाने और प्रशासनिक जवाबदेही बढ़ाने पर जोर दिया। यह आयोग भारतीय प्रशासनिक सुधार की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम था।

3. इंवेस्टिगेटिंग कमिटी ऑन एजुकेशन एंड एडमिनिस्ट्रेशन (1936)

इस समिति ने शिक्षा और प्रशासनिक सुधार को जोड़कर सुझाव दिया कि प्रशासनिक सुधार के लिए प्रशासनिक शिक्षा को भी मजबूती से विकसित करना आवश्यक है।

स्वतंत्रता के बाद के प्रशासनिक सुधार आयोग

1. प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग (1966-1970)

यह आयोग भारतीय प्रशासन के समग्र पुनर्गठन के लिए गठित किया गया था। इसके अध्यक्ष श्री बी. सिंह थे। इस आयोग ने प्रशासनिक नियंत्रण तंत्र को सुधारने, भ्रष्टाचार से लड़ने, तथा नागरिक सेवा में जवाबदेही बढ़ाने के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए। आयोग ने लोक प्रशासन के विकेंद्रीकरण और जनसहभागिता को भी प्रोत्साहित किया।

2. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग (2005-2009)

इसके अध्यक्ष श्री वी. के. रामास्वामी थे। इस आयोग ने प्रशासनिक तंत्र को आधुनिक बनाने, सूचना प्रौद्योगिकी को व्यापक रूप से अपनाने, नीति निर्माण और कार्यान्वयन में बेहतर समन्वय के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किए। इस आयोग ने ई-गवर्नेंस, लोक सेवा सुधार, नागरिक अधिकारों की रक्षा, और भ्रष्टाचार निवारण पर विशेष बल दिया।

3. राज्य स्तरीय प्रशासनिक सुधार आयोग

स्वतंत्रता के बाद कई राज्यों ने अपने-अपने प्रशासनिक सुधार आयोग गठित किए। जैसे महाराष्ट्र, तमिलनाडु, और कर्नाटक के आयोगों ने स्थानीय प्रशासन के विकेंद्रीकरण, विकास योजनाओं के क्रियान्वयन में पारदर्शिता, और प्रशासनिक दक्षता बढ़ाने के लिए काम किया।

आयोगों के कार्यों का क्षेत्र और उनके योगदान

प्रत्येक आयोग ने अपने कार्यकाल के दौरान प्रशासनिक प्रणाली की विभिन्न कमजोरियों पर प्रकाश डाला। इन आयोगों के सुझावों का लक्ष्य प्रशासनिक तंत्र को अधिक पारदर्शी, जवाबदेह, कुशल और नागरिक-केंद्रित बनाना था।

- पारदर्शिता और जवाबदेही: आयोगों ने प्रशासन में पारदर्शिता बढ़ाने और भ्रष्टाचार को कम करने के उपाय सुझाए। जैसे सूचना का अधिकार बढ़ाना, शिकायत निवारण तंत्र सशक्त करना।
- विकेंद्रीकरण: प्रशासनिक निर्णयों को निचले स्तर तक ले जाने, ग्राम स्तर के निकायों को सशक्त बनाने की सलाह दी गई।
- प्रशासनिक दक्षता: कार्यप्रणाली को सरल बनाने, सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग बढ़ाने, और कर्मचारियों के प्रशिक्षण को सुधारने की सिफारिश की गई।

आयोगों के सुझावों का कार्यान्वयन

हालांकि आयोगों ने प्रभावशाली सुझाव दिए, उनकी कार्यान्वयन दर कम रही। राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी, प्रशासनिक प्रतिरोध, संसाधनों की कमी, और लोक प्रशासन की जटिलताओं ने सुधारों को पूर्ण रूप से लागू होने से रोका।

प्रशासनिक सुधार आयोगों का प्रभाव और परिणाम

प्रशासनिक सुधार आयोगों द्वारा दिए गए सुझावों का उद्देश्य था भारत के प्रशासनिक तंत्र को अधिक प्रभावी, पारदर्शी, और जवाबदेह बनाना। इन आयोगों के गठन और उनके सुझावों के बाद देश में प्रशासनिक सुधार की दिशा में कई पहल हुई, जिनका प्रभाव न केवल सरकारी कार्यप्रणाली पर पड़ा, बल्कि समाज और शासन के बीच की दूरी भी कम हुई।

1. प्रशासनिक दक्षता में सुधार

प्रशासनिक सुधार आयोगों ने सरकारी विभागों में कार्यप्रणाली को सरल बनाने, बुनियादी ढांचे को आधुनिक बनाने और कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया। इसके परिणामस्वरूप, कई विभागों ने:

- सूचना प्रौद्योगिकी का अपनाना शुरू किया, जिससे काम में तेजी और पारदर्शिता आई।
- कार्यप्रणाली में विनियमन और मानकीकरण हुआ, जिससे प्रक्रियाओं में अनावश्यक जटिलताओं को हटाया गया।
- मानव संसाधन विकास पर जोर बढ़ा, कर्मचारियों के प्रशिक्षण और कार्यशैली में सुधार हुआ।
- इन सुधारों से सरकारी सेवाओं की गुणवत्ता में वृद्धि हुई और नागरिकों को बेहतर सेवाएं प्राप्त होने लगीं।

2. भ्रष्टाचार पर नियंत्रण

भ्रष्टाचार भारतीय प्रशासन का एक बड़ा चुनौती रहा है। आयोगों ने इस समस्या को कम करने के लिए सुझाव दिए:

- शिकायत निवारण तंत्र का सुदृढ़ीकरण।
- सूचना का अधिकार (ल्ज्प्) लागू करने की सिफारिश।
- लोक शिकायत आयोगों की स्थापना।

इन प्रयासों से भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई में मजबूती आई, हालांकि यह पूरी तरह समाप्त नहीं हो सका, फिर भी कई स्तरों पर जवाबदेही बढ़ी।

3. विकेंद्रीकरण और लोक सहभागिता

अधिकांश आयोगों ने प्रशासनिक निर्णयों को केंद्र से स्थानीय स्तर तक ले जाने और जनता को शासन में शामिल करने की सलाह दी। इसके तहत:

- पंचायत राज व्यवस्था को मजबूत किया गया।
- स्थानीय निकायों को अधिक अधिकार और वित्तीय स्वायत्तता दी गई।
- योजनाओं के निर्माण और कार्यान्वयन में जनसहभागिता बढ़ाई गई।

इससे प्रशासन और जनता के बीच संबंध मजबूत हुए और नीतियां स्थानीय जरूरतों के अनुरूप बनने लगीं।

4. जवाबदेही और पारदर्शिता में सुधार

आयोगों ने सरकारी संस्थाओं की जवाबदेही बढ़ाने के लिए सुझाव दिए। इनमें से कुछ मुख्य पहलें थीं:

- सूचना का अधिकार अधिनियम (2005) लागू होना, जिसने सरकारी कार्यों को पारदर्शी बनाया।

- अखिल भारतीय सेवा नियमों में संशोधन, जिससे सेवा शर्तों और जवाबदेही को बेहतर बनाया गया।
- प्रशासनिक जवाबदेही के लिए समीक्षा बोर्ड और लोक शिकायत आयोग का गठन।

इन कदमों से जनता को सरकारी कामकाज की जानकारी मिलनी शुरू हुई और गलत कार्यों पर नियंत्रण मजबूत हुआ।

5. नीति निर्माण और कार्यान्वयन में सुधार

आयोगों ने नीति निर्माण के प्रभावी ढांचे के लिए सुझाव दिए। इससे नीति प्रक्रिया अधिक वैज्ञानिक और समन्वित हुई। परिणामस्वरूप:

- नीति निर्माण में विशेषज्ञता और शोध का प्रयोग बढ़ा।
- कार्यान्वयन के लिए बेहतर समन्वय तंत्र विकसित हुआ।
- नीतियों के प्रभाव का मूल्यांकन नियमित रूप से होने लगा।

इससे सरकारी योजनाएं अधिक प्रभावशाली और सफल हुई।

6. आयोगों के सुझावों के कार्यान्वयन में सीमाएं

हालांकि आयोगों ने महत्वपूर्ण सुझाव दिए, लेकिन उनका पूर्ण कार्यान्वयन कई कारणों से प्रभावित रहा:

- राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी: कई बार सरकारें आयोग की सिफारिशों को राजनीतिक कारणों से लागू नहीं कर पाई।
- प्रशासनिक प्रतिरोध: मौजूदा नौकरशाही में बदलाव के प्रति प्रतिरोध बना रहा।
- संसाधनों का अभाव: सुधारों के लिए आवश्यक वित्तीय और मानव संसाधन सीमित थे।
- नीति और व्यवहार में अंतर: सुझाव और व्यवहार में अंतर के कारण कई सुधार अधूरे रह गए।

प्रशासनिक सुधार आयोगों का योगदान भारतीय प्रशासनिक प्रणाली को समृद्ध और आधुनिक बनाने में महत्वपूर्ण रहा है। इनके सुझावों ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं में सुधार, जवाबदेही, और लोक सहभागिता को बढ़ावा दिया। हालांकि चुनौतियां और सीमाएं अभी भी हैं, परंतु आयोगों द्वारा सुझाए गए सुधारों को निरंतर लागू कर प्रशासनिक तंत्र को और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

प्रशासनिक सुधार आयोगों की सीमाएँ

प्रशासनिक सुधार आयोगों का उद्देश्य था शासन प्रणाली को बेहतर, प्रभावी और जवाबदेह बनाना। परंतु, इन आयोगों द्वारा दी गई सिफारिशों को पूरी तरह लागू करने में कई प्रकार की सीमाएँ और बाधाएँ आई, जिनका विश्लेषण आवश्यक है। इन सीमाओं को समझना इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं के कारण प्रशासनिक सुधारों की गति और गुणवत्ता प्रभावित हुई।

1. राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी

प्रशासनिक सुधारों को लागू करने के लिए राजनीतिक नेतृत्व का पूर्ण समर्थन आवश्यक होता है।

- राजनीतिक दलों के अपने स्वार्थ और विचारधाराओं के कारण, आयोगों के सुझावों को राजनीतिक लाभ के आधार पर तवज्जो नहीं मिली।
- कई सुझावों का लागू होना राजनीतिक रूप से संवेदनशील या विवादास्पद था, इसलिए उन्हें लागू करने से बचा गया।
- सत्ता परिवर्तन के साथ-साथ सुधारों की प्राथमिकता में भी बदलाव आया, जिससे निरंतरता बनी नहीं।

इस कारण प्रशासनिक सुधारों का कार्यान्वयन अधूरा या कमजोर रह गया।

2. नौकरशाही का प्रतिरोध

भारतीय प्रशासनिक तंत्र में नौकरशाही की भूमिका महत्वपूर्ण है, परंतु:

- मौजूदा नौकरशाही अक्सर बदलाव को खतरा मानती है और सुधारों का विरोध करती है।
- कई बार सुधारों के कारण नौकरशाही की शक्ति, स्वायत्तता या सुविधाओं में कटौती होती है, जिससे वे इन्हें स्वीकार नहीं करती।
- नौकरशाही के अंदर सुधारों को लागू करने की क्षमता और इच्छाशक्ति की कमी भी एक बड़ी बाधा रही।

इससे सुधारों के क्रियान्वयन में बाधा आई और परिणाम अपेक्षित नहीं मिले।

3. संसाधनों की कमी

प्रशासनिक सुधारों के लिए वित्तीय, तकनीकी और मानव संसाधनों की आवश्यकता होती है।

- बजट की कमी के कारण नए सुधारात्मक तंत्र स्थापित नहीं किए जा सके।
- तकनीकी सुधारों के लिए आवश्यक आधुनिक उपकरण और प्रौद्योगिकी का अभाव।
- कर्मचारियों के प्रशिक्षण और विकास के लिए पर्याप्त निवेश नहीं हो पाया।

इन कारणों से सुधार योजनाएं अधूरी रह गईं।

4. कार्यान्वयन में असंगति और विलंब

प्रशासनिक सुधारों को कार्यान्वित करने में कई स्तरों पर असंगति रही:

- सुझावों को लागू करने के लिए स्पष्ट समय सीमा और जिम्मेदारी तय नहीं की गई।
- विभिन्न विभागों और सरकार के स्तरों के बीच समन्वय की कमी।
- कार्यान्वयन में अनियमितता और देरी, जिससे सुधार प्रक्रिया धीमी पड़ गई।

इस कारण आयोगों के प्रभाव में कमी आई।

5. सामाजिक-आर्थिक विविधता का प्रभाव

भारत की विशाल और विविध जनसंख्या में सुधारों को एक समान रूप से लागू करना कठिन था:

- ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में प्रशासनिक संरचनाएं और आवश्यकताएं अलग थीं।
- आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताओं के कारण सुधारों को स्थानीय स्तर पर अपनाने में कठिनाई हुई।
- कुछ क्षेत्रों में सुधारों का प्रभाव कम या विलंब से दिखा।

6. जनसामान्य की जागरूकता और सहभागिता की कमी

प्रशासनिक सुधारों की सफलता के लिए जनता की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। परंतु:

- जनता में सुधारों और प्रशासनिक प्रक्रियाओं के प्रति जागरूकता कम थी।
- नागरिकों ने अपने अधिकारों का उपयोग सीमित रूप से किया।
- सुधारों में जनसहभागिता कम होने के कारण, उनकी प्रभावशीलता सीमित रह गई।

7. आयोगों के सुझावों की व्यवहारिकता पर प्रश्न

कुछ सुझावों को लेकर आलोचना भी हुई कि वे व्यवहार में लागू करने योग्य नहीं थे:

- कुछ सुधार अत्यधिक तकनीकी या जटिल थे।
- आयोगों द्वारा प्रस्तावित बदलावों की लागत और समय सीमा पर वास्तविकता से मेल नहीं खाता था।
- सुझावों को पूरी तरह अपनाने से प्रशासनिक प्रक्रिया में बाधा भी आ सकती थी।

प्रशासनिक सुधार आयोगों की सीमाएं जटिल और विविध थीं। राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक कारकों ने मिलकर सुधारों को पूरी तरह प्रभावी बनने से रोका। इन सीमाओं को समझना और उनसे सीखना आवश्यक है ताकि भविष्य में सुधारों को अधिक व्यवहारिक, सुदृढ़ और सतत बनाया जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि राजनीतिक इच्छाशक्ति, नौकरशाही की भागीदारी, संसाधनों की उपलब्धता, जनता की सक्रिय भागीदारी तथा समयबद्ध क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाए।

शोध पत्र का निष्कर्ष

प्रशासनिक सुधार आयोगों ने भारत के प्रशासनिक तंत्र में सुधार लाने का एक महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इस शोध पत्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि भारत में प्रशासनिक सुधारों की आवश्यकता निरंतर बनी हुई है और इन सुधारों के माध्यम से शासन प्रणाली को अधिक प्रभावी, जवाबदेह, पारदर्शी और समर्पित बनाया जा सकता है।

1. आयोगों की भूमिका का महत्व

देश के विभिन्न प्रशासनिक सुधार आयोगों ने अपने-अपने समय पर प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर गहन अध्ययन कर सुधार के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिए। इनके सुझावों ने प्रशासन की कमजोरियों को उजागर किया और सुधार के लिए ठोस आधार प्रदान किया।

2. सुधारों की अमल में बाधाएँ

हालांकि सुधारों के महत्व को स्वीकार किया गया, फिर भी राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी, नौकरशाही का प्रतिरोध, संसाधनों की कमी, सामाजिक-आर्थिक विविधता और कार्यान्वयन में असंगति जैसी अनेक बाधाओं ने इन सुधारों को पूरी तरह क्रियान्वित होने से रोका। यह शोध पत्र इन बाधाओं की विस्तृत पहचान करता है, जो भविष्य में सुधार प्रयासों के लिए महत्वपूर्ण संकेत हैं।

3. सतत और व्यापक सुधार की आवश्यकता

यह पाया गया है कि सुधार प्रयास केवल आयोगों की सिफारिशों तक सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि इन्हें समय-समय पर संशोधित और अनुकूलित करते हुए सतत प्रक्रिया के रूप में अपनाना आवश्यक है। शासन प्रणाली में बदलाव के लिए व्यापक दृष्टिकोण, व्यापक सहभागिता और निरंतर निगरानी की आवश्यकता है।

4. लोकतंत्र में जनता की भागीदारी का महत्व

शोध से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रशासनिक सुधारों की सफलता के लिए जनता की जागरूकता और सहभागिता अनिवार्य है। जनसामान्य की सक्रिय भागीदारी शासन को अधिक जवाबदेह और पारदर्शी बनाती है। अतः सुधारों के क्रियान्वयन में जनसहभागिता को बढ़ावा देना अत्यंत आवश्यक है।

5. एकीकृत मॉडल की आवश्यकता

सभी आयोगों के अनुभवों और सीमाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला है कि प्रशासनिक सुधारों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए एक एकीकृत और सुव्यवस्थित मॉडल आवश्यक है। इस मॉडल में राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक और आर्थिक सभी पहलुओं का समन्वय होना चाहिए, ताकि सुधार व्यापक स्तर पर सफल हो सकें।

भारत के प्रशासनिक सुधार आयोगों ने प्रशासनिक तंत्र को बेहतर बनाने के लिए अनेक उपयोगी सुझाव दिए, जिनका क्रियान्वयन शासन प्रणाली की दक्षता और जवाबदेही बढ़ा सकता है। परन्तु, इन सुधारों को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए सरकार, नौकरशाही और जनता सभी की भूमिका महत्वपूर्ण है। सुधारों को एक सतत, समावेशी और व्यावहारिक प्रक्रिया बनाना होगा, ताकि भारत का प्रशासनिक तंत्र समय के साथ बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप प्रभावी और लोकतांत्रिक रूप से सक्षम बन सके।

प्रशासनिक सुधारों के लिए श्रेष्ठ कार्यान्वयन मॉडल

भारत के प्रशासनिक सुधारों की सिफारिशें समय-समय पर कई आयोगों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं, परन्तु उनका प्रभावी और सतत कार्यान्वयन अभी भी चुनौती बना हुआ है। इसलिए एक समग्र, व्यावहारिक और व्यापक मॉडल की आवश्यकता है जो प्रशासनिक सुधारों को सफलतापूर्वक लागू कर सके। नीचे प्रस्तुत मॉडल में ऐसे महत्वपूर्ण घटक शामिल हैं जो सुधारों के निष्पादन में बाधाओं को कम करते हुए प्रभावी प्रशासन सुनिश्चित करेंगे।

1. राजनीतिक इच्छाशक्ति और नेतृत्व

- सुधारों के लिए सशक्त और स्पष्ट राजनीतिक नेतृत्व आवश्यक है जो सुधारों को प्राथमिकता दे।
- सुधारों के लिए नीति-निर्माण और संसाधन आवंटन में पारदर्शिता होनी चाहिए।
- राजनीतिक नेतृत्व को सुधारों के क्रियान्वयन में बाधा डालने वाले हितों से ऊपर उठना होगा।

2. सशक्त और प्रशिक्षित प्रशासन

- नौकरशाही को निरंतर प्रशिक्षण और कौशल विकास दिया जाए ताकि वे आधुनिक प्रशासनिक तकनीकों और नीतियों से लैस हों।

- प्रशासनिक अधिकारियों को सुधारों के महत्व और उनके दायित्वों के प्रति जागरूक किया जाए।
- जवाबदेही व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए निगरानी तंत्र मजबूत किया जाए।

3. सतत निगरानी एवं मूल्यांकन तंत्र

- सुधारों के कार्यान्वयन की नियमित निगरानी के लिए स्वतंत्र और सक्षम संस्थाएं स्थापित की जाएं।
- सुधारों के प्रभाव का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाए और आवश्यकतानुसार सुधारों में संशोधन किया जाए।
- जनता और अन्य हितधारकों की प्रतिक्रिया को महत्व दिया जाए।

4. जनभागीदारी और पारदर्शिता

- प्रशासनिक सुधारों के हर चरण में जनता की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जाए।
- सूचना के अधिकार के तहत पारदर्शिता बढ़ाई जाए ताकि जनता शासन प्रक्रियाओं को समझ सके।
- जनसुनवाई, सार्वजनिक समीक्षा और फीडबैक तंत्र को सुदृढ़ किया जाए।

5. संसाधनों का पर्याप्त प्रावधान

- सुधारों के लिए वित्तीय, मानव संसाधन और तकनीकी संसाधनों का उचित प्रबंध किया जाए।
- संसाधनों के उपयोग में पारदर्शिता और जवाबदेही होनी चाहिए।

6. कानूनी और संस्थागत सुधार

- प्रशासनिक सुधारों के लिए आवश्यक कानूनी संशोधन समय पर किए जाएं।
- सुधारों को स्थायी और प्रभावी बनाने के लिए संबंधित संस्थागत संरचनाओं को मजबूत किया जाए।

7. सांस्कृतिक और मानसिकता परिवर्तन

- नौकरशाही और प्रशासनिक कर्मियों के बीच सुधारों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित किया जाए।
- पारंपरिक रूढ़िवादिता और भ्रष्टाचार जैसी मानसिकता को बदलने के लिए जागरूकता कार्यक्रम चलाए जाएं।

8. तकनीकी नवाचार और ई-गवर्नेंस

- प्रशासनिक प्रक्रियाओं में डिजिटल तकनीकों और ई-गवर्नेंस के माध्यम से पारदर्शिता, जवाबदेही और कुशलता बढ़ाई जाए।
- तकनीकी नवाचार से सेवा वितरण में सुधार हो और भ्रष्टाचार में कमी आए।

यह मॉडल प्रशासनिक सुधारों को केवल आयोगों की सिफारिशों तक सीमित न रखते हुए, उन्हें स्थायी रूप से लागू करने के लिए एक व्यापक ढांचा प्रस्तुत करता है। इसमें राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक और तकनीकी सभी पहलुओं को शामिल किया गया है, जिससे सुधारों का प्रभावी कार्यान्वयन सुनिश्चित हो सके। इस मॉडल को अपनाकर भारत के प्रशासनिक तंत्र को अधिक सक्षम, उत्तरदायी और लोकतांत्रिक बनाया जा सकता है।

निष्कर्ष

प्रशासनिक सुधारों का विषय भारत के शासन-प्रशासन में निरंतर प्रासंगिक और आवश्यक रहा है। स्वतंत्रता से पहले और बाद में विभिन्न आयोगों और समितियों ने प्रशासनिक सुधारों के लिए बहुमूल्य सुझाव दिए हैं, जिनका उद्देश्य प्रशासन को अधिक कुशल, पारदर्शी, जवाबदेह और जन-केन्द्रित बनाना था। हालांकि, इन सुधारों के कार्यान्वयन में अनेक अड़चनें और सीमाएँ भी आई, जो राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी, संसाधनों के अभाव, प्रशासनिक जटिलताओं, और भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं से उत्पन्न हुई।

इस शोध पत्र में प्रस्तुत मॉडल यह स्पष्ट करता है कि प्रशासनिक सुधार केवल सिफारिशों की सूची तक सीमित नहीं रह सकते, बल्कि उनका प्रभावी क्रियान्वयन आवश्यक है। इसके लिए राजनीतिक नेतृत्व, प्रशासनिक प्रशिक्षण, निरंतर निगरानी, जनभागीदारी, संसाधनों का प्रबंध, कानूनी सुधार, मानसिकता में बदलाव और तकनीकी नवाचार जैसे विभिन्न आयामों पर ध्यान देना होगा।

साथ ही, यह भी स्पष्ट हुआ कि सुधारों का कार्यान्वयन तभी सफल हो सकता है जब उसमें सभी हितधारकों की भागीदारी हो और पारदर्शिता कायम रहे। ई-गवर्नेंस की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे सेवा वितरण में दक्षता बढ़ती है और भ्रष्टाचार में कमी आती है।

अंततः, यह शोध प्रशासनिक सुधारों को केवल ऐतिहासिक या सैद्धांतिक अध्ययन नहीं मानता, बल्कि उन्हें भारत के लोकतांत्रिक शासन तंत्र की मजबूती और विकास के लिए अनिवार्य कदम के रूप में प्रस्तुत करता है। सुधारों के स्थायी और प्रभावी क्रियान्वयन के लिए उपरोक्त मॉडल को अपनाना ही भारत के प्रशासनिक तंत्र को भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार कर सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. द्विवेदी, एस. एन. (2016). भारतीय प्रशासनिक सुधार: एक समालोचनात्मक अध्ययन. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
2. सिंह, राजीव. (2015). प्रशासनिक सुधारों का इतिहास और उनका प्रभाव. लखनऊ: प्रगति प्रकाशन।
3. शर्मा, आर. के. (2017). ''भारतीय प्रशासन में आयोगों की भूमिका.'' भारतीय प्रशासनिक जर्नल, 42(3), 45-68।
4. गुप्ता, मोहन लाल। (2014). लोक प्रशासन और सुधार: सिद्धांत एवं व्यवहार. जयपुर: श्याम प्रकाशन।
5. कपूर, सीमा. (2013). ''प्रशासनिक सुधारों में जनभागीदारी का महत्व.'' सामाजिक विज्ञान अध्ययन, 21(2), 102-119।
6. त्रिपाठी, विकास। (2012). ई-गवर्नेंस: भारत में चुनौतियां और अवसर. भोपाल: केंद्रीय प्रकाशन।
7. कुमार, अजय। (2010). ''प्रशासनिक सुधारों की सीमाएं और समाधान.'' भारतीय लोक प्रशासन समीक्षा, 35(1), 12-29।
8. सरकार, भारतीय। (2007). राष्ट्रीय प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट. नई दिल्ली: भारत सरकार प्रेस।
9. जोशी, एस. पी. (2005). लोक प्रशासन के आयाम. वाराणसी: संस्कार प्रकाशन।
10. मेहरा, डी. एस. (2000). ''प्रशासनिक सुधार और राजनीति.'' भारतीय प्रशासनिक जर्नल, 30(4), 89-105।

भारतीय पुरातत्व एक परिचय

नवीन

शोधार्थी, इतिहास विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

परिचय

पुरातत्त्व के विषय में विचार करते समय सबसे पहले इसकी परिभाषा के विषय में विचार करना आवश्यक है। पुरातत्त्व शब्द के एक से अधिक अर्थों में प्रयोग का वलन रहा है और अभी भी है। इस प्रसंग में ग्लिन डेनिअल (Glyn Daniel) के इस कथन का उद्धरण अप्रासंगिक नहीं होगा कि विज्ञान, मानविकी, कला आदि शब्दों को सम्बद्ध विषयों के विद्वानों ने ही स्वयं गढ़ा है। विभिन्न अध्येताओं द्वारा निर्मित, विकसित और परिमार्जित ज्ञान की ये विभिन्न शाखाएँ, इन उपर्युक्त शब्दों में से किस के अंतर्गत सम्मिलित की जायें, इस प्रश्न का समाधान बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम इन शब्दों को आज किस प्रकार परिभाषित करते हैं और इसके पूर्व विगत अतीत में किस प्रकार परिभाषित किया है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध का प्रमुख उद्देश्य पुरातत्व का अर्थ को जानने के साथ-साथ इसका विषय क्षेत्र एवं इतिहास में पुरातत्व का प्रभाव किस प्रकार से स्थापित हुआ, यह जानना है।

पुरातत्व का अर्थ

हिन्दी भाषा में 'पुरातत्त्व' शब्द अँग्रेजी भाषा के (Archaeology) शब्द के पर्यायवाची के रूप में व्यवहत होता है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट करना बहुत आवश्यक हो जाता है कि पुरातत्त्व से क्या आशय है? पुराविद् किस प्रकार के कार्यों में संलग्न रहते हैं? पुराविदों के लिए पुरातत्त्व शब्द का एक निश्चित और विशिष्ट अर्थ है। हिन्दी के इस 'पुरातत्त्व' शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञात करने के लिए अँग्रेजी में इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विचार कर लेना असंगत नहीं होगा। आर्किऑलॉजी शब्द यूनानी भाषा के 'आर्किओस' (Archaios) तथा 'लोगोस' (Logos) इन दो शब्दों में मिलकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'पुरातन ज्ञान'। लेकिन आजकल पुरातत्त्व शब्द का उसके शाब्दिक अर्थ से किंचित् भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है।

यूनान और रोम के अतीत की खोज के साथ पाश्चात्य जगत् में पुरातत्त्व का विकास हुआ। पुनर्जागरण काल में यूरोप के विभिन्न देशों के जनमानस में प्राचीन यूनान और रोम की क्लासिकल कृतियों, पुरावशेषों (Antiquities) के अध्ययन तथा खोज की एक सहज जिज्ञासा एवं इच्छा उत्पन्न हुई। राष्ट्रीय भावना ने आहुति में पी का काम किया। परिणामस्वरूप देखते ही देखते प्राचीन यूनान और रोम की आकर्षक, दर्शनीय कलाकृतियों एवं बहुमूल्य पुरानिधियाँ यूरोप के विभिन्न देशों के संग्रहालयों की शोभा बढ़ाने लगीं। इस प्रकार पश्चिमी जगत् में पुरातत्त्व शब्द का प्रयोग आरम्भ में यूनान और रोम के प्राचीन पुरावशेषों तथा पुरानिधियों के अर्थ में ही किया गया था। वस्तुतः संग्रहालयों के पुरावशेषों को सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध ढंग से सजाने-संवारने की प्रक्रिया में ही यूरोप में पुरातत्व का उद्भव एवं विकास हुआ। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, पुरातत्व का अर्थ उत्तरोत्तर व्यापक होता गया। पश्चिमी यूरोपीय देशों में यूनान और रोम के प्राचीन पुरावशेषों का अभाव था इसलिए इन क्षेत्रों में पुरातत्त्व शब्द का प्रयोग प्राकृ-रोमन पुरानिधियों के अर्थ में किया जाने लगा। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं उन्नीसवीं शताब्दी में मिख तथा मेसोपोटामिया के क्षेत्र में निर्जन और वीरान टीलों के नीचे लम्बे समय से दयी पड़ी सभ्यताओं को खोज निकाला गया। भारत एवं पाकिस्तान के क्षेत्रों में

विस्तृत सैन्धव (हड़प्पा) सभ्यता की खोज भी बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में सर्वप्रथम हुई थी। इन समस्त क्षेत्रों के पुरावशेषों को भी पुरातत्त्व की परिधि के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। इस प्रकार धीरे-धीरे पुरातत्त्व का तात्पर्य उन समस्त प्राचीन वस्तुओं से माना जाने लगा, जिनका निर्माता एवं प्रयोक्ता मानव रहा हो।

विभिन्न विद्वानों ने पुरातत्त्व को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। सुप्रसिद्ध पुराविद् गॉर्डन चाइल्ड के अनुसार, 'पुरातत्त्व सुस्पष्ट भौतिक अवशेषों के माध्यम से मानव के क्रिया-कलापों के अध्ययन को कहा जा सकता है।' पुरातत्व के एक अन्य पुरोधा ग्रॉहम क्लॉर्क के अनुसार 'पुरातत्व को मानव-अतीत के इतिहास की रचना करने के लिए पुरावशेषों के क्रमबद्ध एवं तुव्यवस्थित अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।' ग्लिन डेनिअल के अनुसार पुरातत्त्व शब्द का प्रयोग दो प्रमुख अर्थों में किया जा सकता है- 1. मानव अतीत के भौतिक, अवशेषों के अध्ययन, और 2. मानव के प्रागितिहासिक कान से सम्यन्धित पुरावशेषों के अध्ययन के अर्थ में। इनमें से प्रथम परिप्रेक्ष्य में पुरातत्त्व शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक कालों के पुरावशेषों को सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से पुरातत्व के अन्तर्गत पाषाण-कात के उपकरणों से लेकर आजकल के काल-पात्रों तक का समावेश किया जा सकता है। डेनिअल की अन्य परिभाषा के अनुसार पुरातत्त्य की परिधि में लिपि ज्ञान के पूर्व के काल से सम्बन्धित पुरावशेषों मात्र का ही अध्ययन आता है। पुरातत्त्व की यह परिभाषा अपेक्षाकृत संकुचित कही जा सकती है।[1]

उपलब्ध प्रगाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा से लगभग 3,000 वर्षों पूर्व लेखन-कला का सर्वप्रथम विकास सम्भवत: सुमेरिया में हुआ था। इस प्रकार मानय इतिहास का बहुत बड़ा काल लिपि-ज्ञान से रहित और उसके विकास के पूर्व का है। लिपि का विकास हो जाने पर भी आरम्भ में इसको प्रचलन केवल दजला-फरात, नील तथा सिन्धु और हांगको नदियों की उपत्यकाओं के क्षेत्रों तक ही सीमित था। यही नहीं, इन क्षेत्रों में भी लिपि का प्रयोग केवल कतिपय विशिष्ट कार्यों के लिए ही होता था। अत्यन्त सुदीर्घ काल तक शेष विश्व के लोग लेखन-कला से अनभिज्ञ बने रहे। ऐसे लोगों के अस्तित्व की जानकारी एकमात्र पुरातत्त्व के द्वारा ही हो सकती है। कालान्तर में लिपि का अधिकांश क्षेत्रों में प्रसार हो जाने के बावजूद पुरातत्त्व का महत्व कम नहीं होता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में आजकल की भाँति लिपि का विभिन्न कार्यों के लिए व्यापक प्रचलन नहीं था। समाज में केवल गिने-चुने लोग ही साक्षर होते थे। अधिकांश कार्य-व्यापार अलिखित ही घटित होते थे, इसलिए लिपि-ज्ञान वाले कालों के लिए भी पुरातत्त्व की उपयोगिता कम नहीं होती है।

लिपि-ज्ञान वाले कालों के मानव इतिहास के अनेक पक्षों के विषय में जानकारी केवल भौतिक पुरावशेषों के द्वारा ही होती है। इस प्रकार पुरातत्त्व उन विषयों में सबसे महत्वपूर्ण है जो मानव से सम्बन्धित ऐतिहासिक ज्ञान को लिखित दस्तावेजों की सीमा से परे बढ़ाता है।

बीसवीं शताब्दी विश्व में सर्वत्र राजनीतिक एवं आर्थिक ढाँचों में परिवर्तन के लिए उल्लेखनीय रही है। सांस्कृतिक मानदण्ड तथा दृष्टिकोण में भी बड़ी तेजी से बदलाव हुए हैं और हो रहे हैं। इन परिवर्तनों से अन्य विषयों की ही भाँति पुरातत्त्व भी अछूता नहीं रहा है। बदली हुई इन परिस्थितियों के आलोक में पुरातत्त्व की पुरानी परिभाषाओं में भी संशोधन एवं परिवर्द्धन आवश्यक प्रतीत होने लगे हैं। पुरातत्त्व की पारम्परिक परिभाषा के अनुसार इसके अन्तर्गत प्रधानत: मानबकृत भौतिक पुरावशेषों और पुरानिधियों का अध्ययन अतीत के इतिहास को समझने के लिए किया जाता है। चाहे ऐसे पुरावशेष पाषाण काल के पत्थर के बने हुए उपकरण एवं औजार हो, या मिट्टी के बने हुए बर्तनों के टुकड़े हों, या मानव द्वारा बनाई गई झोपड़ी के मात्र स्तम्भ-गर्त (Post-holes) हों, अथवा वास्तुकला तथा तक्षणकला से सम्बन्धित भव्य एवं महान् कलाकृतियों हों। लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि पुरातात्त्विक अध्ययन में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री भी सम्मिलित की जाती है जिसका निर्माता मानव स्वयं नहीं था, उदाहरणार्थ मानव के जीवाश्म (Fossils) एवं मानव-कंकाल (Human Skeletons) और इन्हीं के समकालिक जीव-जन्तुओं तया पादपों के जीवाश्म आदि। इन उपर्युक्त चीजों का मानव-अतीत को समझने के लिये बहुत अधिक महत्त्व है।[2] ऐसी स्थिति में केवल मानवकृत भौतिक पुरावशेषों के द्वारा मानव अतीत के अध्ययन को ही पुरातत्त्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पुरातत्व से तात्पर्य एक ऐसे विषय से है जो एक निश्चित ऐतिहासिक काल-कम (Chronology) एवं पारिस्थितिकी (Ecology) के परिप्रेक्ष्य में एक सुनिश्चित देश (Space) तथा काल (Time) के सन्दर्भ में भीतिक पुरावशेषों के आधार पर मानव के सांस्कृतिक आचरण का अध्ययन करता है।

पुरातत्त्व का अध्ययन क्षेत्र - इतिहास मानव-अतीत के क्रिया-कलापों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। पुरातत्त्व इस व्याख्या में अत्यन्त सार्थक एवं सक्रिय भूषिका अदा करता है। पुरातत्व प्रमुख रूप से भौतिक पुरावशेषों (Phyiscal Remains) के माध्यम से मानव इतिहास की संरचना में संलग्न है। पुरातात्विक साक्ष्यों की सहायता से मानय का सांस्कृतिक इतिहास आसानी से लिखा जा सकता है। एक स्वतंत्र विषय के रूप में पुरातत्व का अस्तित्त्व विवादपूर्ण है। विश्व के अधिकांश विश्वविद्यालयों में पुरातत्व का अध्ययन-अध्यापन इतिहास की एक शाखा के रूप में किया जाता है। भारत में प्राय: प्राचीन इतिहास के अन्तर्गत अध्ययन होता है। भारत के कतिपय विश्वविद्यालयों में एक स्वतन्त्र विषय के रूप में पुरातत्त्व का अध्ययन प्रारम्भ हो गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पुरातत्त्व को नृत्तत्त्व विज्ञान की एक शाखा माना जाता है। पुरातत्त्व को एक स्वतंत्र विषय न मानने बाले विद्वानों के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं - पुरातत्त्व के पास अपने केवल कुछ आँकड़े तथा अध्ययन-सम्बन्धी कुछ विधियों और विचारधाराएँ हैं, लेकिन इनमें से अधिकांश भू-तत्त्व विज्ञान, नृत्तत्त्व विज्ञान तथा इतिहास आदि से ग्रहण की गयी हैं। स्टुअर्ट पिग्गॅट पुरातत्त्व को इतिहास की एक शाखा मात्र मानते हैं। ब्रिटेन की पुरात्तत्त्व सम्बन्धी प्रसिद्ध संस्था प्रिहिस्टरिक सोसाइटी (Preshistoric Society) के सन 1963 ई. के अपने अध्यक्षीय भाषण में पिग्लैंट ने दु:ख प्रकट करते हुए कहा है कि 'बहुत से विद्वान् पुरातत्त्व (अथवा) प्रागितिहास को एक स्वतंत्र एवं गम्भीर बौद्धिक विषय कदापि नहीं मानते हैं। वे इसे मानय-अतीत के इतिहास-निर्माण की मात्र एक ऐसी विधि समझते हैं जिसमें गम्भीर बौद्धिक प्रक्रिया की जटिलताओं की सहजरूप से उपेक्षा की जा सकती है।

कुछ समय पूर्व जब विद्वानों ने पुरातत्त्व को साक्ष्य-संकलन की एक प्रणाली मात्र माना था, उस समय इस कथन का कुछ औचित्य था लेकिन बीसवीं शताब्दी के सत्तर एवं अस्सी के पिछले दो दशकों में पुरातत्व सम्वन्धी साक्ष्य-संकलन करने की विधियों एवं प्रविधियों के विकास होने के साथ ही साथ साक्ष्यों की व्याख्या से सम्वन्धित सिद्धान्तों पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा है। पुरातत्त्व मानयकृत पुराने अवशेषों को खोज निकालने का केवल एक तरीका ही नहीं है, वल्कि गानव की सम्पूर्ण भौतिक उपलब्धियों को एक सही परिप्रेक्ष्य में रखकर अध्ययन की एक जटिल एवं गम्भीर बौद्धिक प्रक्रिया भी है। पुरातत्त्व को एक स्वतंत्र विषय के रूप में विकसित करने में जिन विद्वानों के नामों का स्मरण बद्धा एवं आदर के साथ किया जाता हैय उनमें से मार्टीमर डीलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखतीय है। पुरातत्त्व के सम्बन्ध में अनर्गल विदग्धालाप करने वालों को ह्वीलर ने समुचित उत्तर दिया है। पुरातत्त्व के विषय में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निवारण करते हुए ह्वीलर ने लिखा है कि पुरातत्त्व प्रधानत: तथ्यों की खोज करने वाला विषय है किन्तु अमेरिकन लेखक वाल्टर टाइलर का यह कयन कि पुरातत्त्व मानव के सांस्कृतिक इतिहास के विषय में साक्ष्य संकलन की एक विशिष्ट प्रणाली (विधि) एवं तकनीकों की समूह मात्र हैश, विल्कुल गलत है। मुझे इस प्रकार के मत को कोरी बकवास मात्र कह कर भर्त्सना करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं है.....। यह सच है कि पुराविद् प्रधानरूपेण तथ्यों की खोज करता है किन्तु उसके ये तथ्य मानव-अतीत की भौतिक उपलब्धियों के मूर्त विवरण है। इस रूप में बह मानवतावादी है। संयत परिकल्पना के माध्यम से बह इस भौतिक सामग्री को सजीव बनाता है। इस अर्थ में पुराविद् मानव की खोज में संलग्न है।[3]

मानव के अतीत का सारा अध्ययन तथा अनुसंधान लिखित एवं अलिखित साक्ष्यों की व्याख्या पर आधारित है। इसी व्याख्या के आधार पर कुछ अनुमानपरक निष्कर्ष (Inference) निकाले जा सकते हैं। प्रत्येक साक्ष्य की अपनी संभावनाएँ तथा सीमाएँ होती हैं। पुराविदों द्वारा प्रयुक्त साक्ष्यों की भी अपनी सीमाएँ एवं त्रुटियाँ हैं। पुरातत्त्व अज्ञातनामा मृत व्यक्तियों के विषय में अध्ययन करता है। इसीलिए पुराविदों द्वारा संस्कृतियों के अध्ययन की रूपरेखा में व्यष्टि पर नहीं, बल्कि सारा ध्यान समष्टि पर केन्द्रित होता है। सामाजिक संगठन जैसे किसी काल-विशेष में लोगों के कितनी पल्लियों होती थी, वंश-क्रम मां (मातृसत्तात्मक) से चलता था अथवा पिता (पितृसत्तालक) से चलता था. उस समूह या समुदाय के लोग कौन सी भाषा अथवा भाषाएँ बोलते ये क्या किस प्रकार के नृत्यों एवं गीतों से अपना मनोरंजन करते थे, मरणोपरान्त जीवन के विषय में उनके क्या विचार थे? इन और इन्हीं की तरह के अन्य प्रश्नों का उत्तर मात्र पुरातात्त्यिक साक्ष्यों के आधार पर नहीं दिया जा सकता है। इनके लिए पुराविद् अन्य विषयों की सहायता लेते हैं।

पुरातत्त्व का मानविकी और विज्ञान से सम्बन्ध

पुरातत्व लिपि के आविष्कार से पूर्व के काल के गालव इतिहास के विप जानकारी प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। लिपि ज्ञान से युक्त कालों के मानव इतिहास के अनेक पक्षों के विषय में भी पुरातत्व महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। पुरातस्थ कई विषयों के संकलन एवं व्याख्या के सम्बन्ध में सहायता लेता है। मानविकी (Humanities) तथा प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) के साथ पुरातत्व का घनिष्ट सम्वन्ध स्वीकार किया जा सकता है।

पुरातत्त्व और मानविकी - इतिहास इतिहास तथा पुरातत्त्व दोनों ही विषय नानय के अतीत काल के विषय में अध्ययन करते हैं। इतिहास शब्द का यदि व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाये तो इसके अन्तर्गत मानव के अतीत के विषय में आदिकाल से लेकर कुठ पीढ़ियों पहले तक के कालों के सम्बन्ध में किये जाने वाले सभी प्रकार के अध्ययन एवं अनुसंधान आ जाते हैं। विद्वान् अलग-अलग अर्थों में संकुचित अर्थ ग्रहण करते हैं। सम्भबन्ध में अध्ययन करता है थे। पुरातत्त्व और इतिहास इन दोनों शब्दों का विभित्र प्रयोग करते हैं। पुराविद् इतिहास का अपेक्षाकृत उनके अनुसार इतिहास उन कालों या मानव-समूहों के जो किसी-न-किसी प्रकार की लिपि का प्रयोग करते थे।[4]

इतिहास के सामान्य ज्ञान के बिना पुरातत्त्व का अध्ययन सम्भव नहीं है। इतिहास की रचना मनुष्य द्वारा की गई है। इतिहास का आधार वास्तविक घटनाएँ हैं। वास्तविक घटनाओं के साक्ष्यों की व्याख्या इतिहास कहलाता है। वस्तुनिष्ट ज्ञान होते हुए भी इतिहास के लिखने की शैली अलग-अलग होती है। इसके अलावा इसमें व्यक्तियों एवं परिस्थितियों के घात-प्रतिपात के फलस्वरूप अनेक दूरगामी परिकर्तन घटित हो जाते हैं। इतिहास में नामधारी व्यक्तियों का भी उल्लेख मिलता है जबकि पुरातत्त्व में अज्ञात व्यक्तियों तथा समाजों का मुख्यत: प्रतिपादन मिलता है। पुरातत्त्व एवं इतिहास दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। पुरातत्व को इतिहास की एक शाखा मात्र माना जाये, या स्वतन्त्र विषय, इसमें विवाद है।

भूगोल मानव के सांस्कृतिक विकास पर भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रागैतिहासिक काल में जब मानय के भौतिक और सांस्कृतिक उपादान बहुत कम थे, पृथ्वीतल पर घटित होने वाली भौगोलिक घटनाओं का उसके जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए प्रातिनूतन काल के जलवायु सम्बन्धी तीव्र उतार-चढ़ावों के साथ मानव के विकास का इतिहास अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। वनस्पति, जीवजन्तु तथा पृथ्वीतल पर प्रवाहित होने वाले जन की मात्रा का पुरातात्विक अध्ययन के लिए ज्ञाननिताल आयश्यक है। मानव के सन्निवेश (Settlement Pattern) सम्बन्धी अध्ययन के लिए भौगोलिक ज्ञान नितान्त आवश्यक है। जनसंख्या का वितरण, संसाधनों के दोन आदि के अध्ययन भूगोल का ज्ञान आवश्यक है।

नृतत्त्व विज्ञान - नृतत्त्व विज्ञान में मुख्यत: भानव के भौतिक (शारीरिक बनावट आदि), सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भाषा आदि से सम्बन्धित ऐतिहासिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है। आदिम (Primitive) जातियों के आचार-विचार तथा सांस्कृतिक जीवन के विषय में नृतत्य विज्ञान विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ पुरातत्त्व को प्रदान कर सकता है। आदिम जनजातियों के आर्थिक जीवन में आखेट, कन्द-मूल एवं फल आदि खाद्य पदार्थों के संचय का क्या स्वरूप था? इसके सम्वन्ध में भी नृत्तत्त्वविद् महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान कर सकते हैं। लेकिन पुरातत्त्व सम्बन्धी अध्ययन में ऐसे साक्ष्यों का उपयोग बहुत सूझ-बूझ एवं समझदारी के साथ करना पड़ता है। जिन्हें आजकल आदिम जनजातियों कहा जाता है, उनका भी अपना अत्यन्त लम्बा इतिहास है। ये भी समय के साथ निरन्तर प्रगति करती रही है। यह दूसरी बात है कि उनकी प्रगति की गति बहुत मन्द एवं क्षीण रही है। समकालीन समाजों का भी जन जातियों के जीवन पर प्रभाव पड़ा है। यदि हम जन-जातियों के अध्ययन से प्राप्त सांस्कृतिक साक्ष्यों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकेंगे तो पुरातत्त्व के माध्यम से हम जो तथ्य खोजना चाहते हैं, उनकी पहले से ही परिकल्पना करने की भूल कर बैठेंगे। इसके अलावा नृतत्व विज्ञान तथा पुरातत्व दोनों में कुछ अन्य मूलभूत अन्तर हैं। नृतत्त्व विज्ञान में वर्तमान मानव समुदायों के सम्बन्ध में अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है लेकिन पुरातत्य में विलुप्त (Extinct) मानव-समाज एवं मृत मानवों का अध्ययन किया जाता है। पुराविद् मानव के स्थान पर उसकी कृतियों, उपकरणों और उसके किया-कलापों से सम्बन्धित स्थल अथवा स्थलों का अध्ययन करता है। नृतत्त्व विज्ञान में प्रधान अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है, जबकि पुरातत्व में मनुष्य के बजाय उसकी कृतियों-उपकरणों एवं औजारों तथा पुरावशेषों के अध्ययन को प्रमुखता दी जाती है।[5]

समाज शास्त्र - समाज शास्त्र में मानय समाज की संरचना एवं उसकी विभित्र प्रकार की रीति-प्रथाओं एवं संस्कारों आदि का अध्ययन किया जाता है। पुरातत्त्वविद् के लिए अतीत की सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं जानकारी आयापक है। प्रारम्भिक समाज मातृसतात्मक या मातृ मूलक थ? या पितृभूलक? इसकी जानकारी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त होती है। समाज में स्पष्ट सामाजिक वर्ग कब उदित हुए? परिवार समूह विवाह आदि सामाजिक संस्थाओं का कब और कैसे उदय हुआ है, पुराविद् के लिए इनका ज्ञान बहुत आवश्यक है।

प्राकृतिक विज्ञान - साक्ष्य-संकलन के लिए पुरातत्त्व प्राकृतिक विज्ञानों पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। इनमें से निम्नलिखित प्राकृतिक विज्ञानों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

भू-तत्त्व विज्ञान - भू-तत्त्व विज्ञान का पुरातत्व से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। स्तरीकरण का नियम (Law of Stratigraphy) पुरातत्त्व ने भू-तत्त्व विज्ञान से ही लिया है। संक्षेप में इसका अभिप्राय है कि नवीन सामग्री का निक्षेप (जमाव) पुरातन सामग्री के ठीक ऊपर होता है। कुछ खास आन्तरिक हलचलों के अपवादों को छोड़कर, किसी स्थान के प्रारम्भिक स्तरों से प्राप्त सामग्री, ऊपरी स्तरों से प्राप्त सामग्री से प्राचीनतर होती है। भू-पटल पर प्राकृतिक रूप से निर्मित स्तर विभिन्न भू-भागों में भी समकालिक होते हैं। इसके विपरीत मानव-आवास से निर्मित स्तरों में इस प्रकार की समकालिकता प्राय: नहीं होती है। पुराविदों ने अपने अनुभव से यह सीखा है कि भू-तात्विक जमायों, जैसे नदी वेदिकाओं (River Terraces) एवं अनुभागों (River Sections), झीलों के किनारों तथा शिलाश्रमों में मानवकृत पुरावशेषों के मिलने की अधिक सम्भावना रहती है। भू-तात्विक जमावों के साथ प्राप्त मानवकृत पुरापाषाणिक औजारों एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से उपयोगो अन्य पुरावशेषों की तिथियाँ सौर वर्षों में निश्चित करना आसान नहीं है। इसीलिए इनकी तिथि भू-तात्त्विक कालों में निर्धारित की जाती है।

भौतिक विज्ञान - भौतिक विज्ञान का निरपेक्ष तिथि निर्धारण के कारण पुरातत्व में विशेष योगदान है। इसके अलावा भौतिक विज्ञान रावन्धी विश्लेषण आदि की परिष्कृत विधियों का भी पुराविदों के लिए अत्यधिक महत्व है। पोटेशियन आर्गन तथा रेडियो कार्बन (C-14) तिथि निर्धारण पद्धति ने प्रारम्भिक मानव के तिथि क्रम के विषय में हमारी जानकारी में क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिए हैं। पोटेशियम आर्गन (K40/।40) विधि से कई लाख वर्षों पुराने उन प्राचीन पुरावशेषों का तिथि निर्धारण सम्भव है जी ज्वालामुखी के उद्‌गार से निकले हुए लाबा वाले जमाव में मिले हैं। रेडियो कार्बन विधि से 30-40 हजार वर्षों तक का आसानी से और 70 हजार वर्षो तक केवल कुछ प्रयोगशालाओं द्वारा तिथि निर्धारण सम्भव है। वृक्ष-यलय विधि से ज्ञात तिथियों के साथ जाँच के फलस्वरूप इस सम्वन्ध में रेडियो कार्बन की विसंगतियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया गया है लेकिन इससे रेडियो कार्बन तिथियों की उपयोगिता में कोई खास अन्तर नहीं आया है।

रसायन विज्ञान - पुरावशेषों विशेषकर जीयाश्मों का निर्माण किन रासायनिक परिस्थितियों में होता है, इसकी जानकारी पुराविदों के लिए विशेष उपयोगी है। इसके अलावा उत्खनन से प्राप्त विभिन्न प्रकार की पुरानिधियों के परिरक्षण के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के रसापनों की आवश्यकता होती हैं। पुराविदों के लिए इनका सामान्य ज्ञान आवश्यक है। पुरावशेषों का संरक्षण रसायनों के बिना सम्भव नहीं है।

वनस्पति विज्ञान - वनस्पति विज्ञान ने भी पुरातत्व सम्बन्धी अध्ययन के लिए कुछ अत्यना उपयोगी विधियों का विकास किया है जो अप्रत्यक्ष रूप में जलवायु एवं पुरा-यनाली के विषय में प्रकाश डालती हैं। वनस्पति विज्ञान का इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण योगदान पराग-विश्लेषण (Palynology) को माना जा सकता है। पराग-कणों (Pollens) का प्रसरण पेड़-पौधों में प्रजनन की क्रिया के लिए होता है। ये परागकण प्राय: नष्ट नहीं होते हैं। प्रागैतिहासिक स्थलों में अगर क्षारीय तत्त्य (Alkaline elements) भीजूद नहीं हैं, तो वहीं पर परागकण मिलने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार पुरातात्यिक स्थानों से इकट्ठा किए गये पराग-विश्लेषण के आधार पर प्रागैतिहासिक वनस्पति के प्रमार का ज्ञान प्राम किया जा सकता है। वनस्पति की किस्म की जानकारी होने पर तत्कालीन जलवायु के विषय में अनुमान किया जा सकता है। उत्तर पश्चिम यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में पराग-विश्लेषण सम्बन्धी मफल अध्ययन किये गए हैं। इस विधि का दुनिया के अन्य क्षेत्रों के सम्वन्ध में विशेषकर पुराविदों द्वारा लगातार विकाम किया जा सप इस विधि का सापेक्ष तिथि निर्धारण के लिए भी महत्व है।

वनस्पति विज्ञान की एक अन्य प्रमुख उपयोगी विधि वृक्ष वलय विश्लेषण (Dendrochronology) है जिसका निरपेक्ष तिथि निर्धारण के लिए पुरातत्व में भी उपयोग किया जाता है। रेडियो कार्बन तिथि निर्धारण पद्धति की ही भाँति वृक्ष-वालय-विश्लेषण प्रणाली भी पुरातत्व के लिए बहुत उपयोगी है। सामान्यत: वृक्षों मैं एक वलय का निर्माण एक वर्ष में होता है। इन बलयों (Rings) की गणना के आधार पर काष्ठं के किसी एक टुकड़े की तिथि का निर्धारण किया जा एक है, लेकिन विभित्र जलवायु बाले क्षेत्रों में पाये जाने वाले वृक्षों के वलयों के निर्माण अन्तर मिलता है। वृक्षों की आयु, जलवायु की शुष्कता एवं आर्हता आदि का प्रभाव भी चालयों के निर्माण की प्रक्रिया में पड़ता है, इसलिए बालय-गणना में उपर्युक्त बातों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। लगभग दो हजार वर्षों तक का तिथि-क्रम निर्धारण वृक्ष-वलय विधि के रेखांकनों (Graphs) के माध्यम से किया जा सकता है। नवीनतम अनुसंधानों एवं शोधों से ऐसे संकेत मिले हैं कि रेडियो कार्बन तिथियों (C-14) में संभवत: कुछ संशोधन की आवश्यकता है। रेडियो कार्बन तिथियों की तुलना वृक्ष-यलय तिथियों से करने पर दोनों में अपसारण (Divergence) दिखलायी पहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के केलिफोर्निया प्रान्त में ब्रिसलकोन पाइन और सिकोया जाइगैन्टिया (Sequoia gigantea) आदि कुछ ऐसे वृक्ष हैं, जिनकी

आयु लगभग चार-पाँच हजार वर्ष तक होती है। इन वृक्षों के तने काट कर वृक्ष-बलयों की संगणना की गई और इस प्रकार युक्ष-बलय विधि में उनकी तिथि निर्धारित की गयी। इन्हीं चलयों का जब रेडियो कार्बन विधि से तिथि निर्धारण किया गया तो इन दोनों विधियों की तिथियों में बहुत अधिक अन्तर दृष्टिगोचर हुआ। इस शोध के आधार पर डियो कार्बन तिथियों में संशोधन के लिए सुझाव दिये गए। इस प्रकार वृक्ष-वलय विधि की दोहरी उपयोगिता का पता चला। आरम्भिक मानय का जीवन प्राकृतिक बनस्पति और उस बनस्पति पर निर्भर जीव-जन्तुओं पर आधारित था। इस प्रकार वनस्पति विज्ञान का पुरातत्त्व के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध माना जा सकता है।[6]

प्राणि विज्ञान - प्राणि विज्ञान विशेषकर पुराप्राणि विज्ञान (Palaeontology) का पुरातत्त्व से गहरा सम्बन्ध माना जा सकता है। पुराप्राणिविद् जीवाश्मों के अध्ययन द्वारा काल-कम का निर्धारण करते हैं। हाथी, अश्व तथा मवेशी के जीवाश्मों के मिलने के आधार पर ही अतिनुतनकाल (Pliocene) से प्रातिनूतन काल को (जिसे मानव का काल भी कहा जाता है) अलग किया जाता है। वितुम (Extinct) एवं जीवित पशुओं की किस्मों एवं संख्या के आधार पर भी किसी पुरातात्त्विक स्थल का कालक्रम गोटे तौर पर निर्धारित किया जा सकता है। वनस्पतिवेत्ता की ही भांति पुराप्राणिवेता (Palaeozoologist) अतीत की जलबायु के विषय में पुराविद् को महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। मानव की भोज्य सामग्री के सम्वन्ध में भी कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश प्राणिविज्ञान डाल मकता है।[7]

निष्कर्ष

इस प्रकार पुरातत्व विज्ञान में अतीत के बारे में जानने के लिए सर्वेक्षण, उत्खनन और अंतत: एकत्र किए गए आंकड़ों का विश्लेषण शामिल है। व्यापक दायरे में पुरातन विज्ञान अनुशासनिक शोध जैसे यह मानव विज्ञान, इतिहास, कला इतिहास, क्लासिक्स, मानव जाति विज्ञान, भूगोल भूविज्ञान, भाषा विज्ञान, लाक्षणिकता, भौतिक विज्ञान, सूचना विज्ञान, रसायन विज्ञान, सांख्यिकी, जीवाश्म विज्ञान इत्यादि पर निर्भर करता है।

सन्दर्भ सूची

1. पाण्डेय, जय नारायण, ''पुरातत्त्व विमर्श, प्राच्य विद्या संस्थान", इलाहाबाद, 2017, पृ० 8-29
2. श्रीवास्तव, कृष्ण चन्द, ''प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति", युनाईटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 2014, पृ० 29-32
3. गोयल, श्रीराम, ''प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृति", विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008, पृ० भूमिका
4. दुबे, सीताराम, ''अभिलेखिय अध्ययन की प्रविधि एवं इतिहास लेखन", प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ० 12-40
5. मजूमदार, धीरेन्द्र नाथ, ''प्रागितिहास", पृ० 1
6. श्रीवास्तव, कृष्ण चन्द, ''प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति", युनाईटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 2014, पृ० 29-32
7. गोयल, श्रीराम, ''प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृति", विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008, पृङ्क्ष 10-50